[1994] 1 उम० नि० प० 413

सुप्रीम कोर्ट एडवोकेट्स आन रिकार्ड एसोसिएशन और एक अन्य

बनाम

भारत संघ

एवं

एस० पी० गुप्ता

बनाम

भारत संघ

6 अक्तूबर, 1993

न्या० एस० रत्नवेल पांडियन, न्या० ए० एम० अहमदी, न्या० कुलदीप सिंह, न्या० जे० एस० वर्मा, न्या० एम० एम० पंछी, न्या० योगेश्वर दयाल, न्या० जी० एन० रे, न्या० (डा०) ए० एस० आनन्द और न्या० एस० पी० भरूचा

संविधान, 1950, अनुच्छेद 216—उच्च न्यायालयों का गठन—किसी उच्च न्यायालय में न्यायाधीशों की संख्या का नियत किया जाना—न्यायाधीशों की संख्या का पुर्नविलोकन करने में संबद्ध उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति और भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय को अधिक महत्व दिया जाना चाहिए—उच्च न्यायालय में न्यायाधीशों की संख्या नियत किए जाने की न्याय्यता—उच्च न्यायालय में न्यायाधीशों की संख्या नियत करने के लिए न्यायालय निदेश जारी कर सकता है।

संविधान, 1950, अनुच्छेद 124(2), 217(1) और 222(1)—उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों में न्यायाधीशों की नियुक्ति तथा उच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश का एक न्यायालय से दूसरे उच्च न्यायालय में स्थानांतरण—उच्चतम न्यायालय में नियुक्ति के लिए भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा तथा उच्च न्यायालय में नियुक्ति के लिए संबद्ध उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा प्रस्थापना होनी चाहिए—किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश या मुख्य न्यायमूर्ति के स्थानांतरण के लिए भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय को न केवल प्राथमिकता दी जानी चाहिए बल्कि इसे अवधारक माना जाना चाहिए—स्थानांतरण करने की शक्ति का प्रयोग केवल "लोक हित" में ही किया जाना चाहिए—सरकार उपयुक्त अभ्यर्थियों के नाम मुख्य न्यायमूर्ति के पास नियुक्ति के लिए विचारार्थ भेज सकती है किंतु मुख्य न्यायमूर्ति से विचार-विमर्श के बिना सरकार नियुक्ति की सीधी प्रस्थापना नहीं कर सकती—उच्चतम न्यायालय या किसी उच्च न्यायालय में किसी न्यायाधीश की नियुक्ति भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय से ही की जा सकती है—नियुक्ति के मामले में सांविधानिक कृत्यकारियों की रायों में मतभेद होने की दशा में भारत के मुख्य

1993(10) eILR(PAT) SC 1

न्यायमूर्ति की राय को प्राथमिकता दी जानी चाहिए—भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय से ऐसी राय अभिप्रेत है जो उन्होंने अपने वरिष्ठ सहयोगियों से विचार-विमर्श के पश्चात् दी हो—सांविधानिक कृत्यकारियों में से किसी के साथ परामर्श के अभाव तथा पात्रता की शर्त के अभाव के अतिरिक्त उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों में न्यायाधीशों की नियुक्ति न्याय्य नहीं है—भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के पद पर उच्चतम न्यायालय के वरिष्ठतम न्यायाधीश की नियुक्ति की जानी चाहिए—उच्चतर न्यायपालिका में न्यायाधीशों की नियुक्ति से संबंधित परामर्श लिखित में होना चाहिए—किसी एक सांविधानिक कृत्यकारी द्वारा व्यक्त विसम्मति शेष कृत्यकारियों की जानकारी में लायी जानी आवश्यक है—भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सिफारिश पर किया गया कोई स्थानांतरण दंडात्मक प्रकृति का नहीं होता—स्थानांतरण न्याय्य नहीं है।

संविधान, 1950, अनुच्छेद 124, 217 तथा 74—भारत के राष्ट्रपति द्वारा उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालय के न्यायमूर्तियों की नियुक्ति—मंत्रिपरिषद् की राय के अनुसार राष्ट्रपति द्वारा की गई न्यायमूर्तियों की नियुक्तियां इस शर्त के अध्यधीन हैं कि ऐसी राय अनुच्छेद 124 और 217 के अनुसार दी गई हो।

संविधान, 1950, अनुच्छेद 50 और अनुच्छेद 12—कार्यपालिका और न्यायपालिका का पृथक्करण—न्यायपालिका की स्वतंत्रता—अनुच्छेद 50 में प्रयुक्त शब्द "राज्य" का अर्थ व्यापक है—राज्य के अंतर्गत भारत सरकार, भारत की संसद्, प्रत्येक राज्य की सरकार और उसका विधानमंडल तथा भारत के राज्य क्षेत्र के भीतर या भारत के नियंत्रणाधीन सभी स्थानीय प्राधिकरण आते हैं—कार्यपालिका से न्यायपालिका के पृथक्करण की संकल्पना में अधीनस्थ न्यायपालिका ही सम्मिलित नहीं है बल्कि उच्चतर न्यायपालिका भी सम्मिलित है और न्यायपालिका की स्वतंत्रता इस संकल्पना में समाविष्ट है—नियुक्ति और स्थानांतरण के संबंध में उच्चतर न्यायपालिका की राय को प्राथमिकता दिए जाने से अब न्यायपालिका की स्वतंत्रता की संकल्पना को पूर्ण बल प्राप्त हो गया है।

संविधान, 1950, अनुच्छेद 137 और अनुच्छेद 141—न्यायिक पुनर्विलोकन—निर्णयों या आदेशों का उच्चतम न्यायालय द्वारा पुनर्विलोकन—संविधान या विधि के पूर्वतर मत या निर्णय पर पुनर्विचार किया जाना—सांविधानिक नवीन दृष्टिकोण या विधिक निर्वचन के आधार पर विकसित नूतन विचारों, सिद्धांतों तथा अनुभूति के विकास को दृष्टि में रखते हुए किसी भी पूर्व निर्णय या मत का पुनर्विलोकन किया जा सकता है—यह शक्ति स्पष्ट और प्रत्यक्ष रूप से न्यायिक पुनर्विलोकन या पुनर्विचार की परिधि के अंतर्गत आती है—सांविधानिक मामलों में निर्णीतानुसरण का सिद्धांत कम सुसंगत होता है।

संविधान, 1950, अनुच्छेद 368—संविधान का संशोधन—न्यायपालिका की स्वतंत्रता संविधान का आधारभूत लक्षण है—न्यायपालिका की स्वतंत्रता कम करने वाला कोई भी संविधान संशोधन संविधान के मूलभूत ढांचे में परिवर्तन तुल्य होगा—विधिसम्मत शासन की संकल्पना पूर्ण रूप से वैवेकिक शक्ति को अमान्य नहीं ठहराती तथापि किसी एक व्यष्टि को संपूर्ण शक्तियां प्रदत्त करना सांविधानिक स्कीम के विपरीत है।

भारत के संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन याचियों द्वारा उक्त दो रिट याचिकाएं उच्चतम न्यायालय में फाइल की गई हैं। इन दोनों ही रिट याचिकाओं में उठाए गए प्रश्न उच्चतर न्यायपालिका के कार्यकरण से संबंधित हैं जिनका प्राथमिक उद्देश्य न्यायपालिका को (क) उच्चतर न्यायपालिका में न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले में और साथ ही उसकी बनावट संबंधी संरचना में कार्यपालिका को अत्यधिक प्रधानता दिए जाने के कारण उत्पन्न घुटन से मुक्ति एवं छुटकारा दिलाने, (ख) उच्चतर न्यायपालिका से संबंधित सभी मामलों में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय को यदि सर्वोपरिता नहीं तो प्रधानता की स्थिति प्राप्त होना, (ग) न्यायपालिका की स्वतंत्रता, गरिमा और अखण्डता को बनाए रखना और (घ) कार्यपालिका की संकीर्णताओं की कठोरता से न्यायपालिका को बचाना है। इन रिट याचिकाओं में ईप्सित अनुतोष उच्चतम न्यायालय और देश के विभिन्न उच्च न्यायालयों में न्यायाधीशों के रिक्त स्थानों को भरने और मुख्य प्रार्थना के संबंध में अनुषंगी आदेश/निदेश देने के लिए प्रत्यर्थी-भारत संघ को परमादेश जारी करने के लिए है।

सुभाष शर्मा **बनाम** भारत संघ वाले एक लोक हित मुकदमे में विद्वान् न्यायाधीशों द्वारा यह महसूस किया गया था कि उच्चतर सोपान पर न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की प्रास्थिति (हैसियत) पर पूर्व में एस० पी० गुप्ता **बनाम** भारत संघ नामक मामले में दिए गए विनिश्चयाधार की सत्यता पर बृहत्तर न्यायपीठ द्वारा विचार किए जाने की आवश्यकता है। अत: उक्त आदेश के आधार पर निम्नलिखित दो प्रश्न विचारार्थ उद्भूत हुए; (1) क्या उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों में न्यायाधीशों की नियुक्ति के बारे में और साथ ही उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के स्थानान्तरण के बारे में भी भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय को प्रधानता दी जानी चाहिए और (2) क्या उच्च न्यायालयों में न्यायाधीशों की संख्या नियत किए जाने के मामले सहित अन्य विषय न्याय्य हैं। एस० पी० गुप्ता वाले मामले में विख्यात न्यायाधीशों के पूर्व में सुनाए गए ऐतिहासिक निर्णय का पूर्ण सम्मान करते हुए और पहले ही व्यक्त किए जा चुके मतों को अस्थिर बनाने की किसी भी पूर्व कल्पित धारणा से नहीं बल्कि कतिपय चुनौतियों का सामना करने के लिए एस० पी० गुप्ता वाले मामले में आधारभूत विवाद्यकों पर एक बार पुन: इस निर्णय में विचार करने का प्रयास किया गया है। इसी संदर्भ में जिन आसन्न किन्तु अपरिहार्य महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार किया जाना अपेक्षित है, वे इस बारे में हैं कि वे कौन सी ऐसी अनिवार्य दशाएं और परिस्थितियां हैं जिनके अधीन न्यायालयों द्वारा यथास्थिति संविधान या विधि के निर्वचन पर व्यक्त किए जा चुके अपने पूर्वतर मतों एवं निर्णयों पर पुन: विचार करने का काम न्यायोचित होगा और ऐसा कठोर मार्ग अपनाए जाने के लिए कौन से मार्गदर्शक सिद्धांत हैं और उनका क्या विधिक प्रभाव पड़ेगा। इन रिट याचिकाओं में उच्चतम न्यायालय से किसी विनिर्दिष्ट मामले पर विचार करने की नहीं बल्कि केवल महत्वपूर्ण सिद्धांतों और अन्तर्वलित साधारण विवादास्पद समस्याओं को मोटे तौर पर अधिकथित करने की अपेक्षा की गई है। निर्देशित प्रश्नों का उत्तर देते हुए रिट याचिकाओं का निपटारा किया गया।

अभिनिर्धारित—व्यापक हित में उच्चतर न्यायालयों का यह उत्तरदायित्व हो जाता है कि वह एक नई विधिक संकल्पना की उचित नैदानिक अन्तर्दृष्टि के आधार पर संविधान की

शक्ति और संभाव्य क्षमता को ढूंढे और ऐसा कार्य करे जिससे इस लचीले लिखत (संविधान) से उसके उन अनिवार्य गुणों और आधारभूत सिद्धांतों का, जो भारतीय लोकतंत्र की जड़ में निहित हैं, बलिदान किए बिना इस बृहत्त राष्ट्र के लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। मुख्य उद्देश्य यह होना चाहिए कि संविधान के उन रहस्यों और उलझनों (गूढ़ प्रश्नों) को जो उसमें परिव्याप्त और उसे घेरे हुए हैं, खोलते या सुलझाते हुए और स्पष्ट रूप से सांविधानिक पद्धति तथा स्कीम के कार्यकरण और प्रवर्तन की वास्तविकता पर केन्द्रित करते हुए संविधान को सहज रूप से बोधगम्य बनाया जाए जिससे कि निर्णय दिए जाने की पद्धति अधिकाधिक प्रभावपूर्ण और लोचदार बनाई जा सके। यद्यपि निर्णयों का बार-बार उलटा जाना विधि को अनिश्चित और पश्चात्वर्ती निर्णयों को अपूर्वानुमये (अप्रत्याशित) बनाएगा और यह न्यायालय भी आम तौर पर उन विवाद्यकों को, जो तय और समाप्त हो चुके हैं फिर से खोलना या उन पर पुनर्विचार करना नहीं चाहेगा, तथापि, अनेकों निर्णयों से यह बात अब तक सुस्थिर हो चुकी है कि यदि विवशकारी परिस्थितियों में ऐसा करना उचित हो तो अपने पूर्वतर निर्णयों का पुनर्विलोकन करना या उन पर पुनर्विचार करना और यहां तक कि किसी संदेहात्मक निर्णय को भी यदि उसमें गलत रूप से अभिनिर्धारित किया गया है तो उसे या तो पूर्णतः या फिर भागतः उलट देना निश्चित रूप से उच्चतर न्यायालयों की अधिकारिता और अनिवार्य कर्तव्य के अन्तर्गत आता है और कोई भी निर्णय सांविधानिक नवीन दृष्टिकोण या विधिक निर्वचन के आधार पर और समय बीतने के साथ-साथ विकसित नूतन विचारों, सिद्धांतों और अनुभूति के विकास को दृष्टि में रखते हुए न्यायिक पुनर्विलोकन या पुनर्विचार करने से पूरी तरह मुक्त नहीं है। यह शक्ति स्पष्ट और प्रत्यक्ष रूप से न्यायिक पुनर्विलोकन या पुनर्विचार की परिधि के अन्तर्गत आती है। (पैरा 16)

यह सर्वमान्य बात है जबकि न्यायालय विधायिका या कार्यपालिका द्वारा शक्ति ग्रहण किए जाने के विरुद्ध एक अभेद्य दुर्ग होते हैं और यह कि न्यायालयों की बोधगम्यता तथा जनता द्वारा उनके प्राधिकार के प्रति आदर उन न्याय निर्णयनकारी आदेशों से अत्यधिक प्रभावित हुए हैं जो पीठासीन निष्पक्ष न्यायाधीशों ने किसी भय या पक्षपात या प्रेम या दुर्भाव के बिना दिए हैं, तब क्या यह बात सही रूप से कही जा सकती है कि केवल सेवा संबंधी शर्तों की बाबत ही अपरिवर्तनीय अधिकारों और विशेषाधिकारों का आश्वासन न्यायपालिका की स्वतन्त्रता को प्राप्त करने और उसका ह्रास होने से रोकने के लिए पर्याप्त हैं और यह कि अन्य कोई शर्त अपेक्षित नहीं है ? इस विवादास्पद प्रश्न के सम्बन्ध से उत्तर नकारात्मक होगा। निस्संदेह यह सही है कि आधारभूत सेवा संबंधी शर्तों के संबंध में सांविधानिक आश्वासन न्यायपालिका की स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिए पूर्णतः आवश्यक है किन्तु न्यायालय की राय में यह एकमात्र उद्देश्य नहीं है। इससे भी अधिक एक दूसरी आधारभूत और अवियोज्य महत्वपूर्ण शर्त न्यायपालिका की स्वतंत्रता को यथा समय प्राप्त करने के लिए पूर्णतः आवश्यक है, यह उस पद्धति से संबंधित है जो उच्चतर न्यायपालिका (उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय) के लिए किसी उचित और उपयुक्त अभ्यर्थी को प्रायोजित करने, चयन करने और नियुक्त करने के मामले में अपनाई जाती है। यह पवित्र शर्त एक ऐसा अत्यधिक महत्वपूर्ण घटक है जो न्यायपालिका की पूर्ण स्वतन्त्रता सुनिश्चित करने में अन्य सांविधानिकतः गारण्टीकृत प्रत्येक सेवा संबंधी शर्तों के साथ-साथ चलता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि किसी स्वस्थ स्वतन्त्र न्यायपालिका को प्रथमतः न्यायाधीशों की

नियुक्ति की पद्धति के बारे में निरन्तर बढ़ने वाली महत्वपूर्ण शर्त की पूर्ति द्वारा सुनिश्चित किया गया है और द्वितीयत: इसे अधिकारों, विशेषाधिकारों और अन्य सेवा संबंधी शर्तों की पूर्ति द्वारा संरक्षण प्रदान किया गया है । अत: पारिणामिक अपरिहार्य निष्कर्ष यह निकलता है कि न्यायाधीशों के चयन और नियुक्ति की पद्धति और युक्ति से लेकर सभी अपेक्षित शर्तों की निष्पत्ति या पूर्णता से ही न्यायपालिका की स्वतन्त्रता प्राप्त होगी और उसकी रक्षा होगी । अन्यथा न केवल न्यायपालिका की विश्वसनीयता ही डगमगा जाएगी और गिर जाएगी अपितु संपूर्ण न्यायिक प्रणाली ही निर्मूल सिद्ध हो जाएगी जिसके परिणामस्वरूप लोकतंत्र का उचित कार्यकरण ही गतिहीन हो सकता है और इस संजोई गई संकल्पना का दर्शन एक वास्तविकता नहीं बल्कि केवल एक भ्रम रह जाएगा । (पैरा 45, 52 और 53)

संविधान एक ज्योतिर्मय और स्पंदनशील रचना है और जिसमें प्रभुत्व संपन्न समाजवादी, पंथनिरपेक्ष, लोकतंत्रात्मक गणराज्य शीर्षक के तले समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय प्राप्त कराने के उसके श्रेष्ठ उद्देश्यों की निरन्तर महक फैल रही है । सभी नागरिकों को उनके धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान और सामाजिक-आर्थिक असमानताओं और अलाभ का विचार किए बिना समान रूप से उक्त संजोए गए उद्देश्यों को सुनिश्चित करने के लिए और विधि शासन का सिद्धांत सुनिश्चित करने के लिए संविधान में न्यायपालिका से अत्यधिक आशाएं रखते हुए उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों पर भारी और गुरुतर उत्तरदायित्व अधिरोपित किया गया है, उन्हें अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका सौंपी गई है तथा व्यापक आयाम वाली अधिकारिता प्रदान की गई है । यही बात 'संविधान के संपूर्ण ढांचे में सर्वत्र कही गई है ।' दूसरे शब्दों में संविधान का यह महत्वपूर्ण सिद्धांत है कि स्वतंत्र न्यायपालिका हमारे जैसे एक स्वतंत्र समाज का अत्यधिक अनिवार्य गुण है । (पैरा 56 और 57)

सभी चुनौतियों का मुकाबला करने हेतु स्वतंत्र न्यायपालिका बनाए रखने के लिए सभी प्राधिकारियों के समक्ष न झुकने और संविधान के आदेशों की मर्यादा को सदैव बनाए रखने के लिए, जिससे कि न्यायिक अखण्डता की सुरक्षा की जा सके, न्यायपालिका में प्रोन्नत किए जाने वाले व्यक्ति का स्वतन्त्रता के लिए अत्यधिक ख्याति प्राप्त, किसी भी पूर्व हित, निष्ठा और बाध्यता के प्रति और अप्रतिबद्ध और सभी परिस्थितियों या आकस्मिक स्थितियों में किसी भी कीमत को चुकाने के लिए, भार वहन करने और किसी भी कठिनाई का सामना करने के लिए तैयार होना चाहिए और सदैव संविधान और 'विधि शासन' के सिद्धांतों से ही बंधे रहना चाहिए । यदि नियुक्त किए गए व्यक्ति पर अपनी नियुक्ति करने वाले प्राधिकारी के आदेशों के प्रति घुटने टेकते हुए निर्णयों के तर्कों को बदलने के प्रयोजन के लिए कोई विशेष छाप लगी हुई है तो न्यायपालिका की स्वतन्त्रता को गारण्टीकृत पदावधि, अधिकार और विशेषाधिकार, रक्षोपायों, सेवा शर्तें और उन्मुक्ति के होते हुए भी प्राप्त नहीं किया जा सकता । यद्यपि ऐसा कोई नया सिद्धांत प्रतिपादित करना अतार्किक होगा कि केन्द्र बिन्दु न्यायाधीश नहीं अपितु न्यायपालिका है, विशेष रूप से तब जब एक ही सांस में यह बात स्वीकार कर ली जाए कि किसी अनुपयुक्त व्यक्ति की त्रुटिपूर्ण नियुक्ति से न्याय के प्रशासन में समुदाय के विश्वास को अपूरणीय हानि पहुंचना और लोक हित को गंभीर क्षति पहुंचना अनिवार्य है और यह कि न्यायपालिका की स्वतन्त्रता कायम रखने की आवश्यकता

उचित और प्रभावी न्याय प्रशासन सुनिश्चित करना है। इसके अतिक्ति यदि इस सर्वोत्कृष्ट सिद्धांत या संकल्पना को कोई क्षति पहुंचती है या स्वयं उसके कार्य से ही कोई हानि पहुंचती है तो इससे इस अमूल्य न्यायिक स्वतन्त्रता का मूल्य कम हो जाएगा और वह आधारहीन हो जाएगा। (पैरा 68)

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के महत्व को महसूस करते हुए और उस सिद्धांत को पूर्ण रूप से लागू करने के लिए हमारे संविधान के निर्माताओं ने कार्यपालिका से न्यायपालिका के पृथक्करण की आवश्यकता महसूस की और उन्होंने एक लम्बी चर्चा के पश्चात् संविधान में अनुच्छेद 50 अन्तःस्थापित किया क्योंकि हमारी सांविधानिक स्कीम में न्यायपालिका को जनता के लिए सामाजिक-आर्थिक न्याय सुनिश्चित करने में एक निश्चयात्मक और सक्रिय भूमिका निभानी है। अनुच्छेद 12 में "राज्य" पद की परिभाषा, जहां कभी भी उक्त शब्द का प्रयोग किया गया है, संपूर्ण भाग 4 में लागू होगी। अतः इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अनुच्छेद 50 में प्रयुक्त "राज्य" पद का अर्थ व्यापी भाव में लगाया जाएगा जिसके अन्तर्गत भारत सरकार, भारत की संसद् और प्रत्येक राज्य की सरकार और उसका विधान-मण्डल तथा भारत के राज्यक्षेत्र के भीतर या भारत सरकार के नियंत्रणाधीन सभी स्थानीय या अन्य प्राधिकरण आते हैं। जब कार्यपालिका से न्यायपालिका के पृथक्करण की संकल्पना का मूल्यांकन किया जाता है, तब इस संकल्पना को उच्चतर न्यायपालिका की पूरी तरह उपेक्षा करते हुए केवल अधीनस्थ न्यायपालिका तक ही सीमित नहीं रखा जा सकता। यदि ऐसा संकीर्ण और अति सिद्धांतवादी या आनुमानिक दृष्टिकोण अपनाया जाता है और उसका कोई संकुचित अर्थान्वियन किया जाता है तो इससे यह विलक्षण स्थिति पैदा होगी कि संविधान में कार्यपालिका से उच्चतर न्यायपालिका के पृथक्करण पर कहीं भी जोर नहीं दिया जा सकेगा। निस्संदेह इस न्यायालय के प्रतिष्ठित न्यायाधीशों ने, विभिन्न विनिश्चयों में उच्चतर या वरिष्ठ न्यायपालिका की स्वतन्त्रता की संकल्पना पर चर्चा करते समय अनुच्छेद 50 के प्रति निर्देश किया है और तद्द्वारा न्यायपालिका की स्वतंत्रता की रक्षा करने में अनुच्छेद 50 में अन्तर्निहित आधारभूत सिद्धांत और मूल्यों का उल्लेख किया है और उस पर जोर दिया है। (पैरा 87 और 93)

एक लोकतंत्रात्मक राज्य में राज्य की सर्वोच्च शक्ति तीन प्रमुख अंगों अर्थात् सांविधानिक कृत्यकारियों अर्थात् विधानमण्डल, कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच बंटी होती हैं। प्रत्येक कृत्यकारी (अंग) अपने आवंटित क्षेत्र में स्वतंत्र और सर्वोच्च होता है और कोई भी दूसरे से वरिष्ठ नहीं होता। न्याय का प्रशासन न्यायालयों के माध्यम से किया जाता है और ऐसा प्रशासन न्याय के सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक पहलुओं से संबंधित होगा, जैसा कि संविधान की उद्देशिका में वर्णित किया गया है और इसलिए संविधान के आदेशों को पूरा करने के लिए सांविधानिक प्रणाली में न्यायपालिका सर्वप्रमुख और सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग बन जाती है। न्यायपालिका को सौंपा गया सांविधानिक कार्य किसी भी प्रकार से दूसरे कृत्यकारियों (अंगों), अर्थात् विधानमण्डल और कार्यपालिका से कम नहीं है। वास्तव में सांविधानिक संदेश को कार्यान्वित करने में न्यायपालिका की भूमिका प्रमुख है और दूसरे सांविधानिक कृत्यकारियों (अंगों) द्वारा संविधान के बाहर जाकर अत्यधिक प्राधिकार का प्रयोग किए जाने पर नियंत्रण रखते हुए लोकतन्त्र के कार्यकरण के ऊपर

1993(10) eILR(PAT) SC 1

संविधान के आदेश, निर्देश और अनिवार्य समादेशों के अनुसार निगरानी रखने का उसका उत्तरदायित्व है। इस अर्थ में न्यायपालिका को एक सजग प्रहरी के रूप में कार्य करना होता हैं। यह खेद का विषय है कि उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय में नियुक्ति करने के लिए अभ्यर्थियों के चयन के आरम्भिक प्रक्रम से लेकर न्यायिक प्रशासन से संबंधित कुछ ऐसी पेचीदी समस्याएं हैं जिनसे वर्तमान विवाद पैदा हुआ है। अतः यह अनिवार्य बन गया है कि इस स्थिति को सुधारने या ठीक करने के लिए प्रभावी कदम उठाए जाएं। इन समस्याओं पर ध्यान देने के पश्चात् और उससे उद्भूत होने वाले सर्वनाशी परिणामों को महसूस करते हुए हम न्याय प्रणाली को और अधिक प्रभावी बनाने और समाज की समकालीन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उसे लोचदार बनाने के लिए शक्तिप्रद समाधान प्राप्त करने की क्षीण आशा में और जैसा कि अनुभव से दर्शित होता है यह आशा कभी भी पूरी नहीं हुई, अन्य सांविधानिक कृत्यकारियों (अंगों), विशेष रूप से कार्यपालिका की ओर निहारते हुए मात्र एक मूकदर्शक या चिरकालिक पक्का आशावादी नहीं बने रह सकते। अतः ऐसी कटु स्थिति का सामना करने पर इन समस्याओं को संविधान के शब्द और भाव की दृष्टि में न्यायपालिका के कार्यकरण से संबंधित संविधान के विभिन्न उपबंधों का निर्वचन करते हुए सांविधानिक ढांचे के भीतर रह कर ही सुलझाना अनिवार्य हो गया है। अतः इस दुर्भर काम को शुरू करने से पहले न्यायालय को यह बात स्पष्ट करनी चाहिए कि यह न्यायपालिका को शक्ति संघर्ष में किसी सामाजिक कुलीनतंत्र अथवा अपने ही न्यायिक साम्राज्यवाद में बन्द करने या न्यायिक सर्वोच्चता को अन्य सभी सांविधानिक कृत्यकारियों के ऊपर सिद्ध करने के मिथ्या अहंकार के लिए कोई प्रयास नहीं है बल्कि यह न्याय प्रणाली में न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय को प्रधानता दिए जाने का उसका विधिसम्मत अधिकार दिलाना है। निर्विवाद रूप से भारत का मुख्य न्यायमूर्ति न्यायिक प्रणाली के शीर्षस्थान पर होने के नाते न्यायपालिका का प्रमुख संरक्षक होता है जिससे आरम्भ से लेकर अन्त तक न्यायिक प्रणाली की व्यावहारिक समस्याओं में उसकी गहन अन्तर्दृष्टि दर्शित होती है। वास्तव में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को संविधान में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त है। (पैरा 95, 96, 97 और 98)

संविधान के अनुच्छेद 124(2) और 217(1) के अधीन अपेक्षित किए गए अनुसार न्यायपालिका को दी गई उक्त महत्वपूर्ण भूमिका और भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की बाध्यता की पृष्ठभूमि में न्यायालय उन विभिन्न प्रश्नों की परीक्षा करेगा जो गहन रूप से विचार-विमर्श किए जाने के लिए यहां उद्भूत हुए हैं। संविधान के भाग 5 के अध्याय 4 में 'संघ न्यायपालिका' शीर्षक के अधीन अनुच्छेद 124 से लेकर 147 तक का समूह उच्चतम न्यायालय की स्थापना और गठन, न्यायाधीशों की नियुक्ति और उनकी शक्तियों, अधिकारों, अधिकारिता और सेवा संबंधी शर्तों आदि के बारे में है, जब कि भाग 6 के अध्याय 5 में 'राज्य के उच्च न्यायालय' शीर्षक के अधीन अनुच्छेद 214 से लेकर 231 में उच्च न्यायालयों के गठन, उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति और पद की शर्तें, एक उच्च न्यायालय से दूसरे उच्च न्यायालय में स्थानान्तरण सहित उनकी शक्तियों, अधिकार, अधिकारिता और सेवा संबंधी शर्तों के बारे में उल्लेख है। उच्चतम न्यायालय या किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति करने की शक्ति क्रमशः अनुच्छेद 124(2) और 217(1) के अधीन राष्ट्रपति में निहित है। राष्ट्रपति के लिए यह बाध्यकर है कि वह भारत के मुख्य न्यायमूर्ति

को छोड़ कर उच्चतम न्यायालय के किसी न्यायाधीश की नियुक्ति करने से पहले भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के साथ परामर्श करे। यदि राष्ट्रपति, स्वविवेकानुसार, उस प्रयोजन के लिए 'उच्चतम न्यायालय और राज्य के उच्च न्यायालयों के ऐसे न्यायाधीशों से परामर्श करना आवश्यक समझता है तो वह ऐसा कर सकता है जैसा कि अनुच्छेद 124(2) में अनुध्यात किया गया है। भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की नियुक्ति के लिए कोई भी विनिर्दिष्ट उपबंध नहीं हैं। इसी प्रकार उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति करने से पहले राष्ट्रपति के के लिए भारत के मुख्य न्यायमूर्ति, राज्य सरकार और उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति के साथ (मुख्य न्यायमूर्ति से भिन्न किसी न्यायाधीश की नियुक्ति की दशा में) परामर्श करना आबद्धकर है, जिस पर ऐसा चुना गया व्यक्ति अनुच्छेद 217(1) के अधीन यथा अपेक्षित रूप में नियुक्त किया जाएगा। चूंकि 'न्यायाधीश' शब्द के अंतर्गत मुख्य न्यायमूर्ति भी आता है इसलिए उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति के लिए विहित प्रक्रिया का यथास्थिति अनुच्छेद 124(2) और 217(1) के अनुपालन में अनुसरण किया जाएगा। (पैरा 99, 105 और 106)

हमारे संविधान के उद्‌भवकाल से ही राष्ट्रपति "अपने हस्ताक्षर और मुद्रा से अधिपत्र द्वारा" किसी न्यायाधीश की नियुक्ति करते समय उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के मामले में अनुच्छेद 74 के अधीन मंत्रि परिषद् की सहायता और सलाह के आधार पर कार्य करते हैं। किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति के मामले में राज्य के मंत्रि परिषद् की राय को भी, जिसकी सहायता और सलाह के आधार पर राज्यपाल अपनी राय व्यक्त करते हैं, अनुच्छेद 74 के अधीन केन्द्रीय सरकार के मंत्रि परिषद् की सहायता और सलाह के अतिरिक्त विचार में लिया जाएगा। गुप्ता वाले मामले में व्यक्त किए गए उक्त विचार, जिसमें न्यायालय द्वारा भारत के मुख्य न्यायमूर्ति सहित सांविधानिक कृत्यकारियों (अंगों) की राय की उपेक्षा करते हुए भी केन्द्रीय सरकार के अनन्य विवेकाधिकार के अधीन रहते हुए उच्चतर न्यायपालिका के न्यायाधीशों के चयन और नियुक्ति के मौजूदा वर्तमान ढंग का अनुमोदन किया जा चुका है और नियुक्ति के वर्तमान ढंग और पद्धति में परिवर्तन के लिए लम्बे समय से महसूस की जाती रही आवश्यकता ही इन वर्तमान रिट याचिकाओं को फाइल करने का आसन्न कारण प्रतीत होता है। (पैरा 111 और 114)

यह स्पष्ट है कि अनुच्छेद 217(1) के अधीन राष्ट्रपति द्वारा 'परामर्श' किए जाने की प्रक्रिया आज्ञापक है और इस खण्ड में किसी भी अन्य प्राधिकारी के साथ किसी वैवेकिक परामर्श के बारे में नहीं कहा गया है जैसा कि उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति की दशा में अनुच्छेद 124 के खण्ड (2) में अनुध्यात किया गया है। शब्द 'परामर्श' सशक्त और अर्थपूर्ण है जिसकी अपरिभाषित स्वर-शैली है और उसमें सभी प्रश्नों तथा भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय को प्रधानता दिए जाने की कसौटी सहित सभी विभिन्न कसौटियों का उत्तर दिया गया है। इस कसौटी से अनेक कठिन प्रश्न उठते हैं जिनमें से एक यह है कि जिस संदर्भ में 'परामर्श' पद का संविधान में प्रयोग किया गया है उसके अनुसार 'परामर्श' पद का क्या अर्थ है। जैसा कि उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति की दशा में है, कुछ और ऐसे सांविधानिक उपबंध हैं जिनमें 'परामर्श' शब्द का प्रयोग किया गया है। वे उपबंध इस प्रकार हैं— अनुच्छेद 148, अनुच्छेद 222, अनुच्छेद 320

और अनुच्छेद 338। उक्त सभी अनुच्छेदों में परामर्श का स्वरूप आज्ञापक है। (पैरा 126 और 127)

अनुच्छेद 124 के खंड (2) में 'परामर्श करने के पश्चात्' पद का प्रयोग किया गया है जबकि उक्त खंड के परंतुक में 'सदैव परामर्श किया जाएगा' पद का प्रयोग किया गया है। अनुच्छेद 217(1) में 'परामर्श करने के पश्चात्' पद का प्रयोग किया गया है। 'परामर्श' शब्द का जब विधिक अर्थ में प्रयोग किया जाता है तब इस विषय की कई अवसरों पर इस न्यायालय और साथ ही उच्च न्यायालयों तथा विदेशी न्यायालयों में न्यायिक संवीक्षा की गई है। (पैरा 136 और 137)

न्यायमूर्ति कुलदीप सिंह के मतानुसार—

1. भारत के संविधान के अनुच्छेद 124(2) और 217(1) कार्यपालिका और न्यायपालिका के सर्वोच्च कृत्यकारियों पर सांविधानिक उत्तरदायित्व को पूरा करने अर्थात् उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों में एक दूसरे से परामर्श करने के पश्चात् सामूहिक रूप से न्यायाधीशों की नियुक्ति करने के उत्तरदायित्व को पूरा करने का आदेश अधिरोपित करते हैं। परामर्श की प्रक्रिया में असहमति की दशा से न्यायपालिका के दृष्टिकोण को प्रमुखता देनी होगी।

2. एस० पी० गुप्ता के मामले में (उपरोक्त) बहुमत का विचार जो वरिष्ठ न्यायालयों में न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले में केन्द्र सरकार को प्रमुखता देता है, सही विधि अधिकथित नहीं करता और उस सीमा तक उसे उलटा जाता है।

3. अनुच्छेद 124(2) और 217(7) में "राष्ट्रपति" अभिव्यक्ति को अनुच्छेद 74(1) के साथ पढ़ने पर यह स्पष्ट होता है कि राष्ट्रपति को उसके कृत्यों का प्रयोग मंत्रिपरिषद् जिसका प्रधान प्रधानमंत्री होता है, की सलाह पर करना होता है। प्रधानमंत्री और मंत्रिपरिषद् भारत के संविधान के अनुच्छेद 124(2) और 217(1) का इस न्यायालय द्वारा किए गए निर्वचन के अनुसार सलाह देने के लिए बाध्य है।

4. अनुच्छेद 124(2) के अधीन परामर्श की प्रक्रिया का अभिप्राय न्यायपालिका के प्रमुख के रूप में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श से है। भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय उसकी निजी राय नहीं होती बल्कि न्यायपालिका के सर्वोच्च न्यायालय के सभी न्यायाधीशों की सामूहिक रूप से राय मानी जाती है। ऐसी सामूहिकता के अंतर्गत भारत के मुख्य न्यायमूर्ति और उच्चतम न्यायालय के दो ज्येष्ठतम न्यायाधीश और उच्चतम न्यायालय का वह ज्येष्ठ न्यायाधीश आता है जो उसी राज्य से आया है।

5. अनुच्छेद 217 के अधीन नियुक्ति की प्रक्रिया उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति की सिफारिश के साथ आरंभ होती है। उसे उक्त उच्च न्यायालय के दो ज्येष्ठतम न्यायाधीशों के विचारों को जान लेना चाहिए और उन विचारों को अपनी सिफारिश में समाविष्ट करना चाहिए। भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को उक्त सिफारिश की परीक्षा करते समय उच्चतम न्यायालय के दो ज्येष्ठतम न्यायाधीशों के विचारों को विचार में लेना चाहिए और ऐसे ज्येष्ठ

न्यायाधीश की राय को भी विचार में लेना चाहिए जो संबद्ध उच्च न्यायालय के कार्यों की जानकारी रखता है ।

6. ऊपर उल्लिखित रीति में अग्रेषित भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय प्रमुख होगी । राष्ट्रपति द्वारा संविधान के अनुच्छेद 124(4) और 217(1) के अधीन कोई भी नियुक्ति भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय के अनुरूप ही की जा सकती है ।

7. भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की नियुक्ति "योग्यता के आधार पर चयन" के आधार पर की जाएगी और "अकेली ज्येष्ठता" का नियम लागू नहीं होगा ।

8. उच्चतम न्यायालय में नियुक्ति "योग्यता के आधार पर चयन" द्वारा की जाएगी । अपने संबंधित उच्च न्यायालयों में न्यायाधीशों के बीच पारस्परिक ज्येष्ठता को उस समय ध्यान में रखना होगा जब उन न्यायाधीशों को उच्चतम न्यायालय में लाने के लिए उन पर विचार किया जा रहा हो । अखिल भारत स्तर पर संयुक्त ज्येष्ठता उक्त विचार की प्रक्रिया में सुसंगत होगी । योग्यता का महत्वपूर्ण तत्व उसी उच्च न्यायालय से किसी कनिष्ठ न्यायाधीश की उन्नति को न्यायोचित ठहराएगा ।

9. कार्यपालिका न्यायपालिका की ऐसी सिफारिश पर उस व्यक्ति की नियुक्ति करने के लिए बाध्य नहीं होगी । यदि उक्त सिफारिश अभिलेख पर उपलभ्य ऐसी सामग्री के आधार पर जो भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के समक्ष रखी गई थी, सुदृढ़ कारणों से अनुपयुक्त पाई जाती है । तथापि, यदि सम्यक् पुनः विचार करने के पश्चात् वही सिफारिश भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा अन्य न्यायिक परामर्शियों की सर्वसम्मति पर पुनः की जाती है तो कार्यपालिका उस सिफारिश द्वारा बाध्य होगी ।

10. किसी मुख्य न्यायमूर्ति/न्यायाधीश को लोकहित में एक उच्च न्यायालय से दूसरे उच्च न्यायालय में अनुच्छेद 222 के अधीन अंतरित किया जा सकेगा । किसी अंतरित मुख्य न्यायमूर्ति/न्यायाधीश को पुनः अंतरित किया जा सकता है और वह शक्ति प्रथम अंतरण के पश्चात् निःशेषित नहीं हो जाती । संबद्ध मुख्य न्यायमूर्ति/न्यायाधीश की सहमति संविधान के अधीन अपेक्षित नहीं है । इस सीमा तक भी एस० पी० गुप्ता के मामले को उलटा जाता है ।

11. अनुच्छेद 222 के अधीन किसी मुख्य न्यायमूर्ति/न्यायाधीश के अंतरण के लिए कोई प्रस्ताव भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा ही आरंभ किया जाएगा और उस संबंध में अंतिम सिफारिश कार्यपालिका पर बाध्यकारी होगी ।

12. किसी मुख्य न्यायमूर्ति/न्यायाधीश के अंतरण को विधि के किसी न्यायालय में केवल इसी आधार पर चुनौती दी जा सकती है कि उक्त अंतरण भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सिफारिश पर नहीं किया गया था ।

13. न्यायाधीशों का नियतन—उच्च न्यायालयों में न्यायाधीशों की संख्या पर न्यायालय द्वारा विचार किया जा सकता है । किसी राज्य के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा उक्त

1993(10) eILR(PAT) SC 1

उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या में वृद्धि के लिए किया गया प्रस्ताव, यदि उस पर भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सम्मति प्राप्त कर ली गई है, कार्यपालिका पर बाध्यकारी है। उस सीमा तक एस० पी० गुप्ता का मामला उलट दिया गया। (पैरा 430)

न्यायमूर्ति वर्मा के मतानुसार—

(1) उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति की प्रक्रिया नियुक्ति के लिए उपलब्ध सर्वोत्तम और सर्वाधिक उपयुक्त व्यक्तियों की चयन करने के लिए एक एकीकृत सहभागितापूर्ण परामर्शकारी प्रक्रिया है; और सांविधानिक प्रयोजन की पूर्ति करने के लिए समस्त सांविधानिक कृत्यकारियों को इस कर्तव्य का निर्वहन सामूहिक रूप से मुख्यत: एक सहमतिगत विनिश्चय पर पहुंचने की दृष्टि से करना चाहिए जिससे कि प्राथमिकता का अवसर उत्पन्न न हो।

(2) उच्चतम न्यायालय के मामले में नियुक्ति के लिए प्रस्थापना की शुरूआत भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा की जानी चाहिए और उच्च न्यायालय के मामले में, उस उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा की जानी चाहिए और किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश/मुख्य न्यायमूर्ति के स्थानांतरण के लिए प्रस्थापना भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा आरंभ की जानी चाहिए। यह वह रीति है जिसमें, उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों में नियुक्तियों के लिए और इसी भांति उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों/मुख्य न्यायमूर्तियों के स्थानांतरणों के लिए प्रस्थापनाएं अनिवार्यत: की जानी चाहिए।

(3) सांविधानिक कृत्यकारियों की राय में मतभेद होने की दशा में "भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के मत द्वारा परिलक्षित" और इंगित की गई रीति में गठित न्यायपालिका की राय, प्राथमिकता रखती है।

(4) उच्चतम न्यायालय या किसी उच्च न्यायालय में किसी न्यायाधीश की नियुक्ति तब तक नहीं की जा सकती जब तक कि यह भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय के अनुसार न हो।

(5) केवल आपवादिक मामलों में, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को यह इंगित करते हुए कि सिफारिश किया गया व्यक्ति नियुक्ति के लिए उपयुक्त नहीं है, प्रकट किए गए सशक्त तर्कपूर्ण कारणों से, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा सिफारिश की गई उक्त नियुक्ति नहीं की जा सकती। तथापि, यदि कथन किए गए कारण भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा और उच्चतम न्यायालय के अन्य न्यायाधीशों, जो मामले में परामर्श किए गए हैं, द्वारा स्वीकार नहीं किए गए हैं, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा सिफारिश दोहराए जाने पर नियुक्ति, एक स्वस्थ कान्वेंशन के रूप में की जानी चाहिए।

(6) भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के पद पर नियुक्ति, पद को धारण करने के लिए उचित (ठीक) माने गए उच्चतम न्यायालय के वरिष्ठतम न्यायाधीश की जानी चाहिए।

(7) उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों/मुख्य न्यायमूर्तियों के स्थानांतरणों के मामले में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय मात्र प्राथमिकता ही नहीं अपितु अवधारक भी है।

(8) किसी एक उच्च न्यायालय से दूसरे उच्च न्यायालय को प्रथम या किसी पश्चात्-वर्ती स्थानांतरण के लिए स्थानांतरित न्यायाधीश/मुख्य न्यायमूर्ति की सहमति लेना अपेक्षित नहीं है।

(9) भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सिफारिश पर किया गया कोई स्थानांतरण दण्डात्मक नहीं समझा जाना चाहिए और ऐसा स्थानांतरण किसी आधार पर न्याय्य नहीं है।

(10) सभी नियुक्तियों और स्थानांतरणों को करने में इंगित किए गए नियमों का पालन किया जाना चाहिए। तथापि, यह किसी को कोई न्याय्य अधिकार प्रदान नहीं करते हैं।

(11) नियुक्तियों और स्थानांतरणों के मामलों में पूर्वतर विनिर्दिष्ट आधारों पर केवल सीमित न्यायिक पुनर्विलोकन उपलब्ध है।

(12) किसी उच्च न्यायालय में उस व्यक्ति जिसके लिए प्रस्थापना की गई थी, से भिन्न व्यक्ति की न्यायाधीश के रूप में प्रारंभिक नियुक्ति की जा सकती है।

(13) उच्च न्यायालयों में न्यायाधीश संख्या का नियत करना न्याय्य है, किन्तु केवल इंगित की गई सीमा तक और रीति में।

(14) "एस० पी० गुप्ता बनाम भारत संघ" वाले मामले में बहुमत की राय जहां तक यह नियुक्तियों और स्थानांतरणों के मामलों में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की भूमिका की प्राथमिकता के संबंध में और इन मामलों की न्याय्यता और इसी भांति न्यायाधीशों की संख्या के मामले में प्रतिकूल मत व्यक्त करती हैं, हमें सही मत होने के रूप में प्रभावित नहीं करती, सांविधानिक स्कीम को सम्मिलित करते हुए संविधान के सुसंगत उपबंध हमारे द्वारा इसमें इंगित की गई रीति में अर्थान्वियन किए जाने, समझे जाने और क्रियान्वित किए जाने चाहिए। (पैरा 505)

यह सत्य है कि विधि के शासन के भीतर वैवेकिक प्राधिकारिता की गुंजाइश होनी चाहिए भले ही इसे उचित शासन के लिए आवश्यक न्यूनतम सीमा तक कम किया गया हो। वैवेकिक प्राधिकार के क्षेत्र के भीतर उचित मार्गदर्शक सिद्धांतों या साधारण उपयोज्यता के नियमों की विद्यमानता वैवेकिक प्राधिकारिता के किसी मनमाने प्रयोग का अपवर्जन करती हैं ऐसी परिस्थिति में उचित मार्गदर्शक सिद्धांतों या नियमों के अनुसार वैवेकिक प्राधिकार को व्यक्तियों पर लागू करना विवेकाधिकार के क्षेत्र को और कम करता है; किंतु पद्धति को काम चलाऊ बनाने के लिए उक्त सीमा तक वैवेकिक प्राधिकार दिया जाना चाहिए। सीमित क्षेत्र वैवेकिक प्राधिकार किसी एक व्यक्ति को न देकर व्यक्तियों के निकाय को प्रदान करने वाला एक अन्य उपबंध किया गया है जिसमें उनसे परस्पर संपर्क और प्रभावी परामर्श करने के पश्चात् अन्तिम विनिश्चय करने की अपेक्षा की गई है जिससे कि सम्भाव्य दृष्टिकोण को सुनिश्चित किया जा सके और इस प्रक्रिया में जुड़े हुए उन सभी व्यक्तियों की सामूहिक प्रज्ञा मामले के अंतिम विनिश्चय में बहुमत से प्राप्त किया जा सके। उच्चतम पदाधिकारियों में इस वैवेकिक प्राधिकार को प्रदत्त करना इसी दिशा में एक अतिरिक्त नियंत्रण है। सांविधानिक

1993(10) eILR(PAT) SC 1

स्कीम किसी एक व्यक्ति में आत्यंतिक शक्ति प्रदत्त करने को अपवर्जित करती है। इसलिए उपबंधों का ऐसा अर्थान्वयन उस सांविधानिक स्कीम और सांविधानिक प्रयोजन से संगत है जिसके लिए इन उपबंधों को अधिनियमित किया गया था। (पैरा 451)

नियुक्ति की समाकलित प्रक्रिया में न्यायपालिका और इसी भांति कार्यपालिका की भूमिका से संबंधित उपबंध मात्र यह इंगित करते हैं कि यह एक सहभागितापूर्ण परामर्शकारी प्रक्रिया है और यह प्रयोजन तभी अच्छी तरह पूरा होता है यदि सभी परामर्शदाताओं के मध्य प्रभावी परामर्शकारी प्रक्रिया के अन्त में परस्पर सहमति द्वारा विनिश्चय किया जाता है तब किसी परामर्शदाता को प्राथमिकता देने का कोई प्रश्न नहीं उठता। सांविधानिक उप-बंधों द्वारा मुख्यतः यही इंगित होता है। सांविधानिक प्रयोजन तभी अच्छी तरह से पूरा होगा यदि विनिश्चय परामर्शदाताओं में से किसी को उसमें किसी भिन्न राय के कारण प्राथमिकता देने की आवश्यकता के बिना सबकी सम्मति से किया जाता है। सांविधानिक कृत्यकारियों में से किसी की राय को प्राथमिकता देने का प्रश्न केवल तभी उत्पन्न होगा यदि परामर्शकारी प्रक्रिया का परिणाम, सर्वसम्मति द्वारा व्यक्त की गई राय नहीं है। (पैरा 488)

विधिसम्मत शासन, गैर मनमानेपन को सुनिश्चित करने के लिए केवल ज्ञात सिद्धांतों या मार्गदर्शक सिद्धांतों के लागू होने की अध्यपेक्षा करते हुए विवेकाधिकार के क्षेत्र को न्यून-तम होना परिकल्पित करता है किन्तु सीमित क्षेत्र तक विवेकाधिकार एक व्यावहारिक आवश्यकता है जब कभी आवश्यक हो उच्च कृत्यकारियों को विवेकाधिकार प्रदान करना और सामूहिक विनिश्चय की अध्यपेक्षा करते हुए विबिधता का तत्व शामिल करना मनमानेपन के विरुद्ध अतिरिक्त नियंत्रण है। इसी प्रकार आदर्श और व्यवहार में तालमेल बैठाकर समा-कलित किया जाता है जिससे कि पद्धति को संतोषजनक ढंग में कारगर बनाया जा सके।। उच्च सांविधानिक कृत्यकारियों पर वरिष्ठ न्यायाधीशों की नियुक्ति के कार्य को सौंपने में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के मत को जो अभ्यर्थियों की उपयुक्तता का निर्णयन करके उनकी सही योग्यता का मूल्यांकन करने में सबसे अधिक सक्षम है, सबसे अधिक महत्व दिया गया है। भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की ऐसी राय जो उनके कुछ सहकर्मियों की राय पर विचार करने के पश्चात् दी गई है। सामूहिक राय होगी। भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को प्रकट किए गए सशक्त कारणों से कार्यपालिका को अनुपयुक्त पायी गई नियुक्ति को रोकने को अनुज्ञात करते हुए न्यायपालिका या कार्यपालिका, किसी व्यक्ति की तो बात ही क्या चाहे वह भारत का मुख्य न्यायमूर्ति या प्रधानमंत्री ही क्यों न हों; किसी को भी आत्यंतिक विवेका-धिकार प्रदान किए बिना, सांविधानिक प्रयोजन को प्राप्त करने के लिए सांविधानिक स्कीम में सर्वोत्तम रीति है। (पैरा 495)

किसी उच्च न्यायालय में न्यायाधीश-संख्या का नियत किया जाना न्याय्य है, यदि यह दर्शित किया जाता है कि विद्यमान संख्या जनता को शीघ्र न्याय प्रदान करने में, विद्य-मान संख्या की अत्यधिक सक्षमता के बावजूद अपर्याप्त है - जबकि शीघ्र विचारण अनुच्छेद 21 की एक अध्यपेक्षा है, तब महसूस की गई आवश्यकता का मूल्यांकन करने के लिए और शीघ्र न्याय प्रदान करने की राज्य की बाध्यता को पूरा करने के लिए और तदद्वारा यह सुनिश्चित करने के लिए कि विधिक पद्धति का प्रवर्तन न्याय का संवर्धन करता है—जो संविधान की उद्देशिका में भी एक सत्यनिष्ठ संकल्प के रूप में घोषित किया गया है, आवश्य-

कता के अनुसार न्यायाधीशों की संख्या नियत करने के लिए निदेश जारी किया जा सकता है। किसी उच्च न्यायालय में न्यायाधीशों की संख्या का पुनर्विलोकन करने में, राष्ट्रपति को उस उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति और भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय को अधिक महत्व देना चाहिए, और यदि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति ऐसी सिफारिश करते हैं तो यह कार्य सम्यक् शीघ्रता के साथ किया जाना चाहिए। (पैरा 511)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[1993]	जे० टी० 1993 (4) एस० सी० 618 : **आल इंडिया जजेज एसोसिएशन और अन्य बनाम भारत संघ और अन्य ;**	200
[1993]	जे० टी० 1993 (2) एस० सी० 1=1993 (3) स्केल 489 : **आर० सी० पोद्याल बनाम भारत संघ और अन्य ;**	23,342
[1993]	जे० टी० 1993 (1) एस० सी० 374=ए० आई० आर० 1993 एस० सी० 1267 : **रघुनाथराव गनपतराव बनाम भारत संघ ;**	23
[1993]	जे० टी० 1993 (5) एस० सी० 27 : **एस० नागराज और अन्य बनाम कर्नाटक राज्य और एक अन्य ;**	17
[1993]	जे० टी० 1992 (2) एस० सी० 41=1993 सप्ली० (1) एस० सी० सी० 529 : **प्रीतम पाल बनाम मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय, जबलपुर ;**	46
[1992]	जे० टी० 1992 (6) एस० सी० 273=1992 सप्ली० (3) एस० सी० सी० 210 : **इंद्रा साहनी और अन्य बनाम भारत संघ ;**	21
[1992]	जे० टी० 1992 (1) एस० सी० 600=1992 सप्ली० (2) एस० सी० सी० 651 : **किहोता हालहन बनाम जचील्हू और अन्य ;**	21
[1992]	(1992) 4 एस० सी० सी० 605 : **राज कंवर, अधिवक्ता बनाम भारत संघ और एक अन्य ;**	509
[1992]	जे० टी० 1992 (2) एस० सी० 247=1992 (2) एस० सी० सी० 428 : **श्री कुमार पद्मप्रसाद बनाम भारत संघ ;**	67,290
[1992]	जे० टी० 1991 (6) एस० सी० 349=1992 (1) एस० सी० सी० 508 : **सचिव, सिंचाई विभाग, उड़ीसा सरकार और अन्य बनाम जी० सी० राय और एक अन्य ;**	23

[1991]	जे० टी० 1991 (2) एस० सी० 493=1991 (4) एस० सी० सी० 699 : **सब-कमेटी आन जुडीशियल एकांउटेबिलिटी बनाम भारत संघ और अन्य ;**	46,446
[1991]	जे० टी० 1990 (3) एस० सी० 725=1991 सप्ली० (1) एस० सी० 600 : **दिल्ली परिवहन निगम बनाम डी० टी० सी० मजदूर कांग्रेस और अन्य ;**	21
[1990]	[1990] 2 उम० नि० प० 693=जे० टी० 1990 (4) एस० सी० 245=1990 सप्ली० (2) एस० सी० आर० 433 : **सुभाष शर्मा और अन्य बनाम भारत संघ ;**	4,21, 29,438
[1989]	जे० टी० 1989 (4) एस० सी० 267=1989 सप्ली० (1) एस० सी० आर० 623 : **सिंथेटिक्स और कैमिकल्स लिमिटेड इत्यादि बनाम उ० प्र० राज्य और अन्य ;**	23
[1987]	[1987] 1 उम० नि० प० 485=जे० टी० 1986 एस० सी० 819=1986 (4) एस० सी० सी० 632 : **केरल राज्य बनाम ए० लक्ष्मीकुट्टी ;**	308
[1987]	[1987] 3 उम० नि० प० 209=(1987) 2 एस० सी० आर० 314 : **कानूभाई ब्रह्मभट बनाम गुजरात राज्य ;**	262
[1987]	[1988] 1 उम० नि० प० 560=(1987) 4 एस० सी० सी० 609 : **पी० एन० कुमार बनाम दिल्ली नगर निगम ;**	263
[1986]	[1986] 4 उम० नि० प० 1018=जे० टी० 1986 एस० सी० 66=1986 (3) एस० सी० सी० 604 : **तेजपाल सिंह बनाम उ० प्र० राज्य ;**	308
[1985]	1985 (4) एस० सी० सी० 417 : **अशोक कुमार यादव और अन्य बनाम हरियाणा राज्य और अन्य ;**	491
[1985]	1985 सप्ली० (3) एस० सी० आर० 850 : **आयकर आयुक्त बनाम बंशीधर एण्ड संस ;**	163
[1985]	[1985] 4 उम० नि० प० 106=1985 सप्ली० (2) एस० सी० आर 131 : **भारत संघ बनाम तुलसी राम पटेल ;**	21

1993(10) eILR(PAT) SC 1

[1985]	[1985] 2 एस० सी० आर० 673 : वेलेन्टे बनाम क्वीन;	351
[1984]	[1984] 2 एस० सी० आर० 145 : हंटर बनाम सोथम आई एन सी;	344
[1983]	[1983] 2 उम० नि० प० 299=(1982) 3 एस० सी० सी० 412 : एम० एम० गुप्ता और अन्य बनाम जम्मू और कश्मीर राज्य;	90
[1982]	[1982] 4 उम० नि० प० 1=[1982] 2 एस० सी० आर० 365 : एस० पी० गुप्ता और अन्य बनाम भारत संघ और अन्य;	4, 335,438
[1981]	[1981] 3 उम० नि० प० 146=(1981) 1 एस० सी० आर० 206 : मिनर्वा मिल्स लिमिटेड और अन्य बनाम भारत संघ;	23
[1981]	[1981] 4 उम० नि० प० 543=[1981] 2 एस० सी० आर० 1 : वमन राव और अन्य बनाम भारत संघ और अन्य;	23
[1980]	(1980) 1 आल इंग्लैण्ड रिपोर्टर 529 : ड्यूपोर्ट स्टील लि० बनाम सर्स और अन्य;	293
[1979]	[1979] 4 उम० नि० प० 1061=[1979] 2 एस० सी० आर० 476 : री दि स्पेशल कोर्ट्स बिल;	47
[1978]	[1978] 3 उम० नि० प० 1129=[1978] 1 एस० सी० आर० 423 : भारत संघ बनाम संकल चंद हिम्मतलाल सेठ और एक अन्य	21,61, 141,284, 398,497
[1975]	[1975] 1 उम० नि० प० 357=[1975] 1 एस० सी० आर० 814 : शमशेर सिंह और एक अन्य बनाम पंजाब राज्य;	21,140, 324,398
[1975]	(1975) (सप्ली०) एस० सी० सी० 1 : श्रीमती इंदिरा नेहरू गांधी बनाम श्री राजनारायण और एक अन्य;	450
[1973]	[1973] 2 उम० नि० प० 159=[1973] सप्ली० एस० सी० आर० 1 : केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य;	22,450

	सुप्रीम कोर्ट एडवोकेट्स आन रिकार्ड एसो० ब० भारत संघ	429
[1971]	1971 (सप्ली०) एस० सी० आर० 46 : यू० एन० आर० राव बनाम श्रीमती इंदिरा गांधी;	373
[1971]	[1971] 1 उम० नि० प० 941=[1971] 3 एस० सी० आर० 483 : भारत संघ बनाम जे० पी० मित्तर;	67
[1970]	[1970] 3 उम० नि० प० 863=[1970] 2 एस० सी० आर० 666 : चंद्रमौलेश्वर प्रसाद बनाम पटना उच्च न्यायालय और अन्य;	139, 147,305
[1968]	[1968] 1 एस० सी० आर० 111 : संत राम शर्मा बनाम राजस्थान राज्य;	420
[1967]	[1967] 2 एस० सी० आर० 762 : आई० सी० गोलकनाथ और अन्य बनाम पंजाब राज्य और एक अन्य;	22
[1967]	[1967] 1 एस० सी० आर० 97 : के० एम० नानावती बनाम बम्बई राज्य;	155
[1967]	[1967] 1 एस० सी० आर० 454 : असम राज्य बनाम रंगा मुहम्मद और अन्य;	305
[1966]	[1966] 1 एस० सी० आर० 771 : पश्चिम बंगाल राज्य बनाम नृपेन्द्र नाथ;	305
[1955]	[1955] 2 एस० सी० आर० 603 : दि बंगाल इम्यूनिटी कंपनी लिमिटेड बनाम बिहार राज्य और अन्य;	21
[1953]	ए० आई० आर० 1953 मद्रास 392 : आर० पुष्पम और एक अन्य बनाम मद्रास राज्य;	138, 319,400
[1987]	1987 एल० आर० सी० 180 : दि क्वीन बनाम बेयूगार्ड;	20,351
[1986]	1986 (1) आल इंग्लैण्ड रिपोर्ट 164 : साम्राज्ञी बनाम सेक्रेटरी आफ स्टेट फार सोशल सर्विसेज एक्सपर्ट एसोसिएशन आफ मेट्रोपोलिटन आथारिटीज;	319
[1985]	1985 क्यू० बी० 657 : साम्राज्ञी बनाम एच० एम० ट्रेजरी एक्स पी० स्मेडली;	365,370
[1981]	1981 (123) डी० एल० आर० थर्ड 1 : रि अमेंडमेंट आफ दि कान्सटीट्यूशन आफ कनाडा;	293

1993(10) eILR(PAT) SC 1

[1980] 1980 (1) आल इंग्लैण्ड रिपोर्ट 529 :
डुपोर्ट स्टील लिमिटेड बनाम सिर्स और अन्य; 293

[1980] 1980 ए० सी० 319 :
मिनिस्टर आफ होम एफैयर्स बनाम फिशर; 324

[1977] 1977 (1) डब्ल्यू० एल० आर० 766 :
साम्राज्ञी बनाम सेक्रेटरी आफ स्टेट फार होम डिपार्टमेंट; 370

[1976] 1976 क्यू० बी० 752 :
अटार्नी-जनरल बनाम जानथन क्रेप लिमिटेड (क्रासमेन डायरीज केस); 370

[1965] 1965 ए० सी० 1111 :
पोर्ट लुईस कार्पोरेशन बनाम अटार्नी-जनरल; 15,319

[1963] 1963 ए० सी० 614 :
एजबनरो बनाम अकिनटोला; 370

[1958] 1958 (100) सी० एल० आर० 597 :
कापीराइट ओनर्स रिप्राडक्शन सोसाइटी लिमिटेड बनाम ई० एम० आई० (आस्ट्रेलिया) प्राइवेट लिमिटेड; 370

[1948] 1948 (1) आल इंग्लैण्ड रिपोर्ट 13 :
रोलो और एक अन्य बनाम मिनिस्टर आफ टाउन एण्ड कन्ट्री प्लानिंग; 138,319

[1947] 1947 (2) आल इंग्लैण्ड रिपोर्ट 496 :
फलैचर बनाम मिनिस्टर आफ टाउन प्लानिंग; 138,318

[1947] 1947 के० बी० 702 :
राबिन्सन बनाम मिनिस्टर आफ टाउन एण्ड कन्ट्री प्लानिंग; 370

[1942] 1942 ए० सी० 206 :
लिवरसिज बनाम एंडरसन; 370

[1935] 1935 ए० सी० 500 :
ब्रिटिश कोल कार्पोरेशन बनाम सम्राट; 370

[1916] 1916 ए० सी० 610 :
कमर्शियल केबिल कंपनी बनाम गवर्नमेंट आफ फाउण्डलैण्ड; 370

[1906] 1906 (4) सी० एल० आर० 422 :
राइडर बनास फोले; 370

	सुप्रीम कोर्ट एडवोकेट्स आन रिकार्ड एसो० ब० भारत संघ	431
[1871]	1871 (80) यू० एस० 335 : ब्रेडली बनाम फिशर;	72
	75 एस० डब्ल्यू० 1089 : कालयर बनाम व्हीलर;	404
	बी० शिवा राव : "दि फ्रेमिंग आफ इंडियन कांस्टीट्यूशन ए स्टडी", पृष्ठ 507.	87, 520
	ब्लैक्स ला डिक्शनरी	131
	केसेज एण्ड मेटेरियल्स आन कांस्टीट्यूशनल एण्ड एडमिनिस्ट्रेटिव ला, 1966 संस्करण	367
	चांदलर : "दि रोल आफ दि ट्रायल जज इन दि एंग्लो अमेरिकन लीगल सिस्टम", 50, ए बी ए जे 125, 127 (1964)	194
	कालिन आर० मुनरो : "स्टडीज इन कांस्टीट्यूशनल ला", 1987 संस्करण	359
	कामनवैल्थ ला बुलेटिन, जिल्द 18, संख्या 4, अक्तूबर 1992, पृष्ठ 1257.	479
	कार्पस जूरिस सेकन्डम, जिल्द 16ए, पृष्ठ 1243	134
	एनसाइकलोपीडिया आफ अमेरिकन कांस्टीट्यूशन, 1986 संस्करण, जिल्द 4—यूनियन आफ इंडिया कम्पाइलेशन, पृष्ठ 185.	78
	गरफील्ड बारविक : "दि स्टेट आफ आस्ट्रेलियन जुडीकेचर", 51, आस्ट्रेलिया एल० जे० 480.	26
	हल्सबरीज स्टेट्यूस, चतुर्थ संस्करण, जिल्द 11, पृष्ठ 756-865,	201
	हेरी गिब्स : "दि एपोइंटमेंट आफ जजेज", 61 आस्ट्रेलिया एल० जे० 7, 8.	26
	जे० ए० जी० ग्रिफीथ : "दि पालिटिक्स आफ जुडीशियरी", पृष्ठ 17, 18.	479
	के० सी० वेअरी : "दि स्टेचू आफ वेस्टमिनिस्टर एण्ड डामिनियन स्टेट्स" चतुर्थ संस्करण	356
	के० सी० वेअरी : "माडर्न कांस्टीट्यूशन" 1967 संस्करण,	358
	भारतीय विधि आयोग : "121वीं रिपोर्ट" पृष्ठ 38, परा 209	6.16.

भारतीय विधि आयोग : "14वीं रिपोर्ट", पृष्ठ 70 और 105, पैरा 9 और 82	190, 267
भारतीय विधि आयोग : 80वीं रिपोर्ट	240
लारेंस बोम : "दि सुप्रीम कोर्ट" चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ 2	532
पी० रामनाथ अय्यर : "ला लेक्सिकन"	135
प्रो० जे० डी० बी० मिचैल, "कांस्टीट्यूशनल ला" सातवां संस्करण, 1968	367
आर० के० हेगडे : दि जुडीशियरी टुडे : ए प्ली फार कालजियम, पृष्ठ 38.	26
शेक्सपियर : "दि मर्चेन्ट आफ वेनिस"	195
शोर्टर आक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी	129
सर डब्ल्यू० आइवर जेनिंग्स, "ला एण्ड दि कांस्टीट्यूशन" पांचवा संस्करण	357
सर विन्सटन चर्चिल : "पार्लियामेंटरी डिबेट्स (हनसर्ड) हाउस आफ कामन्स डिबेट्स" जिल्द 525, काल० 1061,	197
स्ट्रोड्स ला लेक्सिकन	132
"टेक्सास ला रिव्यू", जिल्द 44, 1966, पृष्ठ 1068 और 1071	192
"वेबेस्टर्स एनसाइकलोपीडिया अनएब्रिज्ड डिक्शनरी आफ दि इंग्लिश लैंग्वेज"	130
वर्डस एण्ड फ्रेजेज—परमानेन्ट एडीशन	133

आरम्भिक अधिकारिता : 1987 की रिट याचिका (सिविल) सं० 1303 जिसके साथ 1993 की रिट याचिका (सिविल) सं० 156 की भी सुनवाई की गई।

भारत के संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन रिट याचिका।

याचियों की ओर से — सर्वश्री एफ० एस० नारीमन, राम जेठमलानी, कपिल सिबल, पी० पी० राव, शांति भूषण, आर० के० गर्ग, प्रशांत भूषण

प्रत्यर्थी की ओर से — श्री पारासरन

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति एस० रत्नवेल पाण्डियन ने दिया।

न्या० पांडियन—"सोलोमन का सिंहासन दोनों ओर शेरों पर टिका हुआ है; वे शेर भले ही हों फिर भी वे हैं तो सिंहासन के नीचे (अधीन) ही; क्योंकि सतर्क और चौकन्ने रहते हुए भी वे प्रभुता के किसी भी निर्णय या बात का न तो कोई विरोध करते हैं और न उस पर कोई प्रतिबंध ही लगाते हैं।"

ओल्ड टेस्टामेंट् में उक्त बाइबिल संबंधी कथा के अनुसार, जैसा कि फ्रांसिस बेकन ने अपने ग्रंथ 'एस्से आफ जुडीकेचर' में कहा है, जिन महत्वपूर्ण प्रश्नों को, जिनका अत्यधिक सांविधानिक महत्व है और जो भारतीय न्यायपालिका प्रणाली पर प्रभाव डालते हैं, गहन विचार-विमर्श हेतु उठाया गया है उन्हें आलंकारिक रूप से इस प्रकार विरचित किया जा सकता है—

(1) क्या आज के समय का 'सोलोमन' का सिंहासन (जो हमारी न्यायपालिका प्रणाली की प्रभुसत्ता का प्रतीक है) दोनों ओर 'शेरों' पर (जो विधानमण्डल और कार्यपालिका के प्रतीक हैं) पूरी तरह टिका हुआ (आधृत) है ?

(2) क्या 'शेर' अब भी 'सिंहासन' के अधीन है ?

(3) क्या 'शेर' न्यायपालिका की प्रभुता (अर्थात् न्यायिक प्रभुता) के किसी भी निर्णय या बात का विरोध करने या उस पर नियंत्रण लगाने से अवरुद्ध है ?

(4) क्या सिंहासन पर बैठने (अधिभोग रखने) के लिए 'सोलोमन' और उसके उत्तराधिकारियों के नाम की घोषणा करना 'शेरों' का काम है ?

(5) क्या 'सोलोमन' को अपने 'सदन' (जो न्यायिक संरचना का प्रतीक हैं) में किसी भी प्रख्यात संरचनात्मक सुधार की प्रस्थापना करने का कोई अधिकार है या सोलोमन के निर्देश के बिना ही 'सोलोमन के सदन' के लिए ऐसी प्रस्थापना करने का अधिकार 'शेर' को प्राप्त है ?

(6) क्या सोलोमन के निर्देश के बिना भी अथवा सोलोमन के किसी भी सुझाव की अक्षम्य रूप से उपेक्षा करते हुए भी 'शेर' 'सोलोमन के सदन' के साम्राज्य की संरचना में कोई परिवर्तन करने के लिए और ऐसे किसी भी व्यापक सुधारों की प्रस्थापना करने, जो चाहे 'सोलोमन के साम्राज्य' के संविधान और उसकी संरचना से संबंधित हो, के लिए स्वतंत्र हैं ?

(7) क्या विहित और अनुसरित की जाने वाली वर्तमान स्कीम और प्रक्रिया के अधीन 'सोलोमन' को स्वयं अपने 'सिंहासन' के बजाय उस अक्षम कुर्सी पर चुपचाप बैठना होता है ?

2. जिन प्रश्नों के प्रति ऊपर प्रतीकात्मक रूप से निर्देश किया गया है वे इन दोनों ही रिट याचिकाओं में उठाए गए हैं और वे उच्चतर न्यायपालिका के कार्यकरण से संबंधित हैं जिनका प्राथमिक उद्देश्य न्यायपालिका को (क) उच्चतर न्यायपालिका में न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले में और साथ ही उसकी बनावट संबंधी संरचना में भी कार्यपालिका की अत्यधिक प्रधानता के कारण उत्पन्न घुटन से उसे छुटकारा दिलाना; (ख) उसके सभी मामलों में भारत

के मुख्य न्यायमूर्ति (जिन्हें इसमें इसके पश्चात् 'मुख्य न्यायमूर्ति' कहा गया है) के मत को यदि श्रेष्ठता नहीं तो प्रधानता दिया जाना और (ग) न्यायपालिका की स्वतंत्रता की स्वच्छ (अप्रदूषित) वायु में सामान्य रूप से सांस लेने को सुकर बनाना है जिससे कि न्यायपालिका की अपरिहार्य स्वतंत्रता और अखण्डता को संविधान के शब्द और भाव से संगत और 'भारत के संविधान के प्रति निष्ठा' रखते हुए ली गई शपथ या प्रतिज्ञान के अनुरूप बनाया जा सके तथा जिसे कार्यपालिका की संकीर्णताओं की कठोरता से भी बचाया जा सके।

3. ईप्सित अनुतोष उच्चतम न्यायालय और देश के विभिन्न उच्च न्यायालयों में न्यायाधीशों के रिक्त स्थानों को भरने के लिए और मुख्य प्रार्थना के संबंध में कुछ अनुषंगी आदेश/निदेश देने के लिए भारत संघ को परमादेश जारी करने के लिए है।

4. **सुभाष शर्मा और अन्य बनाम भारत संघ**[1] शीर्षक के अन्तर्गत एक लोक हित मुकदमे में तीन न्यायाधीशों की न्यायपीठ द्वारा, जिसमें मु० न्या० रंगनाथ मिश्र, न्या० एम० एन० वेंकटाचलैया (जैसे कि माननीय मुख्य न्यायमूर्ति उस समय थे) और न्या० एम०एम० पंछी सम्मिलित थे, तारीख 26 अक्तूबर, 1990 को दिए गए निदेश के अनुसरण में प्रस्तुत मामले उनमें निरूपित निम्नलिखित दो महत्वपूर्ण प्रासंगिक प्रश्नों का, जो कि आधारभूत विवाद्यकों से संबंधित हैं, उत्तर ढूंढ़ने के लिए इस 9 न्यायाधीशों की न्यायपीठ के समक्ष प्रस्तुत किए गए हैं क्योंकि उक्त न्यायपीठ द्वारा यह महसूस किया गया कि उच्चतर न्यायपालिका के दक्षतापूर्ण कार्यकरण के लिए न्यायपालिका के उच्चतर सोपान पर न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की प्रास्थिति (हैसियत) पर **एस० पी० गुप्त और अन्य आदि आदि बनाम भारत संघ और अन्य आदि आदि**[2] के मामले में दिए गए विनिश्चयाधार की सत्यता पर बृहत्तर न्यायपीठ द्वारा पुनः विचार किए जाने की आवश्यकता है।

5. उक्त आदेश का सुसंगत अवतरण इस प्रकार है—

> "बहुमत के दृष्टिकोणों पर विचार करते समय हम भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श और उसकी स्थिति की प्रधानता के बारे में निर्णय में दिए गए इन विद्वान् न्यायाधीशों के उन विचारों को उपवर्णित कर सकते हैं जिन पर हमारी राय में पुनः विचार किए जाने की आवश्यकता होगी।"

6. उक्त आदेश के आधार पर जो प्रश्न विचारार्थ उद्भूत हुए हैं वे इस प्रकार हैं—

(1) क्या उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों में न्यायाधीशों की नियुक्ति के बारे में और साथ ही उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के स्थानान्तरण के बारे में भी भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय को प्रधानता (प्रमुखता) दी जानी चाहिए ? और

(2) क्या उच्च न्यायालयों में न्यायाधीशों की संख्या नियत किए जाने के मामले सहित अन्य विषय न्याय्य हैं ?

---

[1] [1991] 2 उम० नि० प० 693=[1990] सप्ली० 2 एस० सी० आर० 433.

[2] [1982] 4 उम० नि० प० 1=[1982] 2 एस० सी० आर० 365.

7. मुझे अपने विद्वान् बन्धु न्या० जे० एस० वर्मा के निर्णय का अनुशीलन करने का लाभ प्राप्त हुआ है। हालांकि मैं उनके द्वारा निकाले गए अधिकांश निष्कर्षों के साथ ससम्मान सहमत हूं तथापि इस मामले में अन्तर्वलित महत्वपूर्ण सांविधानिक विवाद्यकों को ध्यान में रखते हुए मैं उन निष्कर्षों के लिए स्वयं अपने तर्क देना चाहूंगा और साथ ही कुछ अन्य प्रश्नों के संबंध में अपने विचार भी प्रस्तुत करना चाहूंगा।

8. यहां तक कि इस भूमिका के प्रक्रम पर भी हम **गुप्ता वाले मामले** में प्रतिष्ठित न्यायाधीशों के मत का पूर्ण सम्मान करते हुए और साथ ही उक्त निर्णय के ऐतिहासिक महत्व के प्रति जागरूक रहते हुए भी यह कहने का साहस करते हैं कि हम पहले ही व्यक्त किए जा चुके उन मतों को अस्थिर बनाने की किसी भी पूर्वकल्पित धारणा से नहीं बल्कि कतिपय चुनौतियों का सामना करने के लिए **गुप्ता वाले मामले** में आधारभूत विवाद्यकों पर पुनः विचार करना चाहते हैं।

9. यदि प्रश्नगत निर्णय पर प्रस्थापित पुनर्विचार के विरुद्ध कभी कोई ऐसी आलोचना की जाती है या उसके संबंध में किसी दोषपूर्ण हेतु का लांछन लगाया जाता है तो यह बात हास्यास्पद होगी।

विधिक प्रतिपादना पर पुनः विचार और न्यायिक पुनर्विलोकन करने की अवधारणा

10. आसन्न किन्तु अपरिहार्य महत्वपूर्ण प्रश्न जिन पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाना है, इस बारे में हैं कि वे कौन सी ऐसी अनिवार्य दशाएं और परिस्थितियां हैं जिनके अधीन न्यायालयों द्वारा यथास्थिति संविधान या विधि के निर्वचन पर व्यक्त किए जा चुके अपने पूर्वतर मतों पर पुनः विचार करने का काम न्यायोचित होगा और ऐसा कठोर मार्ग अपनाए जाने के लिए कौन से मार्गदर्शक सिद्धांत हैं और उसका क्या विधिक प्रभाव पड़ेगा।

11. चूंकि यह न्यायालय इस देश का सर्वोच्च न्यायालय है और उसकी कार्य शक्ति एक राष्ट्रीय अनिवार्यता है इसलिए इस न्यायालय का प्रमुख संस्थागत कार्य सर्वप्रथम उस वास्तविक संदेश को स्पष्ट रूप से समझना है जो संविधान देना चाहता है, द्वितीयतः उस संदेश का सांविधानिक उपबंधों की दृष्टि में मूल अर्थ अभिनिश्चित करना है और तृतीयतः इस बात का निर्णय सुनाना है कि संविधान के अर्थपूर्ण प्रयोजन, मूल आशय और सच्ची भावना के अनुरूप विधि क्या है क्योंकि ऐसे निर्णय ही सांविधानिक विधि और नीति के चिरस्थायी सिद्धांतों को प्रतिबिम्बित करेंगे। इन राष्ट्रीय कर्तव्यों का निर्वहन करने या पालन करने में संविधान के साधारण दर्शन के संबंध में कुछ विवाद, कई ऐसे नए विवाद्यक और कठिन समस्याएं उद्भूत होना संभव है जिन पर गहन रूप से विचार किए जाने और जब ऐसी नई चुनौतियां दी जाएं तब उन पर पुनः विचार करने की आवश्यकता होगी।

12. इसके अतिरिक्त ऐसे मुकदमों की श्रृंखला में जिनमें सांविधानिक प्रश्न अन्तर्वलित होते हैं, विभिन्न निर्णयों के अनिवार्य परिणामस्वरूप उन सांविधानिक उपबंधों पर विचार किया जाना आवश्यक हो जाता है।

13. ऐसे सभी विवादों, विवाद्यकों और समस्याओं का, जिनका सदैव न्यायिक निर्वचन किया जा सकता है, सामना करने और विचार करने के लिए न्यायालयों को सभी

1993(10) eILR(PAT) SC 1

गूढ़ताओं के परे जाकर संविधान का 'वास्तविक आशय' और 'मूल अर्थ' खोजने और संविधान के दर्शन में अन्तर्निहित सिद्धांतों को प्रतिपादित करने का और इस बात की घोषणा करने का कि संविधान में उनके बारे में क्या कहा और आदिष्ट किया गया है, दुर्भर कार्य करना होता है।

14. नए सिद्धांतों की खोज करना ऐसे क्षेत्रों में अनिवार्य हो जाता है जिनमें उनकी पहले खोज नहीं की गई है; विशेष रूप से उस समय जब पुराने सिद्धांतों को अनिर्णीत और अनपेक्षित आधुनिक चुनौतियों के अनुकूल नहीं पाया जाता है या नई स्थितियों के लिए अनुपयुक्त या उन्हें गलत पाया जाता है। साथ ही इस बात की भी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए कि उक्त संस्थागत कार्य करते समय न्यायालय ऐसे किसी भी नए अधिकार का सृजन नहीं करते हैं जो सांविधानिक पाठ या इतिहास में पहले ज्ञात नहीं है बल्कि ऐसे विद्यमान अधिकार की, जो अब तक धरातल के नीचे छुपे हुए हैं, नई दशाओं को ध्यान में रखते हुए संविधान के अन्तर्निहित आशय और भावना के मूल्यों की बेहतर समझ के आधार पर केवल खोज करते हैं और निर्णय सुनाते हैं। इसका पारिणामिक अर्थ यह होगा कि पुरानी विधिक संकल्पना और ऐसे सिद्धांतों का नई संकल्पना और नई दशा या नए दृष्टिकोण के कारण अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा।

15. यह प्रतिपादना कि संविधान के उपबंध केवल ऐसे निर्वचन तक ही सीमित रहने चाहिए जो संविधान निर्माताओं ने अपने समय की दशाओं और दृष्टिकोण के अनुसार उन उपबंधों का किया है, स्वीकार्य नहीं है और जो एक से अधिक कारणों से अस्वीकार किए जाने योग्य है—प्रथमतः, कुछ वर्तमान विवाद्यकों का पूर्वानुमान नहीं लगाया जा सकता; द्वितीयतः, कुछ अन्य विवाद्यकों पर चर्चा नहीं की गई और तृतीयतः इस पर भी कुछ विवाद्यक विवादास्पद विवाद्यकों के रूप में छोड़ दिए गए, अर्थात् उन्हें परस्पर विरोधी आशय वाले आस्थगित विवाद्यक कहा गया है। इन कारणों के अलावा इस गूढ़ अर्थ की व्याख्या करना सरल या संभव नहीं है कि वे कौन से कारक हैं जिन्होंने संविधान की रचना किए जाते समय संविधान निर्माताओं के मन पर उस स्थिति में प्रभाव डाला है जब उन्हें वर्तमान समय के साथ-साथ या समकक्ष रखा जाता है। अपरिहार्य सच्चाई यह है कि विधि स्थिर और अपरिवर्तनीय नहीं है बल्कि वह सदैव उत्तरोत्तर गतिशील है और समय के बीतने के साथ-साथ उसका विकास होता रहता है।

16. अतः व्यापक हित में उच्चतर न्यायालयों का यह उत्तरदायित्व हो जाता है कि वह एक नई विधिक संकल्पना की उचित नैदानिक अन्तर्दृष्टि के आधार पर संविधान की शक्ति और संभाव्य क्षमता को ढूंढे और ऐसा कार्य करे जिससे इस लचीले लिखत (संविधान) से उसके उन अनिवार्य गुणों और आधारभूत सिद्धांतों का, जो भारतीय लोकतंत्र की जड़ में निहित हैं, बलिदान किए बिना इस बृहत्त राष्ट्र के लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। तथापि, इस प्रक्रिया में हमारा मुख्य उद्देश्य यह होना चाहिए कि संविधान के उन रहस्यों और उलझनों (गूढ़ प्रश्नों) को जो उसमें परिव्याप्त और उसे घेरे हुए हैं, खोलते या सुलझाते हुए और स्पष्ट रूप से सांविधानिक पद्धति तथा स्कीम के कार्यकरण और प्रवर्तन की वास्तविकता पर केन्द्रित करते हुए संविधान को सहज रूप से बोधगम्य बनाया जाए जिससे कि निर्णय दिए जाने की पद्धति अधिकाधिक प्रभावपूर्ण और लोचदार बनाई जा सके। यद्यपि

निर्णयों का बार-बार उलटा जाना विधि को अनिश्चित और पश्चात्वर्ती निर्णयों को अपूर्वानुमेय (अप्रत्याशित) बनाएगा और यह न्यायालय भी आमतौर पर उन विवाद्यकों को, जो तय और समाप्त हो चुके हैं फिर से खोलना या उन पर पुनर्विचार करना नहीं चाहेगा, तथापि, अनेक निर्णयों से यह बात अब तक सुस्थिर हो चुकी है कि यदि विवशकारी परिस्थितियों में ऐसा करना उचित हो तो अपने पूर्वतर निर्णयों का पुनर्विलोकन करना या उन पर पुनर्विचार करना और यहां तक कि किसी संदेहात्मक निर्णय को भी यदि उसमें गलत रूप से अभिनिर्धारित किया गया है तो उसे या तो पूर्णतः या फिर भागतः उलट देना निश्चित रूप से उच्चतर न्यायालयों की अधिकारिता और अनिवार्य कर्तव्य के अन्तर्गत आता है और कोई भी निर्णय सांविधानिक नवीन दृष्टिकोण या विधिक निर्वचन के आधार पर और समय बीतने के साथ-साथ विकसित नूतन विचारों, सिद्धांतों और अनुभूति के विकास को दृष्टि में रखते हुए न्यायिक पुनर्विलोकन या पुनर्विचार करने से पूरी तरह मुक्त नहीं है। यह शक्ति स्पष्ट और प्रत्यक्ष रूप से न्यायिक पुनर्विलोकन या पुनर्विचार की परिधि के अन्तर्गत आती है।

17. **एस० नागराज और अन्य आदि आदि** बनाम **कर्नाटक राज्य और एक अन्य**[1] वाले एक हाल ही के निर्णय में, जिसमें हम में से एक (न्या० एस० रत्नवेल पांडियन) उसमें सम्मिलित थे, स्वयं अपने ही आदेश को रद्द करने अथवा उसका पुनर्विलोकन करने संबंधी इस न्यायालय की शक्ति पर जोर देते हुए निम्नलिखित मत व्यक्त किया गया है—

> "किसी आदेश का परिशोधन इस मूलभूत सिद्धांत से उत्पन्न होता है कि न्याय सर्वोपरि (सबसे ऊपर) है। इस शक्ति का प्रयोग किसी गलती को दूर करने के लिए किया जाता है, उसकी अन्तिमता में हस्तक्षेप करने के लिए नहीं। जब संविधान की रचना की गई थी तब इस न्यायालय द्वारा पारित किए गए आदेशों का परिशोधन करने अथवा उसे रद्द करने संबंधी मूल शक्ति का संविधान के अनुच्छेद 137 में विनिर्दिष्ट रूप से उपबंध किया गया था। हमारे संविधान निर्माताओं ने, जिन्हें कि ऐसे उपबंध की पर्याप्तता को दृष्टिगत करने का व्यावहारिक ज्ञान था, किसी निर्णय अथवा आदेश का पुनर्विलोकन करने की अधिष्ठायी शक्ति संविधान के अनुच्छेद 137 द्वारा अभिव्यक्त रूप से प्रदान की है। अनुच्छेद 145 के खण्ड (ग) में इस न्यायालय को उन शर्तों के बारे में नियम बनाने के लिए अनुज्ञात किया गया है जिनके अधीन रहते हुए किसी निर्णय या आदेश का पुनर्विलोकन किया जा सकता है। इस शक्ति का प्रयोग करते हुए आदेश 40 की रचना की गई जिसके द्वारा इस न्यायालय को सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 47 नियम 1 के सदृश आधारों पर सिविल कार्यवाहियों का पुनर्विलोकन करने और आदेश करने के लिए सशक्त किया गया है। उक्त खण्ड में 'अन्य किसी पर्याप्त कारण से' पद को विस्तृत अर्थ दिया गया है और परिस्थितियों की सही स्थिति के मिथ्या बोध के अधीन पारित किसी डिक्री या आदेश को इस शक्ति का प्रयोग करने के लिए पर्याप्त आधार माना गया है। सुप्रीम कोर्ट रूल्स के आदेश 40 नियम 1 के अलावा इस न्यायालय को ऐसे आदेश करने की, जो न्याय के हित में या न्यायालय की प्रक्रिया के दुरुपयोग को निवारित

[1] 1993 (5) जजमेंट टूडे 27.

1993(10) eILR(PAT) SC 1

करने के लिए आवश्यक हों, अन्तर्निहित शक्ति है। इस प्रकार न्यायालय, यदि उसका यह समाधान हो जाता है कि न्याय की दृष्टि से ऐसा करना आवश्यक है तो वह स्वयं अपने ही आदेशों को रद्द करने या उसका पुनर्विलोकन करने से प्रवारित नहीं है।"

18. इसी मामले में न्या० बी० पी० जीवन रेड्डी ने अपने पृथक् निर्णय में इस प्रकार कहा है—

"न्यायालय का यह कर्तव्य है कि जब भी उसकी जानकारी में यह बात लाई जाए कि उसके कुछ आदेश तथ्यों के गलत या भ्रमपूर्ण धारणा के आधार पर पारित किए गए हैं और उन आदेशों के कार्यान्वयन के गम्भीर परिणाम होंगे, तो वह अपने ही आदेशों का परिशोधन, पुनरीक्षण या उसे रद्द कर सकता है। न्यायालय के किसी कार्य से किसी पर भी प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए। सिसरो के मतानुसार 'ऐसी सभी बातों में, जिसके संबंध में विद्वान् व्यक्तियों के बीच विरोध हो, इस बात को स्पष्ट रूप से समझने के अलावा अन्य और कोई महत्वपूर्ण बात नहीं है कि हम न्याय के लिए पैदा हुए हैं और वह अधिकार किसी राय (निर्णय) में नहीं बल्कि प्रकृति में आधारित है।' जेम्स मेडीसन द्वारा इसी विचार का उल्लेख किया गया था। (दि फैडरलिस्ट नं० 51 पृ० 352)। उनका कहना है कि "न्याय करना सरकार का ध्येय होता है। यही समाज का भी ध्येय है। इसी बात का सदैव पालन किया जाता रहा है और सदैव पालन किया जाता रहेगा जब तक कि वह प्राप्त न हो जाए अथवा जब तक कि इस प्रयास या प्रयत्न में स्वतंत्रता नष्ट नहीं हो जाती।"

19. "मैं एक बार और केवल एक बार ही बोलता हूं" अर्थात् 'हम एक बार ही विधि की घोषणा करते हैं, अनेक बार नहीं', इस बात से विधि के अर्थान्वयन के क्षेत्र में सदैव एक अच्छी नीति के रूप में पूर्ति नहीं हो सकती क्योंकि इस बारे में कि विधि में किस बाबत क्या कहा गया है, किसी न्यायाधीश के निर्णय या मत से सदैव और सभी परिस्थितियों में अपने बन्धु न्यायाधीशों का अनुमोदन या समर्थन प्रकट नहीं होता क्योंकि कभी-कभी यह हो सकता है कि पूर्व न्यायाधीश ने विधि की दृष्टि में कोई भूल कर डाली हो या निर्वचन के भंवर जाल (भूल भुलैया) में उलझ या खो गया हो। अतः आपवादिक और असाधारण विवश-कारी परिस्थितियों में अथवा नई स्थितियों में यह न्यायालय नए दृष्टिकोण के आधार पर और समय बीतने के साथ-साथ विकसित नवीन विचारों, सिद्धांतों और अनुभूति के विकास को ध्यान में रखते हुए अपने पूर्वतर विनिर्णय या विनिश्चय पर पुनर्विचार करने के लिए और यदि आवश्यक हो तो 'पूर्वव्यापी अविधिमान्यता का सिद्धांत' लागू करते हुए गलत लिए गए निर्णय को उलट देने के लिए भी विधि और नैतिक बल द्वारा आबद्ध है। अन्यथा ऐसे ग़लत न्यायिक निर्वचन भी जो किसी संविधान या विधि का दशकों तक किया जाता रहा है, आने वाले समय में उस गलती को शुद्ध या दूर किए बिना ही सदियों तक उस क्षेत्र में छाए रहेंगे। निस्संदेह कोई भी ऐतिहासिक नजीर और दीर्घकालिक प्रथा किसी अपरिवर्तनीय निर्णय का सिद्धांत प्रदान नहीं कर सकती।

20. संविधान न्यायपीठों के अनेक प्रमुख विनिश्चयों सहित ऐसी निर्णयज विधियों की कमी नहीं है जिनमें व्यक्त किए गए पूर्वतर विचारों और प्रतिपादित सिद्धांतों पर पुनर्विचार किया गया है और उन्हें उलट दिया गया है। इस संबंध में **क्वीन बनाम ब्यूरिगार्ड**[1] वाले मामले में सुप्रीम कोर्ट आफ कनाडा के एक प्रतिष्ठित विनिश्चय के प्रति निर्देश करना सुसंगत होगा जिसमें मुख्य न्यायमूर्ति डिक्सन ने कनेडियन कांस्टीट्यूशन ऐक्ट, 1867, सैक्शन 100 के सांविधानिक उपबंधों का निर्वचन करने में 'कठोर अर्थान्वियन वाले तर्क' को अस्वीकार कर दिया था और इस प्रकार मत व्यक्त किया था—

> "इन तर्कों में से प्रथम तर्क के संबंध में मैं समझता हूं कि धारा 100 संसद् पर न्यायाधीशों के लिए ठीक वैसी ही पेंशन का, जो वे वर्ष 1867 में प्राप्त करते थे, प्रदान करते रहने का कर्तव्य अधिरोपित नहीं करती है। कनाडा का कांस्टीट्यूशन 119 वर्षीय पुराने डिब्बे (कास्केट) में हमेशा के लिए बंद नहीं है। वह जीवित है और सांस लेता है और देश और उसकी जनता के विकास के साथ-साथ चलते हुए बढ़ते रहने में समर्थ है। तदनुसार, यदि संविधान में उन बातों और ऐसी कई चीजों को समाविष्ट किया जा सकता है जो 1867 में अज्ञात थी, जैसे कि वायुयान, न्युक्लीयर (नाभिकीय) ऊर्जा, जल विद्युत् शक्ति आदि, तो निश्चित ही धारा 100 को यह कहते हुए बोझिल बनाना नहीं होगा कि शब्द 'पेंशन' जैसा कि स्वीकृत रूप से 1867 में उसका अर्थ समझा जाता था, आज 'पेंशन' पद के एक भिन्न अर्थ बोध पर आधारित परिसंघीय विधान का समर्थन कर सकता है।"

21. हाल ही में गतिशील न्यायिक क्रियावाद के कारण इस क्षेत्र में अद्भुत और अपूर्व विकास हुआ है। इस संबंध में निम्नलिखित मामलों के प्रति निर्देश किया जा सकता है—(1) **बंगाल इम्युनिटी कंपनी लि० बनाम बिहार राज्य और अन्य**[2], (2) **शमशेर सिंह और एक अन्य बनाम पंजाब राज्य**[3], (3) **भारत संघ बनाम संकल चंद हिम्मतलाल शेठ और एक अन्य**[4], (4) **दिल्ली परिवहन निगम बनाम डी० टी० सी० मजदूर कांग्रेस और अन्य**[5], (5) **सुभाष शर्मा और अन्य बनाम भारत संघ**[6], (6) **किहोतो होलोहन बनाम जखिल्लहू और अन्य**[7], (7) **इन्द्रा साहनी और अन्य बनाम भारत संघ**[8] और (8) **भारत संघ बनाम तुलसी राम पटेल**[9]।

22. उपर्युक्त निर्णयों के अतिरिक्त इस न्यायालय के कुछ ऐसे असाधारण विनिश्चय भी हैं जिनमें कतिपय सांविधानिक संशोधनों को संविधान के आधारभूत ढांचे का अतिक्रमण

---

1 1987 एल० आर० सी० (कांस्टीट्यूशन 180).

2 [1955] 2 एस० सी० आर० 603.

3 [1975] 1 उम० नि० प० 357=[1975] 1 एस० सी० आर० 814.

4 [1978] 3 उम० नि० प० 1129=[1978] 1 एस० सी० आर० 423, 483.

5 (1991) सप्ली० 1 एस० सी० सी० 600.

6 [1991] 2 उम० नि० प० 693=[1990] सप्ली० 2 एस० सी० आर० 433.

7 (1992) सप्ली० 2 एस० सी० सी० 651.

8 (1992) सप्ली० 3 एस० सी० सी० 210.

9 [1985] 4 उम० नि० प० 106=[1985] सप्ली० 2 एस० सी० आर० 131 पृ० 273, 274.

करने वाला पाया गया था और परिणामतः उन संशोधनों को शून्य घोषित कर दिया गया था। देखिए **महामहिम केशवानंद भारती श्रीपादगलवरु** बनाम **केरल राज्य**[1] जो 13 न्यायाधीशों वाली न्यायपीठ द्वारा विनिश्चित किया गया था और जिसमें **आई० सी० गोलक नाथ और अन्य** बनाम **पंजाब राज्य और एक अन्य**[2] में प्रतिपादित विधि की प्रतिपादना को उलट दिया गया था।

23. इसके साथ ही निम्नलिखित निर्णय भी देखिए—(1) **वामन राव और अन्य आदि आदि** बनाम **भारत संघ और अन्य**[3], (2) **मिनर्वा मिल्स लि० और अन्य** बनाम **भारत संघ**[4], (3) **सिंथेटिक एण्ड केमिकल्स लि० आदि** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य और अन्य**[5], (4) **सचिव, सिंचाई विभाग, उड़ीसा राज्य और अन्य** बनाम **जी० सी० राय और एक अन्य**[6], (5) **रघुनाथ राव गणपत राव** बनाम **भारत संघ**[7] और (6) **आर० सी० पौडयाल** बनाम **भारत संघ**[8]।

24. **पोडयाल वाले मामले में** बहुमत इस प्रकार का है—

> "किसी सांविधानिक दस्तावेज का निर्वचन करने में 'शब्द संकल्पनाओं का केवल ढांचा होते हैं और संकल्पनाओं में स्वयं शब्दों की तुलना में कहीं अधिक परिवर्तन हो सकता है।' स्वयं संकल्पनाओं के परिवर्तन का महत्व महत्वपूर्ण होता है और सांविधानिक विवाद्यकों को उनके विकास को स्वीकार किए बिना केवल शब्दों का अर्थ लगा कर नहीं सुलझाया जाता है।"

25. स्वस्थ न्यायपालिका के लिए हमारी व्यग्र जिज्ञासा और न्याय के लिए प्रेम के कारण ही हम न्याय प्रणाली की रचना की परीक्षा करेंगे और इन दोनों संरचनात्मक प्रश्नों का, जो कि परीक्षा के लिए यहां उद्भूत हुए हैं, पूरी तरह अलग रहते हुए और ऋजुतापूर्वक तथा किसी भी प्रकार के हित, निष्ठा, बाध्यता या पूर्व प्रतिबद्धता से मुक्त रहते हुए केवल वस्तुपरक कसौटी के आधार पर उत्तर देने का प्रयास करेंगे क्योंकि सुसंगत सांविधानिक उपबंधों के निर्वचन के संबंध में दिया जाने वाला निर्णय न्यायपालिका की स्वतंत्रता की रक्षा करने के लिए एक दुर्ग को सुनिश्चित करने के लिए आशयित है।

26. हम फिलहाल उन घटनाओं का और देश के तथा विदेश के कुछ विद्वान् प्रतिष्ठित न्यायाधीशों, प्रसिद्ध विधिवेत्ताओं और विधि आयोग के विचारों सहित, जिनके कारण **गुप्ता वाले मामले** के विनिश्चय पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता हुई है अधिकांश ऐतिहासिक सामग्री का विषयवार वर्णन करेंगे।

---

1 [1973] 2 उम० नि० प० 159=[1973] सप्ली० एस० सी० आर० 1.
2 [1967] 2 एस० सी० आर० 762.
3 [1981] 4 उम० नि० प० 543=[1981] 2 एस० सी० आर० 1.
4 [1981] 3 उम० नि० प० 146=[1981] 1 एस० सी० आर० 206.
5 [1989] सप्ली० 1 एस० सी० आर० 623.
6 (1992) 1 एस० सी० सी० 508.
7 ए० आई० आर० 1993 एस० सी० 1267=1993 (1) जे० टी० 374.
8 1993 (1) स्केल 489.

(1) 1987 की रिट याचिका सं० 1303 (1985 की रिट याचिका सं० 13003 और 1987 की रिट याचिका सं० 302 सहित) में तारीख 26.10.1990 को किए गए निर्देश के आदेश में (देखिए सुभाष शर्मा वाला मामला) यह सुस्पष्ट रूप से कहा गया है कि **गुप्ता वाले मामले** में बहुमत के दृष्टिकोण की सत्यता पर न्यायाधीशों की एक बृहत्तर न्यायपीठ द्वारा पुनर्विचार किए जाने की आवश्यकता है।

(2) इस बात पर ध्यान दिए जाने की आवश्यकता है कि यहां तक कि **गुप्ता वाले मामले** में बहुमत भी उस बात से संतुष्ट हुआ प्रतीत नहीं होता जो कुछ उन्होंने न्यायाधीशों की नियुक्ति की सांविधानिक स्कीम के संबंध में समझा है, उदाहरणार्थ यह कि उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के चयन और नियुक्ति की अन्तिम शक्ति केन्द्रीय सरकार में निहित है।

वास्तव में न्या० भगवती ने (जैसे कि माननीय मुख्य न्यायमूर्ति उस समय थे) जिन्होंने मुख्य निर्णय सुनाया है, इस कटु आलोचना का उत्तर देते हुए कि केन्द्रीय सरकार द्वारा उच्चतर न्यायपालिका के न्यायाधीशों की नियुक्ति की पद्धति और चयन की प्रक्रिया ने न्यायपालिका की स्वतंत्रता को नष्ट कर दिया है, स्वयं ही निम्नलिखित शब्दों में कुछ सुझाव प्रस्तुत किए हैं—

> "हम तो यह सुझाव देना बेहतर समझेंगे कि उच्चतम न्यायालय अथवा उच्च न्यायालय के किसी न्यायाधिपति/न्यायमूर्ति की नियुक्ति के बारे में राष्ट्रपति को सिफारिश करने के लिए एक उच्च कोटि का पाण्डित्यपूर्ण समूह होना चाहिए। सिफारिश करने वाला प्राधिकरण अधिक व्यापक रीति का होना चाहिए और व्यापकतर हितों के साथ ही परामर्श किया जाना चाहिए। यदि पाण्डित्यपूर्ण समूह ऐसे व्यक्तियों से गठित किया गया हो जिनसे यह प्रत्याशा की जाती है कि उन्हें ऐसे व्यक्तियों का ज्ञान है जो कि न्यायपीठ पर नियुक्ति के लिए उपयुक्त होंगे तथा वे जानते हैं कि नियुक्ति के लिए कौन से गुण अपेक्षित होंगे—और यह अन्तिम अध्यपेक्षा पूर्णतः अत्यावश्यक है—तो उचित प्रकार के न्यायाधिपतियों को अभिप्राप्त करने हेतु यह एक महत्वपूर्ण कदम होगा और वे न्यायाधिपति इन अर्थों में वस्तुतः स्वतंत्र होंगे जिनमें कि हमने ऊपर उपदर्शित किया है और हम समाज के वंचित तथा शोषित वर्गों के लिए महत्वपूर्ण तथा सार्थक रूप से न्यायिक प्रक्रिया में विनिधान करेंगे। यहां हम इस बात का उल्लेख कर दें कि आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैण्ड जैसे देशों में भी अब यह दृष्टिकोण पनपने लगा है कि उच्चतर न्यायपालिका की नियुक्ति के लिए एक न्यायिक आयोग की स्थापना की जानी चाहिए।"

गुप्ता वाले मामले में सुझाए गए और अनुशंसित उक्त सुधार की प्रतिपादना से यह उपदर्शित होता है कि उस मामले में विद्वान् न्यायाधीश इस प्राधिकार को अनन्यतः कार्यपालिका को अर्थात् उच्चतर न्यायपालिका के लिए अभ्यर्थियों के चयन के मामले में चयन के अधिकार को कार्यपालिका को सौंपे जाने से खुश नहीं थे।

(3) न्या० वाई० वी० चन्द्रचूड़ ने, जिन्होंने लगभग 8 वर्षों तक भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के रूप में भारतीय न्यायपालिका की अध्यक्षता की है, 26 फरवरी,

1983 को अर्थात् **गुप्ता वाले मामले में** 30 दिसम्बर, 1981 को दिए गए विनिश्चय के काफी समय बाद पटना में आयोजित एक सेमीनार का उद्घाटन करते हुए यह स्वीकार किया है कि उच्चतर न्यायपालिका के लिए सदस्यों के चयन और नियुक्ति की वर्तमान प्रक्रिया 'पुरानी' हो चुकी है और उसका 'एक भव्य समापन किया जाना चाहिए ।' उनके मतानुसार सुझाए गए कोलिजियम (पाण्डित्यपूर्ण समूह) द्वारा की गई सिफारिश किसी एकल व्यक्ति द्वारा अपने चैम्बर की संकीर्ण सीमा और गोपनीयता में लिए गए विनिश्चय की तुलना में कहीं अधिक विश्वसनीय और स्वीकार्य होगी । देखिए **आर० के० हेगडे कृत 'दि जुडीशियरी टूडे' : ए प्ली फार कोलिजियम 38.**

(4) विधि आयोग ने, जिसकी अध्यक्षता न्यायमूर्ति डी० ए० देसाई ने की थी, "ए न्यू फोरम फार जुडीशियल अपायंटमेंट्स" (न्यायिक नियुक्तियों के लिए एक नया मंच) पर अपनी 121वीं रिपोर्ट में अध्याय IX में "परिणाम" शीर्षक के अन्तर्गत उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले में एक परामर्शदाता निकाय के रूप में काम करने के लिए एक राष्ट्रीय न्यायिक आयोग की स्थापना की सिफारिश करते हुए इस प्रकार निष्कर्ष निकाला है—

> "यदि यहां सुझाया गया ढांचा स्वीकार्य है तो संविधान में संशोधन करने की आवश्यकता होगी । उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश और उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति करने की शक्ति, जो आज भारत के राष्ट्रपति में निहित है, भारत के राष्ट्रपति में ही निहित बनी रहेगी । इस शक्ति का प्रयोग राष्ट्रीय न्यायिक सेवा आयोग के साथ परामर्श करते हुए इस नई व्यवस्था के अन्तर्गत किया जाना चाहिए । इस सीमा तक अनुच्छेद 124 और अनुच्छेद 217 में संशोधन करना होगा । इसी प्रकार अनुच्छेद 233 और 234 में भी संशोधन करना होगा ।"

(5) इस संदर्भ में डा० बी० आर० अम्बेडकर ने जो कुछ संविधान के प्रारूप में उच्चतर न्यायपालिका से संबंधित समस्याओं के बारे में विचार-विमर्श के दौरान कहा है, उनका स्मरण करना उपयुक्त होगा । वह इस प्रकार है—

> "जिन परिस्थितियों में हम आज रह रहे हैं, जहां कि उत्तरदायित्व की भावना का उस विस्तार तक विकास नहीं हुआ है जितना कि यूनाइटेड स्टेट्स (संयुक्त राज्य) में हुआ है, मुझे यह प्रतीत होता है कि नियुक्तियों को किसी प्रकार के आरक्षण या निर्बन्धन के बिना अर्थात् केवल वर्तमान कार्यपालिका की सलाह पर ही राष्ट्रपति द्वारा किए जाने के लिए छोड़ना खतरनाक होगा। इसी प्रकार मुझे यह भी प्रतीत होता है कि प्रत्येक ऐसी नियुक्ति के लिए, जो कार्यपालिका करना चाहती है, विधान मण्डल की सहमति का होना आवश्यक बनाना भी कोई उपयुक्त उपबंध नहीं है ।"

संविधान के प्रारूप पर चर्चा के दौरान उच्चतर न्यायपालिका में अभ्यर्थियों की नियुक्ति हेतु चयन के लिए अनेक सदस्यों द्वारा इस बारे में अनेक आनुकल्पिक तरीके सुझाए गए जो कि संसार के भिन्न-भिन्न भागों में प्रचलित हैं ।

(6) यहां तक कि अनेक देशों में भी, जहां कि न्यायाधीशों की नियुक्ति करने की शक्ति अनन्य रूप से और निर्बाध रूप से कार्यपालिका में निहित है, कुछ तीव्र सुधारों की शुरुआत आवश्यक समझी गई।

(i) यूनाइटेड किंगडम में हाल ही में यह राय व्यक्त की गई थी कि उच्चतर न्यायपालिका में नियुक्ति के लिए व्यक्तियों के चयन के मामले में लार्ड चांसलर की सहायता करने के लिए एक सलाहकार निकाय होना चाहिए।

(ii) 1972 में न्यायपालिका पर न्यायमूर्ति उप-समिति (जस्टिस सब-कमेटी आन दि जुडिशियरी) ने यह सिफारिश की थी कि जब कि नियुक्ति तंत्र का नियंत्रण लार्ड चांसलर के पास रहना चाहिए साथ ही इस काम में उसकी एक लघु सलाहकार नियुक्ति समिति द्वारा सहायता भी की जानी चाहिए।

(iii) संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति ने यूनाइटेड स्टेट्स कोर्ट आफ अपील में नियुक्ति के लिए सर्वाधिक अर्हता प्राप्त व्यक्तियों के नामों की सिफारिश करने के लिए 'एक सर्किट जजेस नामीनेटिंग कमीशन' की स्थापना की है।

(iv) संयुक्त राज्य अमरीका के फैडरल कोर्ट के न्यायाधीश की नियुक्ति के लिए संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति के नामनिर्देशिती को 'पुष्टिकरण सुनवाई' के लिए सीनेट जुडीशियरी कमेटी के समक्ष हाजिर होना पड़ता है जो सामान्यतया कुछ दिनों तक चलती है और जिसके दौरान नामनिर्देशित व्यक्ति का विधिक दर्शन और उसकी योग्यता जनता के सामने उजागर होती है। तत्पश्चात् सीनेट जुडीशियरी कमेटी सीनेट के पक्ष में या उसके विरुद्ध अपनी सिफारिशें करती है जो अभ्यर्थी का अनुमोदन करती है या उसे अस्वीकार कर देती है।

(v) आस्ट्रेलिया के मुख्य न्यायमूर्ति ने न्यायाधीशों के चयन और नियुक्ति के लिए आस्ट्रेलियन पद्धति से असंतुष्ट होने पर, जिसमें राजनैतिक प्रभाव के लिए अवसर की व्यवस्था की गई है, जुलाई, 1977 में इस बात की वकालत की थी कि अब समय आ गया है जब आस्ट्रेलिया में एक जुडीशियल अपायंटमेंट्स कमेटी की स्थापना की जाए जिसमें न्यायाधीश, विधिवेत्ता और निस्संदेह ऐसे साधारण व्यक्ति भी सम्मिलित हैं जो नियुक्त किए जाने वाले संभाव्य व्यक्तियों की उपलब्धताओं की जानकारी रखते हों। (देखिए गारफील्ड बारविक कृत "दि स्टेट आफ आस्ट्रेलियन जुडीकेचर" 51 आस्ट्रेलिया एल० जे० 480).

(vi) रायल कमीशन आफ आस्ट्रेलिया आन कोर्ट्स, जिसकी अध्यक्षता न्यायमूर्ति बीटल ने की थी, इस बात की सिफारिश की थी कि उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति सहित सभी न्यायिक नियुक्तियों पर एक

न्यायिक आयोग द्वारा विचार किया जाना चाहिए। देखिए हैरी गिब्स, कृत "दि अपायंटमेंट आफ जजेस", 61 आस्ट्रेलिया एल० जे० 7, 8)।

इस प्रकार उच्चतर न्यायपालिका में न्यायाधीशों के चयन और नियुक्ति के मामले में और संपूर्ण न्यायिक प्रणाली की पुनः संरचना करने के लिए वर्तमान प्रक्रिया और कार्यप्रणाली में महत्वपूर्ण परिवर्तन करने के लिए भारत और विदेश में अनेक प्रस्ताव और सिफारिशें की गई हैं।

(7) संविधान (67वां संशोधन) विधेयक, 1990 (1990 का विधेयक सं० 93) लोक सभा (संसद) में 18-5-90 को पुरःस्थापित किया गया था जिसके द्वारा राष्ट्रपति को (भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को छोड़कर) उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश, उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति की नियुक्ति के बारे में और एक उच्च न्यायालय से किसी अन्य उच्च न्यायालय में न्यायाधीश के स्थानान्तरण के बारे में सिफारिश करने के लिए 'राष्ट्रीय न्यायिक आयोग' के नाम से ज्ञात एक उच्च स्तरीय न्यायिक आयोग का गठन करने के लिए सशक्त किया गया था और उक्त आयोग में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति, जो कि आयोग का अध्यक्ष होगा और ज्येष्ठता में मुख्य न्यायमूर्ति के बाद के उच्चतम न्यायालय के दो अन्य न्यायाधीश सम्मिलित होंगे और किसी भी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति के बारे में सिफारिश करने के लिए इस आयोग में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति, जो आयोग का अध्यक्ष होगा, संबंधित राज्य का मुख्य मंत्री या यदि अनुच्छेद 356 के अधीन कोई उद्घोषणा उस राज्य में प्रवृत्त है तो उस राज्य का राज्यपाल, उच्चतम न्यायालय का एक और ज्येष्ठतम न्यायाधीश, उच्च न्यायालय का मुख्य न्यायमूर्ति और उस उच्च न्यायालय का एक अन्य ज्येष्ठतम न्यायाधीश सम्मिलित होंगे।

27. उद्देश्यों और कारणों के कथन में यह घोषणा की गई है कि "ऐसी नियुक्तियों और स्थानान्तरणों के संबंध में कार्यपालिका के मनमानेपन के संबंध में की जाने वाली आलोचनाओं को दूर करने और साथ ही अविलम्ब ऐसी नियुक्तियां करने के लिए भी" आयोग की स्थापना की जाएगी। संविधान में एक नए भाग 13क को अन्तःस्थापित करते हुए किए गए प्रस्थापित संशोधन प्रकटतः भारत के विधि आयोग द्वारा अपनी 121वीं रिपोर्ट में की गई सिफारिशों को ध्यान में रखते हुए है जिसमें इस प्रणाली में परिवर्तन की आवश्यकता पर जोर दिया गया है। संशोधन विधेयक द्वारा राष्ट्रीय न्यायिक आयोग की सिफारिशों को कार्यान्वित करने के लिए अनुच्छेद 124(2), 217(1), 222(1) और 231(2)(क) में कतिपय संशोधन किए जाने हैं।

28. इन संशोधनों और उद्देश्यों और कारणों के कथन के पाठ और भाषा उनके द्वारा सुझाए गए आधार पर न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले में स्थिति में सुधार करने के लिए इस न्यायालय के सुप्रसिद्ध न्यायाधीशों, विधिवेत्ताओं, बार एसोसिएशन, प्रतिष्ठित अधिवक्ताओं, विधि आयोग और अनेक समितियों की सिफारिशों के अनुरूप है।

29. जब इस न्यायालय द्वारा ऐसा निर्देश-आदेश 26-10-1990 को पारित किया गया था उस समय यह आशा की गई थी कि संविधान में प्रस्थापित संशोधन उच्चतर

1993(10) eILR(PAT) SC 1

न्यायपालिका में उपयुक्त और योग्य व्यक्तियों (कार्मिकों) के चयन और उनकी नियुक्ति के मामले में न्यायपालिका द्वारा लम्बे समय से अनुभव की जा रही व्यथा से मुक्ति दिलाएगा तब संविधान संशोधन विधेयक संसद के समक्ष लम्बित था। उक्त विधेयक को ध्यान में रखते हुए इस न्यायालय ने **सुभाष शर्मा वाले मामले**[1] में अपने निर्णय के पैरा 50 में इस प्रकार कथन किया है—

> "संशोधन किए जाने और एक राष्ट्रीय न्यायिक आयोग स्थापित किए जाने की स्थिति में, इस तथ्य को देखते हुए कि संशोधन द्वारा भारत का मुख्य न्यायमूर्ति इस आयोग का अध्यक्ष बन जाएगा, उपरोक्त एस० पी० गुप्ता वाले मामले के विनिश्चयाधार के औचित्य की परीक्षा करना आवश्यक नहीं होगा। उस स्थिति में यदि आयोग गठित नहीं किया जाता है, तो उपरोक्त दोनों प्रश्नों पर, जिनका देश में न्यायिक प्रणाली के सुचारु रूप में कार्य करने के लिए विशेष महत्व है, विचार किया जाना अपेक्षित है और इस मामले में शीघ्रता बरती जानी चाहिए। अतएव, हम यह सुझाव देते हैं कि उपरोक्त दोनों प्रश्नों से संबंधित रिट याचिका पर शीघ्र सुनवाई और अधिमानतः इस वर्ष की समाप्ति से पूर्व की जा सकती है।"
>
> (रेखांकित शब्दों पर बल दिया गया)

30. यद्यपि संशोधन के पारित किए जाने और उसके कार्यान्वयन की सांस रोक कर और अत्यधिक उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा की जा रही थी तथापि इस संबंध में कोई भी निश्चित बात नहीं निकली और इसके विपरीत दुर्भाग्यवश यह विधेयक नवीं लोक सभा के विघटन के परिणामस्वरूप व्यपगत हो गया और अब इस विधेयक के पुनःस्थापन के लिए कोई भी आशा की किरण दिखाई नहीं देती।

31. अनुभवी न्यायाधीशों और विधिवेत्ताओं की राय और विवशकारी आवश्यकता सहित उक्त संक्षिप्त ऐतिहासिक सार कथन को ध्यान में रखते हुए हम अब अन्तिम क्षण में **गुप्ता वाले मामले** के विनिश्चय पर निश्चित ही किसी काल्पनिक निर्वचन के आधार पर नहीं वरन् सुसंगत सांविधानिक उपबंधों के उचित और न्यायसंगत निर्वचन के आधार पर और साथ ही इस बात की स्थिति की खोज करने के लिए स्वयं साहसपूर्वक पुनर्विचार करने का काम आरंभ करते हैं कि क्या किसी विधायी प्रक्रिया के बजाय स्वयं संविधान के मूल आशय के क्षेत्र में प्रवेश करते हुए हमारे द्वारा आवश्यक परिवर्तन किए जा सकते हैं जिसके द्वारा निस्संदेह न्यायपालिका की स्वतंत्रता का अतिक्रमण या ह्रास होने या उसे नुकसान पहुंचने से रोकने के लिए कोई आश्रय (पैलेडियम) सुनिश्चित किया जा सकता है। हमारी यह आशंका है कि अन्यथा न्यायपालिका के उचित कार्यकरण में चमत्कारी रूप से भीषण और विपत्तिपूर्ण परिणाम निकलेंगे और स्वयं यह प्रणाली ही कार्य करने में असमर्थ हो जाएगी।

32. प्रतिष्ठित ज्येष्ठ काउन्सेल अर्थात् मैसर्स एफ० एस० नारीमन, राम जेठमलानी कपिल सिबल, पी० पी० राव और शांति भूषण के समूह ने निरन्तर खुले रूप से **गुप्ता वाले**

[1] [1991] 2 उम० नि० प० 693=[1990] सप्ली० 2 एस० सी० आर० 433.

1993(10) eILR(PAT) SC 1

मामले के विनिश्चय पर पुनर्विचार करने की मांग की है और अपने व्यापक विद्वतापूर्ण ज्ञान के साथ विभिन्न सांविधानिक उपबंधों को प्रकाश में लाते हुए अपने तर्क प्रस्तुत किए हैं। उनके मतानुसार **गुप्ता वाले मामले** के विनिर्णय में उच्चतर न्यायपालिका के न्यायाधीशों के चयन और नियुक्ति तथा एक उच्च न्यायालय से दूसरे उच्च न्यायालय में न्यायाधीशों के स्थानान्तरण तथा न्यायाधीशों की संख्या नियत किए जाने के क्षेत्र में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की भूमिका के संबंध में अत्यधिक मूल प्रश्न निहित है। अपनाई जाने वाली वर्तमान प्रक्रिया का व्यापक विश्लेषण करने के पश्चात् यह गम्भीरतापूर्वक दलील दी गई है कि न्यायाधीशों के चयन और नियुक्ति के क्षेत्र में 'प्रधानता का आत्यन्तिक अधिकार' तथा 'चयन की स्वतंत्रता', जो अब अनन्यतः एक प्रमुख सांविधानिक कृत्यकारी (अंग) अर्थात् कार्यपालिका में निहित है और जिसे **गुप्ता वाले मामले** में इस न्यायालय का अनुमोदन भी प्राप्त हो चुका है, सामान्यतया सांविधानिक प्रक्रिया के व्यापक राजनीतिकरण के साथ समाप्त हो गई है जिसके परिणामस्वरूप इस संस्था को अत्यधिक हानि पहुंची है और संविधानवाद और 'विधि शासन' की मूल आधारशिला ही नष्ट हो गई है। अपने तर्कों के क्रम में यह दलील दी गई है कि प्रचलित कार्य पद्धति के कारण अत्यधिक मूल्यवान सांविधानिक अधिकार ही संकटग्रस्त हो गए हैं और उन्हें 'अब जीवित रहने के लिए आराम देने की आवश्यकता है' और इसलिए इस प्रकार के सभी अतिक्रमण के संबंध में रोग-निरोधक प्रतिषेध अनिवार्य है।

33. सभी काउन्सेल ने प्रभावपूर्ण रूप से यह विवाद्य प्रश्न उठाया है कि न्यायपालिका के प्राधिकार पर किस प्रकार कोई भावात्मक उदासीनता अधिरोपित की जा सकती है और किस प्रकार न्यायपालिका की स्वतंत्रता को लटकी हुई स्थिति में रखा जा सकता है जबकि स्वयं संविधान में ही अनुच्छेद 50 के अंतर्गत न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक् करते हुए एक स्पष्ट सीमारेखा को मान्यता दी गई है जिसके द्वारा सांविधानिक नीति के सुदृढ़ सिद्धांत को अपनाया गया है और जो कि एक सुदृढ़ न्यायिक प्रणाली के लिए अंतर्निहित आधार है।

34. **गुप्ता वाले मामले** में बहुमत के निर्णय के विरुद्ध साधारणतः उक्त विरोधस्वर के होते हुए भी उनमें कहीं-कहीं मतभेद है जो इस रूप में है कि जब कि कुछ विद्वान् न्यायाधीशों ने यह दृष्टिकोण अपनाया है कि न्यायिक प्रशासन के सभी मामलों में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय को प्रधानता दी जानी चाहिए, वहीं कुछ का यह मत है कि आपवादिक परिस्थितियों में अभिलिखित किए जाने वाले और भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को संसूचित किए जाने वाले पर्याप्त और सबल कारणों से कार्यपालिका भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के प्रस्ताव के प्रति वीटो (निषेधाधिकार) का प्रयोग कर सकती है। इसी प्रकार न्यायाधीशों की संख्या नियत किए जाने का मामला न्यायालय के विचार योग्य होने के संबंध में भी कुछ मतभेद है।

35. भारत संघ की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् ज्येष्ठ काउन्सेल, श्री परासरन और विद्वान् महान्यायवादी ने सांविधानिक विधि के अपने ठोस ज्ञान और बौद्धिक सामर्थ्य के साथ नोटिस पर न्यायालय को अपनी मूल्यवान् सहायता प्रदान करते हुए याचियों की ओर से दी गई इन दलीलों का प्रत्याख्यान किया है और यह कहा है कि संविधान के विनिर्माताओं के आशय की पूर्ण रूप से अवहेलना करते हुए सभी काउंसेल, जो कि **गुप्ता वाले मामले** पर पुनर्विचार करने की ईप्सा कर रहे हैं, अपने व्यक्तिगत मूल्य अधिरोपित करते हुए और संवि-

धान के मूल आशय के भेष में संविधान के अन्तर्गत अपने व्यक्तिगत दर्शन को थोपते हुए **गुप्ता वाले मामले** में प्रतिपादित तर्कपूर्ण सिद्धांतों को अस्थिर बनाने का निष्फल प्रयास कर रहे हैं और यह कि उनके तर्कों का तात्पर्य इस दृश्यमान द्वेषभाव से दूषित है जिससे सांविधानिक उपबंधों का गलत अर्थान्वियन करते हुए और उससे विकृत अनुमान निकालते हुए और उन्हें विधिज्ञ अनुमोदन प्रदान करते हुए **गुप्ता वाले मामले** के दृष्टिकोणों को उछाले जाने का उनका पूर्ण निश्चय उपदर्शित होता है ।

36. अंतर्वलित महत्वपूर्ण विवाद्यकों के प्रत्येक पहलू पर प्रकाश डालते हुए श्री परासरन ने यह कहते हुए अपना तर्क आगे बढ़ाया है कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय को प्रधानता दिए जाने के अभिवाक् पर विचार-विमर्श किया जा चुका है और अंततोगत्वा उसकी संविधान सभा द्वारा उपेक्षा कर दी गई थी और इसके बावजूद इस न्यायालय ने निस्संदेह **गुप्ता वाले मामले** में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की प्रधानता पर जोर दिया है हालांकि ऐसा उन्होंने स्पष्ट भाषा में नहीं कहा और इसलिए **गुप्ता वाले मामले** में अधिकथित सिद्धांतों में जो कि इस क्षेत्र में अब तक अभिभावी हैं और जो न्यायाधीशों की नियुक्ति करने के क्षेत्र में सफलतापूर्वक और संतोषजनक रूप से कार्य कर रहे हैं, कोई भी हस्तक्षेप या आमूल-चूल परिवर्तन किया जाना अपेक्षित नहीं है । उनके मतानुसार वर्तमान सांविधानिक स्कीम, जिसे कि संविधान के निर्माताओं द्वारा विधायी इतिहास, संविधान सभा की डिबेटों और भिन्न-भिन्न देशों—विशेष रूप से यूनाइटेड किंगडम और यू० एस० ए० में, जहां कि केवल कार्यपालिका को ही नियुक्तियां करने में प्राधिकार प्राप्त है, नियुक्ति करने के प्रचलित विभिन्न ढंगों पर विचार-विमर्श करने के पश्चात् प्रतिपादित किया गया था, आधारभूत रूप से ठोस है ।

37. विभिन्न सुसंगत सांविधानिक उपबंधों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हुए यह दलील दी गई है कि न्यायपालिका की स्वतंत्रता पूरी तरह सुरक्षित है । उनके मतानुसार, दूसरे पक्षकारों द्वारा अनुच्छेद 50 के आधार पर दी गई दलील सुआधारित नहीं है और यह कि संविधान में दूर से भी उच्चतर न्यायालयों में न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले में कार्यपालिका की भूमिका के अपवर्जन का कहीं भी कोई सुझाव नहीं दिया गया है ।

38. विद्वान् महान्यायवादी ने अपने साधारण तर्क के अतिरिक्त यह दलील दी है कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय को पिछले दशक के दौरान केवल एक अवसर को छोड़कर इस प्रणाली के वास्तविक कार्यकरण में अत्यधिक स्वीकृति प्राप्त हुई है और न्यायाधीशों की नियुक्ति करने में, यदि कोई असम्यक् विलम्ब होता है तो उसे सांविधानिक कृत्यकारी की नियुक्ति करने के लिए परमादेश जारी करते हुए दूर किया जा सकता है और अंततोगत्वा **गुप्ता वाले मामले** में न्या० पाठक के (जैसे कि विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति तब थे) मत को स्वीकार किए जाने की प्रार्थना की है ।

39. उन विभिन्न राज्यों में से जिन्होंने नोटिस दिए जाने पर अपने-अपने विद्वान् महाधिवक्ताओं की मार्फत अपनी उपस्थिति दर्ज कराई है, कर्नाटक राज्य ने **गुप्ता वाले मामले** में बहुमत की राय पर पुनर्विचार किए जाने की प्रार्थना की है और दूसरे राज्यों—अर्थात् गुजरात, असम, सिक्किम और उड़ीसा ने **गुप्ता वाले मामले** के विनिश्चय का पूरी तरह समर्थन किया है । मेघालय राज्य ने पक्ष या विपक्ष में कोई भी निश्चित राय व्यक्त नहीं

की। नागालैण्ड राज्य का अभिभाक् भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय को प्रधानता दिए जाने और साथ ही एक राष्ट्रीय न्यायिक आयोग की नियुक्ति किए जाने के लिए है।

40. सिक्किम के विद्वान् महाधिवक्ता ने अपने मौखिक निवेदन में अपने राज्य द्वारा लिए गए पक्षाधार की पुष्टि की है और यह और कहा है कि प्रश्नगत विनिश्चय में अनन्यतः कार्यपालिका को प्रधानता दिया जाना किसी भी कमी से दूषित नहीं है।

41. विद्वान ज्येष्ठ काउंसेल, श्री आर० के० गर्ग ने अपने तर्क को सांविधानिक विधि में अपने प्रबल विधिक ज्ञान और अपने विपुल और व्यावहारिक अनुभव का उपयोग करते हुए और विधिशास्त्र की सर्वमान्य संकल्पना को ध्यान में रखते हुए पृथक्-पृथक् शीर्षों के अधीन विभिन्न उपबंधों का विश्लेषण करते हुए अपनी सामान्य वाक्पटुता के साथ यह दलील दी है कि ऐसी नियुक्ति कार्यपालिका में किसी पूर्ण शक्ति की कोई अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि वह भारत के मुख्य न्यायमूर्ति और संबंधित उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति के साथ प्रभावी परामर्श के माध्यम से ईप्सित विशेषज्ञ राय पर सम्यक् विचार-विमर्श करने के पश्चात् नियुक्ति की शक्ति की अभिव्यक्ति होनी चाहिए, यह कि ऐसी किसी भी दुर्भाग्यपूर्ण और अवांछनीय स्थिति की दशा में, जिसमें तीनों सांविधानिक कृत्यकारियों (अंगों) के बीच मतभेद हो, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय को प्रधानता दी जानी चाहिए और यह कि **गुप्ता वाले मामले** का विनिश्चय वहां तक दोषपूर्ण विधि है जहां तक वह भारत के मुख्य न्यायमूर्ति और उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायमूर्तियों की सिफारिश की उपेक्षा करते हुए नियुक्ति करने की शक्ति कार्यपालिका को प्रदान करती है। विद्वान काउंसेल ने **गुप्ता वाले मामले** में न्या० पाठक के विचारों का भी संतुलित विचार और अत्यधिक स्वीकार्य मानते हुए समर्थन किया है।

42. उक्त तर्कों के अतिरिक्त न्यायिक उत्तरदायित्व उप-समिति द्वारा, श्री प्रशांत भूषण द्वारा और दिल्ली उच्च न्यायालय बार एसोसिएशन द्वारा कुछ और लिखित तर्क फाइल किए गए हैं।

43. आरम्भ में ही हम यह बात स्पष्ट कर देते हैं कि यहां हम से किसी विनिर्दिष्ट मामले पर विचार करने की नहीं बल्कि केवल महत्वपूर्ण सिद्धांतों और अन्तर्वलित साधारण विवादास्पद समस्याओं को मोटे तौर पर अधिकथित करने की अपेक्षा की गई है।

44. अब हम सांविधानिक महत्व वाले उपर्युक्त अत्यधिक संवेदनशील (नाजुक) विवाद्यकों की किसी भी प्रकार की भावुकता और भावनात्मक पहलू या विद्वेष से अथवा काउंसेल की चकाचौंध करने वाली वाक्पटुता से जिसमें उन्होंने अपने परस्पर विरोधी विचारों के समर्थन में अपने-अपने तर्क प्रस्तुत किए हैं, प्रभावित हुए बिना और किसी भी द्वेष या प्रतिकूल प्रभाव के बिना न्यायसम्मत् रूप से परीक्षा करने के लिए बिना कोई पूर्वाग्रह रखते हुए अग्रसर होते हैं।

45. चूंकि संपूर्ण तर्क मुख्यतः न्यायपालिका की स्वतंत्रता के सिद्धांत के आधार पर ही दिए गए हैं इसलिए हम सबसे पहले इस प्रश्न का निपटारा करेंगे।

46. श्री पारासरन ने अपने तर्कों को बढ़ाते हुए यह दलील दी है कि तीनों प्रमुख सांविधानिक कृत्यकारियों (अंगों) का सांविधानिक प्रधान होने के नाते राष्ट्रपति, यथास्थिति भारत के संविधान के अनुच्छेद 74(1) के साथ पठित अनुच्छेद 74(1) और 217(1) के साथ पठित अनुच्छेद 124(2) में अनुध्यात किए गए अनुसार, मंत्रि परिषद, जिसके शीर्ष पर प्रधान मंत्री होता है, की सहायता और सलाह से उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति करता है, यह कि इस प्रक्रिया में केवल कार्यपालिका ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है और भारत का मुख्य न्यायमूर्ति केवल एक परामर्शदाता होता है और यह कि कार्यपालिका की कार्रवाई से न्यायपालिका की स्वतंत्रता का किसी भी प्रकार कोई ह्रास नहीं होता बल्कि इसके विपरीत वह न्यायिक पुनर्विलोकन की असाधारण शक्ति के साथ उन विभिन्न विनिर्दिष्ट उपबंधों द्वारा दृढ़तापूर्वक प्राप्त होती है, जो संविधान में अभिव्यक्त रूप से वर्णित हैं; जो इस प्रकार हैं—

(क) उच्चतम न्यायालय का अथवा उच्च न्यायालय का न्यायाधीश होने के लिए नियुक्त प्रत्येक व्यक्ति अपना पद ग्रहण करने से पहले क्रमश: अनुच्छेद 124(6) और 129 के अधीन विहित प्राधिकारी के समक्ष संविधान की तीसरी अनुसूची में यथा उपवर्णित यथास्थिति प्ररूप सं० 4 और 8 के अनुसार शपथ लेगा या प्रतिज्ञान करेगा जिस पर संबंधित न्यायाधीश किसी नियुक्ति प्राधिकारी के प्रति नहीं, बल्कि केवल भारत के संविधान के प्रति ही पूर्ण विश्वास और राजनिष्ठा रखता है (देखिए 1964 का विशेष निर्देश सं० 1)[1]।

(ख) वह पदावधि जो नियुक्त होने वाला व्यक्ति धारण करेगा स्वयं संविधान द्वारा ही नियत की गई है जिसमें यह कहा गया है कि नियुक्त किया गया न्यायाधीश किसी नियुक्ति प्राधिकारी के प्रसादपर्यन्त नहीं वरन् तब तक पद धारण करेगा जब तक वह अनुच्छेद 124(2) के अनुसार उच्चतम न्यायालय की दशा में 65 वर्ष और अनुच्छेद 219 के अनुसार किसी उच्च न्यायालय की दशा में 62 वर्ष की आयु प्राप्त नहीं कर लेता है।

(ग) उच्चतम न्यायालय या किसी उच्च न्यायालय का प्रत्येक न्यायाधीश ऐसे विशेषाधिकारों और भत्तों का तथा अनुपस्थिति, छुट्टी और पेंशन के संबंध में ऐसे अधिकारों का जो संसद् द्वारा बनाई गई विधि द्वारा या उसके अधीन अवधारित किए जाएं हकदार होगा तथा उनमें अनुच्छेद 125(2) और 221(2) द्वारा यथा प्रत्याभूत उसकी नियुक्ति के पश्चात् उसके लिए अहितकर रूप में कोई परिवर्तन नहीं किया जाएगा।

(घ) उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों को संदेय वेतन, भत्ते और पेंशन अनुच्छेद 112 (3) (घ) (i) में यथा आदिष्ट भारत की संचित निधि पर भारित होगी। किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की दशा में वेतन और भत्तों के संबंध में व्यय अनुच्छेद 202 (3) (घ) में यथा आदिष्ट प्रत्येक राज्य की संचित निधि पर भारित होगा किन्तु उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को संदेय पेंशन संविधान के

[1] [1965] 1 एस० सी० आर० 413 और 447 एफ-एच और 448 ए-बी.

अनुच्छेद 112 (3) (घ) (iii) के अनुसार भारत की संचित निधि पर भारित होगी।

प्राक्कलनों में जितने प्राक्कलन भारत की संचित निधि पर भारित व्यय से संबंधित हैं वे संसद में मतदान के लिए नहीं रखे जाएंगे किन्तु कोई भी बात संसद के किसी सदन में उन प्राक्कलनों में से किसी प्राक्कलन पर चर्चा को निवारित नहीं करती। [देखिए अनुच्छेद 113 (1)]। इसी प्रकार प्राक्कलनों में से जितने प्राक्कलन राज्य की संचित निधि पर भारित व्यय से संबंधित हैं वे विधान सभा में मतदान के लिए नहीं रखे जाएंगे किंतु कोई भी बात विधानमण्डल में उन प्राक्कलनों में से किसी प्राक्कलन पर चर्चा को निवारित नहीं करती है। [देखिए अनुच्छेद 203 (1)]।

(ङ) उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश को उसके पद से तब तक नहीं हटाया जा सकता जब तक साबित कदाचार या असमर्थता के आधार पर ऐसे हटाए जाने के लिए संसद के प्रत्येक सदन द्वारा उस सदन की कुल सदस्य संख्या के बहुमत द्वारा तथा उस सदन के उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के कम से कम दो तिहाई बहुमत द्वारा समर्थित समावेदन राष्ट्रपति के समक्ष उसी सत्र में रखे जाने पर राष्ट्रपति ने आदेश नहीं दे दिया है।

जहां तक उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों का संबंध है न्यायाधीश के हटाए जाने के लिए उक्त प्रक्रिया अनुच्छेद 124 (4) में समाविष्ट है और जहां तक उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का संबंध है ऐसी प्रक्रिया अनुच्छेद 124 (4) के साथ पठित अनुच्छेद 217 (1) के परन्तुक (ख) में समाविष्ट है। दूसरे शब्दों में एक ही प्रक्रिया यथावश्यक परिवर्तन सहित उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को लागू होती है।

(च) उच्चतम न्यायालय या किसी उच्च न्यायालय के किसी न्यायाशीश के, उसके कर्तव्यों के निर्वहन में किए गए आचरण के विषय में संसद में कोई चर्चा इसमें इसके पश्चात् उपबंधित रीति से उस न्यायाधीश को हटाने की प्रार्थना करने वाले समावेदन को राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत करने के प्रस्ताव पर ही होगी, अन्यथा नहीं जैसा कि संविधान में उपबंधित है (देखिए-अनुच्छेद 121 और 211)।

(छ) उच्चतम न्यायालय और प्रत्येक उच्च न्यायालय दोनों ही अभिलेख न्यायालय हैं और उन्हें अपने अवमान के लिए दण्ड देने की अन्तर्निहित शक्ति सहित ऐसे न्यायालय की सभी शक्तियां होंगी जो कि क्रमशः अनुच्छेद 129 और 215 में सशक्त की गई है। (देखिए **प्रीतम पाल बनाम मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय, जबलपुर**[1])

(ज) संपूर्ण न्यायिक कार्यवाहियां खुले न्यायालय में की जाती हैं, जब तक कि न्यायालय आपवादिक परिस्थितियों में अन्यथा विनिश्चित न करे। न्यायाधीशों को

[1] (1993) सप्ली० 1 एस० सी० सी० 529.

निस्संदेह पद ग्रहण करने के पश्चात् उनके समक्ष लाए गए मामलों का न्यायनिर्णयन करने की प्रक्रिया में किसी भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष दबाव या हस्तक्षेप से पूर्ण स्वतंत्रता सुनिश्चित की गई है। इस संबंध में श्री पारासरन ने हमारा ध्यान ई० सी० एस० वडे और ए० डब्ल्यू० ब्रेडली द्वारा रचित "कांस्टीट्यूशनल लाज" (8वां संस्करण पृ० 32) नामक पुस्तक से निम्नलिखित वाक्य की ओर आकर्षित किया है जो इस प्रकार है—

> "..........न्यायिक स्वतंत्रता विधि और लोक मत तथा न्यायपीठ और न्यायालय दोनों में ही कायम रखे जाने वाले आचरण के स्तर द्वारा सुनिश्चित की गई है।"

(झ) उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय दोनों को ही अनुच्छेद 12 में यथा परिभाषित 'राज्य' और अन्य सभी कानूनी प्राधिकारियों के सभी कार्यों के न्यायिक पुर्नविलोकन की अधिकारिता है। हाल ही में **सब कमेटी आन जुडीशियल अक्काउण्टेबिलिटी** बनाम **भारत संघ और अन्य**[1] में यह विनिर्णीत किया गया है कि यहां तक कि किसी न्यायाधीश के महाभियोग के लिए कार्यवाहियों के संबंध में भी न्यायिक पुर्नविलोकन की अधिकारिता है।

47. जहां तक पदावधि की सुरक्षा, पद से न हटाए जाने और सेवा की शर्तों के सुनिश्चित किए जाने का संबंध है, अन्य सांविधानिक नियुक्त (मनोनीत) व्यक्तियों अर्थात् भारत के नियंत्रक महालेखा परीक्षक और मुख्य निर्वाचन आयुक्त (देखिए अनुच्छेद 148 और अनुच्छेद 324 (5) का परन्तुक) के मुकाबले न्यायाधीशों के सांविधानिक अधिकारों और विशेषाधिकारों को सूचीबद्ध करने के पश्चात् श्री पारासरन ने अपने इन पूर्व तर्कों की ही पुनः पुष्टि की है कि नियुक्ति की प्रक्रिया में कार्यपालक कार्रवाई को दूर रखना न्यायिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए कतई आवश्यक नहीं है। **विशेष न्यायालय विधेयक, 1978 के संबंध में निर्देश वाले मामले**[2] में के विनिर्णय का अवलम्ब लेते हुए उन्होंने यह दलील दी है कि 'प्रसाद पर्यन्त का सिद्धांत' जो कि न्यायिक स्वतंत्रता को ध्वंस करने वाला है, अनुच्छेद 124 (4) के अधीन यथा उपबंधित के सिवाय उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों को और अनुच्छेद 124 (4) के साथ पठित अनुच्छेद 217 (2) के परंतुक (ख) के अधीन यथा उपबंधित के सिवाय उच्च न्यायालय के न्यायाधीश को सेवा से हटाए जाने के मामले में न तो आकर्षित होता है और न लागू ही होता है और यह और दलील दी है कि यह रक्षोपाय न्यायिक स्वतंत्रता को सुरक्षा प्रदान करता है।

48. श्री पारासरन की दलील के अनुपूरक रूप में कुछ राज्य सरकारों की ओर से कतिपय समानार्थक तर्कों के आधार पर यह दलील दी गई है कि जब इस न्यायालय के निर्णय को अन्तिम अधिमत के रूप में स्वीकार कर लिया गया है जो अन्य प्राथमिक सांविधानिक कृत्यकारियों सहित सभी पर आबद्धकर है तो जब तक वह तत्पश्चात् विचार किए जाने पर स्पष्टतः भ्रामक न पाया जाए तब तक **गुप्ता वाले मामले** के विनिश्चय पर, जिसमें न्याय-

---

1 (1991) 4 एस० सी० सी० 699.

2 [1979] 4 उम० नि० प० 1061=[1979] 2 एस० सी० आर० 476.

पालिका की स्वतंत्रता के सिद्धांत पर व्यापक रूप से विचार किया गया है और उसमें सही विनिश्चित किया गया है, पूर्व में घोषित किये जा चुके दृष्टिकोण में सुधार करने या उसमें कोई संशोधन करने (टांका लगाने) के लिए विधिक कसौटी पर (कर्मशाला में) पुनः विचार किए जाने की आवश्यकता नहीं है। उनके मतानुसार न्यायिक पद के साथ जो विद्यमान सांविधानिक रक्षात्मक दशाएं जुड़ी हुई हैं, वे न्यायपालिका की स्वतंत्रता को बनाए रखने के लिए पर्याप्त से अधिक हैं।

49. अनुपूरक दलील देने के दौरान **गुप्ता वाले मामले** में न्या० देसाई के पृथक् निर्णय में व्यक्त किए गए विचारों का अधिक अवलम्ब लिया गया है जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया है—

> "संविधान के अधीन न्यायपालिका की स्वतंत्रता का निर्वचन संविधान के ढांचे और परिधि के भीतर ही किया जाना चाहिए। संविधान में ऐसे विभिन्न उपबंध हैं जिनसे यह उपदर्शित होता है कि संविधान में न्यायपालिका के 'तात्कालिक रवैया' जैसी कोई बात उपबंधित नहीं की गई है।"

50. संसार के भिन्न-भिन्न भागों में, विशेष रूप से संयुक्त राज्य अमरीका और यूनाइटेड किंगडम में प्रचलित विभिन्न प्रक्रियाओं को उद्धृत करते हुए, जिनमें उच्चतर न्यायपालिका के लिए न्यायिक नियुक्तियां करने की शक्ति अनन्यतः कार्यपालिका में निहित की गई है, यह कहा गया है कि जब कि विद्यमान प्रक्रिया द्वारा उन देशों में न्यायिक स्वतंत्रता को कभी कोई क्षति नहीं पहुंची है तब इस दलील का समर्थन नहीं किया जा सकता कि न्यायाधीशों की नियुक्ति का ढंग प्रारम्भ से ही न्यायपालिका की स्वतंत्रता को सुनिश्चित करने में महत्वपूर्ण कदम रहा है। वे उन देशों में न्यायिक प्रणाली की संरचना पर विभिन्न पाठ्य-पुस्तकों से उनके विचारों के कुछ समर्थनकारी अवतरणों को उद्धृत करने में जोश से भरे हुए थे।

51. हमारी सुविचारित राय में उक्त ये दलीलें अमान्य हैं कि न्यायपालिका की स्वतंत्रता को उस पद को, जो न्यायाधीश धारण करता है, सांविधानिक संरक्षण प्रदान करते हुए और केवल सेवा संबंधी शर्तों की ही गारण्टी देकर सन्तोष जनक रूप से प्राप्त कर लिया गया है। वास्तव में हम ऐसे किसी भी तर्क की कल्पना करने में असमर्थ हैं जिसके लिए कारण आगे दिए जाएंगे।

52. यह सर्वमान्य बात है कि जबकि न्यायालय विधायिका या कार्यपालिका द्वारा शक्ति ग्रहण किए (हथिया लिए) जाने के विरुद्ध एक अभेद्य दुर्ग होते हैं और यह कि न्यायालयों की बोधगम्यता तथा जनता द्वारा उनके प्राधिकार के प्रति आदर उन न्याय-निर्णयनकारी आदेशों से अत्यधिक प्रभावित हुए हैं जो पीठासीन निष्पक्ष न्यायाधीशों ने किसी भय या पक्षपात या प्रेम या दुर्भाव के बिना दिए हैं, तब क्या यह बात सही रूप से कही जा सकती है कि केवल सेवा संबंधी शर्तों की बाबत ही अपरिवर्तनीय अधिकारों और विशेषाधिकारों का आश्वासन न्यायपालिका की स्वतंत्रता को प्राप्त करने और उसका ह्रास होने से रोकने के लिए पर्याप्त हैं और यह कि अन्य कोई शर्त अपेक्षित नहीं है? इस विवादास्पद प्रश्न के संबंध में हमारा उत्तर नकारात्मक होगा।

53. निस्संदेह यह सही है कि आधारभूत सेवा संबंधी शर्तों के संबंध में सांविधानिक आश्वासन न्यायपालिका की स्वतंत्रता की रक्षा करने के लिए पूर्णतः आवश्यक है किन्तु हमारी राय में यह एकमात्र उद्देश्य नहीं है। इससे भी अधिक एक दूसरी आधारभूत और अवियोज्य महत्वपूर्ण शर्त न्यायपालिका की स्वतंत्रता को यथा समय प्राप्त करने के लिए पूर्णतः आवश्यक है, यह उस पद्धति से संबंधित है जो उच्चतर न्यायपालिका (उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय) के लिए किसी उचित और उपयुक्त अभ्यर्थी को प्रायोजित करने, चयन करने और नियुक्त करने के मामले में अपनाई जाती है। यह पवित्र शर्त एक ऐसा अत्यधिक महत्वपूर्ण घटक है जो न्यायपालिका की पूर्ण स्वतंत्रता सुनिश्चित करने में अन्य सांविधानिकतः गारण्टीकृत प्रत्येक सेवा संबंधी शर्तों के साथ-साथ चलता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि किसी स्वस्थ स्वतंत्र न्यायपालिका को प्रथमतः न्यायाधीशों की नियुक्ति की पद्धति के बारे में निरंतर बढ़ने वाली महत्वपूर्ण शर्त की पूर्ति द्वारा सुनिश्चित किया गया है और द्वितीयतः इसे अधिकारों, विशेषाधिकारों और अन्य सेवा संबंधी शर्तों की पूर्ति द्वारा संरक्षण प्रदान किया गया है। अतः पारिणामिक अपरिहार्य निष्कर्ष यह निकलता है कि न्यायाधीशों के चयन और नियुक्ति की पद्धति और युक्ति से लेकर सभी अपेक्षित शर्तों की निष्पत्ति या पूर्णता से ही न्यायपालिका की स्वतंत्रता प्राप्त होगी और उसकी रक्षा होगी अन्यथा न केवल न्यायपालिका की विश्वसनीयता ही डगमगा जाएगी और गिर जाएगी अपितु संपूर्ण न्यायिक प्रणाली ही निर्मूल सिद्ध हो जाएगी जिसके परिणामस्वरूप लोकतंत्र का उचित कार्यकरण ही गतिहीन हो सकता है और इस संजोई गई संकल्पना का दर्शन एक वास्तविकता नहीं बल्कि एक भ्रम रह जाएगा।

54. उपर्युक्त वाद-विवाद और चर्चा का सार यह है कि न्यायपालिका की स्वतंत्रता हमारी न्यायिक प्रणाली का एक ऐसा नंगा तार है जो यदि टूट जाए या भटक जाए तो फिर न्यायपालिका का 'प्रलय दिवस' दूर नहीं होगा।

न्यायपालिका की स्वतंत्रता की संकल्पना--

55. प्रचलित वर्तमान प्रणाली की दुःखद वास्तविकता का सामना करते हुए हम अब इस बात की कि न्यायपालिका की स्वतंत्रता की संकल्पना से क्या अभिप्रेत है, दोनों ही पक्षकारों द्वारा निस्संदेह न्यायिक प्रणाली को अनुप्राणित करने के उद्देश्य से और उसके उन विभिन्न पहलुओं के महत्व पर जोर देने के उद्देश्य से, जो संविधान में यथावर्णित 'विधि शासन' सुनिश्चित करने के लिए पूर्णतः अपरिहार्य है, दिए गए धारा प्रवाह तर्कों की पृष्ठभूमि में परीक्षा करेंगे।

56. हमारा संविधान एक ज्योतिर्मय और संवेदनशील रचना है और जिसमें प्रभुत्व-संपन्न, समाजवादी, पंथनिरपेक्ष, लोकतंत्रात्मक गणराज्य शीर्षक के तले समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय प्राप्त कराने के उसके श्रेष्ठ उद्देश्यों की निरन्तर महक फैल रही है।

57. सभी नागरिकों को उनके धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्म-स्थान और सामाजिक-आर्थिक असमानताओं और अलाभ का विचार किए बिना समान रूप से उक्त संजोए गए उद्देश्यों को सुनिश्चित करने के लिए और विधि शासन का सिद्धांत सुनिश्चित करने के लिए

संविधान में न्यायपालिका से अत्यधिक आशाएं रखते हुए उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों पर भारी और गुरुतर उत्तरदायित्व अधिरोपित किया गया है, उन्हें अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका सौंपी गई है तथा व्यापक आयाम वाली अधिकारिता प्रदान की गई है और न्या० भगवती के शब्दों में, (जैसे कि माननीय मुख्य न्यायमूर्ति उस समय थे) यही बात 'संविधान के संपूर्ण ढांचे में सर्वत्र कही गई है ।' दूसरे शब्दों में संविधान का यह महत्वपूर्ण सिद्धांत है कि स्वतंत्र न्यायपालिका हमारे जैसे एक स्वतंत्र समाज का अत्यधिक अनिवार्य गुण है ।

58. इस संकल्पना के महत्व को ध्यान में रखते हुए हमारे संविधान निर्माताओं ने जिनके समक्ष फैडरल कोर्ट और उच्च न्यायालय के विचार मौजूद थे, ज्ञापन में इस प्रकार कहा है—

> "हम यह धारणा करते हैं कि सभी के द्वारा यह बात स्वीकार की गई है कि किसी लोकतंत्रात्मक शासन प्रणाली में न्यायपालिका की स्वतंत्रता और अखंडता का न केवल न्यायाधीशों के लिए अपितु समस्त नागरिकों के लिए भी, जो कार्यपालिका द्वारा किए गए किसी भी अवैध कार्य अथवा शक्ति के निरंकुश प्रयोग के विरुद्ध अंत में जाकर किसी न्यायालय की शरण लेते हुए प्रतितोष पाने की कामना करते हैं, अत्यधिक महत्व और हित है ।·········निम्नलिखित संकल्पनाओं और सुझावों को प्रस्तुत करते समय एक स्वतंत्र और दक्ष न्यायपालिका के निर्भयपूर्वक कार्यकरण को सुनिश्चित करने के सर्वोपरि महत्व को ध्यान में रखा गया है। (देखिए **बी० शिवराव कृत 'दि फ्रेमिंग आफ इण्डियाज कांस्टीट्यूशन', जिल्द 1-बी पृष्ठ 196**)."

59. इस संबंध में हम यह बात न्यायमूर्ति कृष्ण अय्यर के इन शब्दों के द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं कि 'न्यायपालिका की स्वतंत्रता कोई जानुनति नहीं है और न वह सरकार का विरोध ही है' । (देखिए **मेन स्ट्रीम**—22 नवम्बर, 1980) और एक बार तो न्यायमूर्ति कृष्ण अय्यर ने इस संकल्पना का एक 'सांविधानिक धर्म' के रूप में उल्लेख किया है ।

60. निर्विवाद रूप से न्यायपालिका की स्वतंत्रता की यह संकल्पना, जो न्यायपालिका के कार्यकरण से संबंधित सांविधानिक प्रक्रिया के साथ अभेद्य रूप से जुड़ी हुई और संबंधित है, हमारे संविधान में एक 'स्थिर तारा' है और यह बात संविधान के दर्शन से प्रकट होती है । इस संकल्पना की आधारभूत प्रतिपादना पूर्ण बल और ताकत के साथ एक अत्यधिक प्रभावी न्यायिक प्रणाली प्रदान करना है जिससे कि न्याय के प्रशासन में जनता के विश्वास को बल प्राप्त हो सके । इस सिद्धांत को सफलतापूर्वक प्राप्त करने और वर्तमान न्यायिक प्रणाली से संबंधित सभी समस्याओं को दूर करने के उद्देश्य से अन्य बातों के साथ-साथ यह दलील दी गई है कि उच्च न्यायालयों और उच्चतम न्यायालय में न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय को प्रधानता दी जानी चाहिए जो इस संकल्पना का एक पहलू है जिससे कि न्यायपालिका की स्वतंत्रता को दृढ़तापूर्वक सुनिश्चित किया जा सके और रक्षा की जा सके और उच्चतर न्यायपालिका में स्वयं अपने चुने हुए व्यक्तियों को अधिरोपित करते हुए कार्यपालिका के अतिशय अतिक्रमण को प्रभावी रूप से नियंत्रित और कम किया जा सके ।

61. इस सिद्धांत के महत्व के बारे में न्या० चन्द्रचूड़ ने (जैसे कि विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति उस समय थे) **भारत संघ** बनाम **संकल चन्द हिम्मतलाल शेठ और एक अन्य**[1] में यह कहा गया है कि न्यायपालिका की स्वतंत्रता एक 'आधारभूत गुण' है और यह मत व्यक्त किया है कि न्यायपालिका को, जिसे जनता के अधिकारों और स्वतंत्रता के रक्षक के रूप में कार्य करना होता है, न्यायपालिका की स्वतंत्रता की रक्षा करने के लिए कतिपय सांविधानिक गारंटी प्रदान की गई है।

62. न्या० भगवती ने (जैसे कि माननीय मुख्य न्यायमूर्ति उस समय थे), जिन्होंने उसी निर्णय में अर्थात् **भारत संघ** बनाम **संकल चन्द हिम्मतलाल शेठ और एक अन्य** (ऊपर निर्दिष्ट) में अल्पसंख्यक की ओर से निर्णय दिया था, यह मत व्यक्त किया है कि—

> "......न्यायपालिका की स्वाधीनता हमारे संविधान का मूल आधार है। निर्भीक न्याय हमारे आधारात्मक संविधान का मुख्य सिद्धांत है......
>
> जैसा कि इस न्यायालय ने **शमशेर सिंह** बनाम **पंजाब राज्य** [1975] 1 एस० सी० आर० 814=[1975] 1 उम० नि० प० 357 वाले मामले में संकेत किया है, न्याय "निर्भीक और स्वतंत्र तब बन जाता है जब संस्थागत उन्मुक्ति और स्वायत्तता की गारंटी होती है।"

63. पुनः **गुप्ता वाले मामले**[2] में न्यायमूर्ति भगवती ने पैरा 223-224 में इस प्रकार कहा है—

> न्यायपालिका की स्वतंत्रता की अवधारणा एक उदात्त अवधारणा है जो सांविधानिक स्कीम को प्रेरणा प्रदान करती है और ऐसा आधार गठित करती है जिस पर हमारी प्रजातांत्रिक नीति का ढांचा आधारित है। यदि संविधान के संपूर्ण ढांचे में कोई एक सिद्धांत सर्वत्र पाया जाता है तो वह विधि शासन का सिद्धांत है और संविधान में न्यायपालिका को ही राज्य के प्रत्येक अंग को विधि की सीमाओं के भीतर रखने और तद्द्वारा विधि शासन को अर्थपूर्ण और प्रभावी बनाने का काम सौंपा गया है।
>
> ....
>
> किंतु यहां हमारे लिए इस बात का स्मरण करना आवश्यक है कि न्यायपालिका की स्वतंत्रता की संकल्पना केवल कार्यपालिका के दबाव अथवा असर से स्वतंत्रता तक ही सीमित नहीं है बल्कि यह एक अत्यधिक व्यापक संकल्पना (अवधारणा) है जिसकी परिधि के भीतर बहुत से अन्य दबावों और प्रतिकूल प्रभावों से स्वतंत्रता भी आती है।
>
> ....

---

[1] [1978] 3 उम० नि० प० 1129=[1978] 1 एस० सी० आर० 423.

[2] [1982] 4 उम० नि० प० 1=[1982] 2 एस० सी० आर० 365.

न्यायाधीशों को कठोर और दृढ़ प्रकृति का, आर्थिक अथवा राजनैतिक शक्ति के समक्ष न झुकने वाला व्यक्ति होना चाहिए और उन्हें विधि शासन के इस मूलभूत सिद्धांत को बनाए रखना चाहिए जिसमें यह कहा गया है कि 'चाहे आप कितने भी ऊंचे या बड़े क्यों न हो जाएं, विधि आप से भी ऊपर होती है।' न्यायपालिका की स्वतंत्रता का यही सिद्धांत वास्तविक सहभागी लोक तंत्र की स्थापना, विधि शासन को एक गतिशील संकल्पना और समुदाय के दुर्बल वर्गों को सामाजिक न्याय दिलाने के लिए महत्वपूर्ण है। न्यायपालिका की स्वतंत्रता के इसी सिद्धांत को हमें संविधान के सुसंगत उपबंधों का निर्वचन करते समय अवश्य ध्यान में रखना चाहिए।"

64. न्यायमूर्ति फजल अली ने **गुप्ता वाले मामले** में निर्णय के पैरा 320 में इस प्रकार अभिनिर्धारित किया है—

"······यह कि इसमें कोई संदेह नहीं कि न्यायपालिका की स्वतंत्रता संविधान का एक आधारभूत ढांचा है किंतु स्वतंत्रता की उक्त अवधारणा को संविधान की सीमाओं के भीतर ही सीमित रहना चाहिए और वह संविधान के आगे या परे नहीं जा सकती।"

65. न्या० तुलजापुरकर ने **गुप्ता वाले मामले** में निर्णय के पैरा 634 में इस प्रकार कहा है—

"ऐसा शाब्दिक अर्थान्वियन स्वीकार करना कठिन है क्योंकि संविधान के किसी भी उपबंध का ऐसी रीति में निर्वचन नहीं किया जा सकता जो संविधान की किसी भी आधारभूत विशेषता के विरुद्ध हो और न्यायपालिका की स्वतंत्रता का यह मूलभूत सिद्धांत ही एक ऐसी आधारभूत विशेषता है इसलिए अनुच्छेद में इस वाक्यांश का किया जाने वाला अर्थान्वियन उक्त सिद्धांत से संगत होना चाहिए।"

66. न्या० वेंकटरमैया (जैसे कि विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति उस समय थे) भी उसी निर्णय में इससे आगे नहीं गए हैं बल्कि उन्होंने यह मत व्यक्त किया है कि यह 'एक ऐसा केन्द्रीय मूल्य है जिस पर हमारा संविधान आधारित है।' (देखिए पैरा 1051)

67. निम्नलिखित निर्णय भी देखिए—**भारत संघ** बनाम **जे० पी० मित्तर,**[1] **सब-कमेटी आन जुडीशियल अकाउण्टेबिलिटी** बनाम **भारत संघ**[2] और **श्री कुमार पदमपरा साद** बनाम **भारत संघ**[3]।

68. यद्यपि इस संकल्पना या अवधारणा के संबंध में निर्णयों का बाहुल्य है किंतु हम समझते हैं कि यहां उन सभी विनिश्चयों को दोहराना और इस निर्णय को बोझिल बनाना आवश्यक नहीं है सिवाय यह कहने के कि सभी चुनौतियों का मुकाबला करने हेतु स्वतंत्र न्यायपालिका बनाए रखने के लिए, सभी प्राधिकारियों के समक्ष न झुकने और

---

[1] [1971] 1 उम० नि० प० 941=[1971] 3 एस० सी० आर० 483

[2] (1991) 4 एस० सी० सी० 699.

[3] (1992) 2 एस० सी० सी० 428.

1993(10) eILR(PAT) SC 1

संविधान के आदेशों की मर्यादा को सदैव बनाए रखने के लिए, जिससे कि न्यायिक अखंडता की सुरक्षा की जा सके, न्यायपालिका में प्रोन्नत किए जाने वाले व्यक्ति का स्वतंत्रता के लिए अत्यधिक ख्याति प्राप्त, किसी भी पूर्व हित, निष्ठा और बाध्यता के प्रति अप्रतिबद्ध और सभी परिस्थितियों या आकस्मिक स्थितियों में किसी भी कीमत को चुकाने के लिए, भार का वहन करने और किसी भी कठिनाई का सामना करने के लिए तैयार होना चाहिए और सदैव संविधान और 'विधि शासन' के सिद्धांतों से ही बंधे रहना चाहिए। यदि नियुक्त किए गए व्यक्ति पर अपनी नियुक्ति करने वाले प्राधिकारी के आदेशों के प्रति घुटने टेकते हुए निर्णयों के तर्कों को बदलने के प्रयोजन के लिए कोई विशेष छाप लगी हुई है तो न्यायपालिका की स्वतंत्रता को गारंटीकृत पदावधि, अधिकार और विशेषाधिकार, रक्षोपायों, सेवा-शर्तें और उन्मुक्ति के होते हुए भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। यद्यपि ऐसा कोई नया सिद्धांत प्रतिपादित करना अतार्किक होगा कि केन्द्र बिन्दु न्यायाधीश नहीं अपितु न्यायपालिका है, विशेष रूप से तब जब एक ही सांस में यह बात स्वीकार कर ली जाए कि किसी अनुपयुक्त व्यक्ति की त्रुटिपूर्ण नियुक्ति से न्याय के प्रशासन में समुदाय के विश्वास को अपूरणीय हानि पहुंचना और लोक हित को गम्भीर क्षति पहुंचना अनिवार्य है और यह कि न्यायपालिका की स्वतंत्रता कायम रखने की आवश्यकता उचित और प्रभावी न्याय प्रशासन सुनिश्चित करना है। इसके अतिरिक्त यदि इस सर्वोत्कृष्ट सिद्धांत या संकल्पना को कोई क्षति पहुंचती है या स्वयं उसके कार्य से ही कोई हानि पहुंचती है तो इससे इस अमूल्य न्यायिक स्वतंत्रता का मूल्य कम हो जाएगा और वह आधारहीन हो जाएगा।

69. इस उक्त भ्रामक सिद्धांत को विधि आयोग की 14वीं रिपोर्ट से उचित उत्तर मिला है जिसमें एक उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की निम्नलिखित राय उद्धृत की गई है :—

> "यदि राज्य मंत्रालय (राज्य सरकार में मंत्री) को इस मामले में बोलने का सशक्त अधिकार बना रहता है तो मेरी राय में 10 वर्ष या इससे कुछ अधिक समय में, जब पुरानी प्रणाली के अधीन नियुक्त किए गए अंतिम न्यायाधीश समाप्त हो जाएंगे तब न्यायपालिका की स्वतंत्रता ही खत्म हो जाएगी और तब उच्च न्यायालय में ऐसे न्यायाधीश भर जाएंगे जो अपनी नियुक्तियों के लिए राजनीतिज्ञों के प्रति नत मस्तक रहेंगे।"

70. श्री एम० सी० सीतलवाड, जो एक अत्यधिक प्रतिष्ठित विधिवेत्ता और महान्यायवादी थे और जो अपनी त्रुटिहीन अखंडता और दबंग स्वतंत्रता के लिए विख्यात थे और जिन्होंने 14वें विधि आयोग की अध्यक्षता की थी, ने अपनी रिपोर्ट में खेदपूर्वक यह कहा है कि इस आयोग को सभी उच्च न्यायालय के केन्द्रों में अपने निरीक्षण के दौरान 'न्यायाधीशों की नियुक्ति के बारे में कटु और तीव्र आलोचना' सुनने को मिली और यह कि इस आलोचना का लगभग यही केन्द्र बिंदु है कि चयन असंतोषजनक होते हैं और मनोनीत व्यक्तियों को कार्यपालिका के प्रभाव द्वारा नियुक्त किया जाता है।

71. श्री राम जेठमलानी, ज्येष्ठ काउंसेल ने नियुक्ति की पद्धति का लोक कल्याण पर पड़ने वाला घातक प्रभाव प्रदर्शित करने के लिए **गुप्ता वाले मामले में** कतिपय कमियों के प्रति संकेत करने के पश्चात् बलपूर्वक यह कहा है कि हमारे सांविधानिक धर्म में न्यायिक स्वतंत्रता के इस सिद्धांत से और कार्यपालिका के कारण यह आधारभूत सिद्धांत संकट में पड़

1993(10) eILR(PAT) SC

गया और उन्होंने **संकल चन्द वाले मामले में** के निर्णय से न्या० कृष्ण अय्यर के शब्दों को उद्धृत किया है जिसमें यह कहा गया है कि इस न्यायालय को 'करो या मरो' का सिद्धांत अपनाना चाहिए ।

72. **ब्रेडले बनाम फिशर**[1] में इस प्रकार कहा गया है—

> "हमारी न्यायिक प्रणाली इस सिद्धांत से मार्गदर्शित होती है कि किसी भी न्यायिक अधिकारी को, अपने में निहित प्राधिकार का प्रयोग करते समय, अपने ऊपर पड़ने वाले व्यक्तिगत परिणामों की आशंका से डरे बिना स्वयं अपनी प्रेरणा के आधार पर ही कार्य करने के लिए स्वतंत्र होना चाहिए ।"

73. डा० रोबर्ट मैक ग्रेगर डासन ने इस प्रकार कहा है कि 'न्यायाधीश को उन अधिकांश अवरोधों, नियंत्रणों और दण्डों से स्वतंत्र होना चाहिए जो सामान्यतया किसी अन्य लोक अधिकारी के संबंध में लागू होते हैं' और 'उसे अपने कर्तव्यों का निष्ठापूर्वक पालन करने के प्रति समर्पित' होना चाहिए ।

74. **सुभाष शर्मा वाले मामले में** सही रूप से यह मत व्यक्त किया गया है कि 'विधि शासन अभिभावी होने के लिए न्यायिक स्वतंत्रता परम आवश्यक है ।'

75. चूंकि हम इस पहलू पर भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय को प्रधानता दिए जाने के संबंध में सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न पर एक पृथक् शीर्ष के अन्तर्गत परीक्षा करते समय विस्तार में चर्चा करने जा रहे हैं इसलिए यह पहलू हमें न्यायपालिका की स्वतंत्रता के सिद्धांत के बारे में पक्षकारों की परस्पर विरोधी दलीलों का निपटारा करने में और अधिक रोक कर नहीं रख सकता ।

कार्यपालिका से न्यायपालिका का पृथक्करण

76. अनुच्छेद 50 के प्रति निर्देश से याचियों की ओर से दी गई दलीलों पर विचार करते समय श्री पारासरन द्वारा यह दलील दी गई है कि उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति के बारे में विशेष रूप से न्यायपालिका की स्वतंत्रता के संदर्भ में अनुच्छेद 50 का लाभ नहीं उठाया जा सकता । हम अब शक्ति के पृथक्करण के मुकाबले में न्यायपालिका की स्वतंत्रता पर विचार करेंगे ।

77. श्री जेठमलानी के मतानुसार **गुप्ता वाले मामले में** अनुच्छेद 50 के आदेश और उसकी विवक्षाओं तथा उसका अनुच्छेद 124 और 217 के निर्वचन पर पड़ने वाले प्रभाव की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया है या निश्चित ही पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है और अनुच्छेद 51(क) के प्रभाव की भी उपेक्षा की गई है और अनुच्छेद 50 न्यायिक स्वतंत्रता के लिए लम्बे चले आंदोलन और संघर्ष की ही परिणति है । इस दलील के समर्थन में हमारा ध्यान मुम्बई में 1946 में नियुक्त आयोग की उस रिपोर्ट की ओर आकर्षित किया गया है जिसमें ग्यारह सदस्य सम्मिलित थे और जिसकी अध्यक्षता मुम्बई उच्च न्यायालय के एक

[1] 80 यू० एस० 335 (1871)

न्यायाधीश द्वारा की गई थी और जिसमें यह सर्वसम्मत निष्कर्ष लेखबद्ध किया गया था कि न्यायिक और कार्यपालक कृत्यों का पृथक्करण एक साध्य और व्यावहारिक प्रतिपादना है ।

78. उक्त दलील का सामना करने के लिए श्री पारासरन ने यह कहा है कि उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति के संबंध में न्यायपालिका की स्वतंत्रता के संदर्भ में अनुच्छेद 50 के प्रति निर्देश युक्तियुक्त नहीं है बल्कि यह केवल जिला और अधीनस्थ मजिस्ट्रेटों के संदर्भ में ही युक्तियुक्त है जो कार्यपालक और न्यायिक, दोनों ही कृत्यों का प्रयोग करते हैं, दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि सिद्धांत यह है कि एक ही व्यक्ति को कार्यपालिका और न्यायपालिका दोनों का ही सदस्य नहीं होना चाहिए । अपनी इस दलील के समर्थन में उन्होंने (1) ई० सी० एस० वडे और ए० डब्ल्यू० ब्रेडले कृत 'कांस्टीट्यूशनल ला', 8वां संस्करण में शीर्षक 'शक्तियों के पृथक्करण का अर्थ' के अधीन आए एक अवतरण से, जिसमें इस प्रकार कहा गया है 'कि सरकार के एक अंग का किसी अन्य अंग द्वारा अपने कृत्यों का प्रयोग करने में कोई नियंत्रण या हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए'; (2) प्रारूप अनुच्छेद 39-क के संबंध में संविधान सभा की डिबेट से, (3) बी० शिव राव कृत 'दि फ्रेमिंग आफ इण्डियन कांस्टीट्यूशन-ए स्टडी' (पृ० 507) और, (4) 'एनसाइक्लोपीडिया आफ अमरीकन कांस्टीट्यूशन, 1986, संस्करण जिल्द IV—यूनियन आफ इण्डिया कंपाइलेशन पृ० 185 (ख) में 'शक्तियों के पृथक्करण' शीर्षक के अधीन आए एक अवतरण से प्रेरणा ग्रहण की है जो इस प्रकार है—

> "शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत में अनेक तत्व सम्मिलित हैं, सरकार की तीनों पृथक् शाखाओं, अर्थात् विधानमण्डल, कार्यपालिका और न्यायपालिका का विचार, यह विश्वास कि सरकार की प्रत्येक शाखा के लिए युक्तियुक्त अद्वितीय कृत्यों को अलग-अलग रखा जाना चाहिए, किसी एक व्यक्ति को एक ही समय सरकार की एक शाखा से अधिक का सदस्य नहीं होना चाहिए ।"

79. उपर्युक्त परस्पर विरोधी दलीलों का उचित रूप से मूल्यांकन करने और अनुच्छेद 50 की विवक्षा को समझने के लिए हम सबसे पहले उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर विचार करेंगे ।

80. अनुच्छेद 50 भाग-4 में आया है जो 'कार्यपालिका से न्यायपालिका का पृथक्करण' शीर्षक के अधीन 'राज्य की नीति के निदेशक तत्वों' के बारे में है और जो इस प्रकार है—

> "अनुच्छेद 50—राज्य की लोक सेवाओं में न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक करने के लिए राज्य कदम उठाएगा ।"

81. प्रारूप संविधान में इस नीति निदेशक तत्व के प्रति कोई निर्देश नहीं किया गया था, किन्तु स्वतंत्रता आंदोलन की महत्वपूर्ण भूमिका की याद दिलाए जाने पर अनुच्छेद 39क पुरःस्थापित किया गया जो इस प्रकार है—

> "39क. राज्य इस संविधान के प्रारम्भ से तीन वर्ष की अवधि के भीतर यह सुनिश्चित करने के लिए कदम उठाएगा कि राज्य की लोक सेवाओं में न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक् किया जाए ।"

82. प्रारूपण समिति ने प्रस्थापित संशोधन में 'न्यायपालिका आदि का पूर्ण पृथक्करण' पद का प्रयोग किया था, तथापि विशेष समिति का यह विचार था कि शब्द 'पूर्ण' अनावश्यक है और तदनुसार इस शब्द को निकाल दिया गया।

83. तत्पश्चात् अन्तिम प्रक्रम पर तीन वर्ष की समय सीमा को, जिसके भीतर इस निदेशक तत्व को कार्यान्वित किया जाना था, निकाल दिया गया और अनुच्छेद 39-क तत्पश्चात् वर्तमान रूप में अनुच्छेद 50 बन गया।

84. अनुच्छेद 39-क पर संविधान सभा में चर्चा (डिबेट) के दौरान एक सदस्य, श्री आर० के० सिदवा ने 25 नवम्बर, 1948 को निम्नलिखित महत्वपूर्ण मत व्यक्त किया था—

> "जैसा कि डा० अम्बेडकर ने कल कहा था, अपने आरम्भ से ही कांग्रेस यह कहती आ रही है कि यदि हम वास्तव में यह चाहते हैं कि अभियुक्त व्यक्तियों के साथ निष्पक्ष न्याय किया जाए तो इन दोनों ही कृत्यों को पृथक् किया जाना चाहिए।
>
> कल दिया गया तर्क यह था कि स्वतंत्र भारत में दशाएं परिवर्तित हो गई हैं और इसलिए यह वांछनीय नहीं है कि इन दोनों ही कृत्यों को अलग-अलग किया जाए। जहां तक मैं समझता हूं उनका, जिन्होंने इस स्थिति को रखे जाने की वकालत की है, वास्तविक रहस्य यह है कि वे अपनी शक्ति बनाए रखना चाहते हैं। यदि प्रान्तीय सरकारों के माननीय मंत्री यह महसूस करते हैं कि इन दोनों को ही पृथक्-पृथक् न किया जाए तो ऐसा इसलिए है कि वे यह अनुभव करते हैं कि नियुक्ति करने की शक्ति जो उनके संरक्षण में है, उनसे छिन कर उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के पास चली जाएगी।"

85. श्री सिदवा के उक्त भाषण से यह बात स्पष्ट होती है कि अनुच्छेद 50 के कार्यान्वयन में एक आवश्यक परिणाम के रूप में नियुक्ति की शक्ति का कार्यपालिका से छिन जाना और उसका न्यायपालिका में अन्तरण होना अन्तर्वलित है। देश के शासन में अनुच्छेद 50 एक मूलभूत सिद्धांत होने के कारण और सांविधानिक रूप से सरकार पर आबद्ध होने के कारण सरकार निश्चित ही न्यायिक नियुक्तियों में किसी भी हस्तक्षेप से स्वेच्छया विरत रहने और अपनी भूमिका को पूरी तरह प्ररूपिक या विधिवत् मात्र रहने देने के लिए आबद्ध हैं जिससे यह सुनिश्चित होगा कि निर्णायक तत्व न्यायिक परिवार की इच्छा और भावना ही है।

86. प्रधान मंत्री जवाहरलाल नेहरू ने सरकार की ओर से इस पर प्रतिक्रिया व्यक्त की और यह घोषणा की कि—

> "मैं निस्संकोच यह कह सकता हूं कि जहां तक सरकार का संबंध है, वह न्यायपालिका और कार्यपालिका के कृत्यों के पृथक्करण के पूरी तरह पक्ष में है। मैं यह और कह सकता हूं कि जितना ही शीघ्र ऐसा किया जाएगा उतना ही अच्छा होगा।"

87. न्यायपालिका की स्वतंत्रता के महत्व को महसूस करते हुए और उस सिद्धांत को पूर्ण रूप से लागू करने के लिए हमारे संविधान के निर्माताओं ने कार्यपालिका से न्यायपालिका के पृथक्करण की आवश्यकता महसूस की और उन्होंने एक लम्बी चर्चा के पश्चात् संविधान में अनुच्छेद 50 अन्तःस्थापित किया क्योंकि हमारी सांविधानिक स्कीम में न्यायपालिका को जनता के लिए सामाजिक-आर्थिक न्याय सुनिश्चित करने में एक निश्चयात्मक और सक्रिय भूमिका निभानी है।

88. न्यायमूर्ति भगवती (जैसे कि विद्वान मुख्य न्यायमूर्ति उस समय थे) ने **संकल चंद वाले मामले में** विभिन्न सांविधानिक उपबंधों को उद्धृत करने के पश्चात् न्यायपालिका की स्वतंत्रता की संकल्पना पर चर्चा करते हुए उच्चतर न्यायपालिका के न्यायाधीशों के विशेषाधिकार, अधिकारों और पदावधि के बारे में बताते हुए अनुच्छेद 50 की भूमिका को इस प्रकार वर्णित किया है—

> "और सर्वव्यापक के समान इन सभी उपबंधों में मंडराने वाला उपबंध अनुच्छेद 50 है जिसमें राज्य की नीति के एक निदेशक तत्व के रूप में यह अधिकथित किया गया है कि राज्य की लोक सेवाओं में न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक् करने के लिए राज्य कदम उठाएगा। यह उपबंध एक ऐसे अध्याय में आया है जिसे ग्रेनविले आस्टिन द्वारा 'संविधान की आत्मा के रूप में' वर्णित किया गया है और जिसमें संविधान का सामाजिक दर्शन और उसके आधारभूत ध्येय और मूल्य समाविष्ट हैं जिससे किसी प्रकार के संदेह या वाद-विवाद के बिना ही संविधान निर्माताओं का न्यायपालिका को कार्यपालिका के किसी भी प्रकार के नियंत्रण या हस्तक्षेप से मुक्त करने का आशय प्रकट होता है।"

89. न्या० चन्द्रचूड़ ने (जैसे कि विद्वान मुख्य न्यायमूर्ति उस समय थे) बहुमत की ओर से निर्णय सुनाते हुए किसी भी प्रकार से इस आधारभूत सिद्धांत से विसम्मति प्रकट करने या उसे क्षीण करने का प्रयास नहीं किया है और उन्होंने न्यायपालिका की स्वतंत्रता को सुनिश्चित और उसकी रक्षा करने के लिए संविधान के विभिन्न उपबंधों के प्रति निर्देश करते समय अनुच्छेद 50 के प्रति यह कहते हुए निर्देश किया है कि संविधान के अनुच्छेद 50 में, जिसमें राज्य की नीति का एक निदेशक तत्व अन्तर्विष्ट है, यह उपबंध किया गया है कि राज्य की लोक सेवाओं में कार्यपालिका से न्यायपालिका को पृथक् करने के लिए राज्य कदम उठाएगा।

90. **एम० एम० गुप्त और अन्य बनाम जम्मू-कश्मीर राज्य**[1] में न्या० ए० एन० सेन ने अपनी ओर से और न्या० भगवती की ओर से बोलते हुए अपने पृथक् निर्णय में इस प्रकार मत व्यक्त किया है—

> "हमारे संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों में न्यायपालिका की स्वतंत्रता की रक्षा करने के लिए सुसंगत उपबंध अन्तर्विष्ट हैं। संविधान के अनुच्छेद 50 में, जिसमें यह अधिकथित किया गया है कि "राज्य की लोक सेवाओं में न्यायपालिका

[1] [1983] 2 उम० नि० प० 299=(1982) 3 एस० सी० सी० 412

1993(10) eILR(PAT) SC 1

को कार्यपालिका से पृथक् करने के लिए राज्य कदम उठाएगा", कार्यपालिका से न्यायपालिका के पृथक्करण को अनुध्यात किया गया है ।"

91. **गुप्ता वाले मामले में न्या०** भगवती ने, जिन्होंने बहुसंख्यक की ओर से निर्णय सुनाया था, अनुच्छेद 50 के प्रति कोई निर्देश नहीं किया है हालांकि उन्होंने **संकल चंद वाले मामले में** उक्त अनुच्छेद के प्रति निर्देश किया है ।

92. उपर्युक्त विचार-विमर्श से यह बात स्पष्ट होती है कि इस न्यायालय के प्रतिष्ठित न्यायाधीशों द्वारा न्यायपालिका की स्वतंत्रता के सिद्धांत पर चर्चा करते समय अपने विभिन्न विनिश्चयों में अनुच्छेद 50 के प्रति निर्देश किया गया है । हम अनुच्छेद 36 को उद्धृत कर सकते हैं जो अध्याय-4 (राज्य की नीति के निदेशक तत्व) के अन्तर्गत है और जो इस प्रकार है—

"अनुच्छेद 36.—इस भाग में जब तक कि संदर्भ से अन्यथा अपेक्षित न हो राज्य का वही अर्थ है जो भाग 3 में है ।"

93. इस अनुच्छेद के अनुसार अनुच्छेद 12 में "राज्य" पद की परिभाषा, जहां कहीं भी उक्त शब्द का प्रयोग किया गया है, संपूर्ण भाग 4 में लागू होगी । अतः इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अनुच्छेद 50 में प्रयुक्त "राज्य" पद का अर्थ व्यापी भाव में लगाया जाएगा जिसके अन्तर्गत भारत सरकार, भारत की संसद और प्रत्येक राज्य की सरकार और उसका विधानमण्डल तथा भारत के राज्यक्षेत्र के भीतर या भारत सरकार के नियंत्रणाधीन सभी स्थानीय या अन्य प्राधिकरण आते हैं । जब कार्यपालिका से न्यायपालिका के पृथक्करण की संकल्पना का मूल्यांकन किया जाता है, तब इस संकल्पना को उच्चतर न्यायपालिका की पूरी तरह उपेक्षा करते हुए केवल अधीनस्थ न्यायपालिका तक ही सीमित नहीं रखा जा सकता । यदि ऐसा संकीर्ण और अति सिद्धांतवादी या आनुमानिक दृष्टिकोण अपनाया जाता है और उसका कोई संकुचित अर्थान्वयन किया जाता है तो इससे यह विलक्षण स्थिति पैदा होगी कि संविधान में कार्यपालिका से उच्चतर न्यायपालिका के पृथक्करण पर कहीं भी जोर नहीं दिया जा सकेगा । निस्संदेह इस न्यायालय के प्रतिष्ठित न्यायाधीशों ने, जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, विभिन्न विनिश्चयों में उच्चतर या वरिष्ठ न्यायपालिका की स्वतंत्रता की संकल्पना पर चर्चा करते समय अनुच्छेद 50 के प्रति निर्देश किया है और तद्द्वारा न्यायपालिका की स्वतंत्रता की रक्षा करने में अनुच्छेद 50 में अंतर्निहित आधारभूत सिद्धांत और मूल्यों का उल्लेख किया है और उस पर जोर दिया है ।

न्यायाधीशों की नियुक्ति करने की शक्ति और भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय को प्रधानता—

94. उन विभिन्न प्रासंगिक विवाद्यकों में, जिन पर हमारे समक्ष जोरदार वाद-विवाद किया गया है, जो प्रमुख और सारवान् प्रश्न गहन विचार-विमर्श के लिए उद्भूत हुए हैं, वे इस प्रकार हैं—प्रथमतः, उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति करने की शक्ति कहां स्थित है; द्वितीयतः, इन न्यायाधीशों की नियुक्ति करने के लिए अन्तिम प्राधिकारी कौन है; तृतीयतः, क्या नियुक्तियां करने के संबंध में कोई सरणीबद्ध

मार्गदर्शक सिद्धांत हैं; चतुर्थतः, क्या न्यायाधीशों की नियुक्ति की शक्ति, जो सांविधानिक कृत्यकारियों (अंगों) में निहित है, अनिर्बाधित और सीमा रहित है और पंचमतः, क्या भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा, जो कि तीनों मुख्य सांविधानिक कृत्यकारियों (अंगों) में से एक हैं, संविधान द्वारा अपेक्षित आज्ञापक परामर्श के दौरान व्यक्त की गई राय को अन्य सांविधानिक कृत्यकारियों (अंगों) की राय से प्रधानता दी जाएगी ?

95. एक लोकतंत्रात्मक राज्य में राज्य की सर्वोच्च शक्ति तीन प्रमुख अंगों अर्थात् सांविधानिक कृत्यकारियों अर्थात् विधानमण्डल, कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच बंटी होती हैं। प्रत्येक कृत्यकारी (अंग) अपने आबंटित क्षेत्र में स्वतंत्र और सर्वोच्च होता है और कोई भी दूसरे से वरिष्ठ नहीं होता। जैसा कि सुभाष शर्मा वाले मामले में बताया गया है कि न्याय का प्रशासन न्यायालयों के माध्यम से किया जाता है और ऐसा प्रशासन न्याय के सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक पहलुओं से संबंधित होगा, जैसा कि संविधान की उद्देशिका में वर्णित किया गया है और इसलिए संविधान के आदेशों को पूरा करने के लिए सांविधानिक प्रणाली में न्यायपालिका सर्वप्रमुख और सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग बन जाती है।

96. न्यायपालिका को सौंपा गया सांविधानिक कार्य किसी भी प्रकार से दूसरे कृत्यकारियों (अंगों), अर्थात् विधानमण्डल और कार्यपालिका से कम नहीं है। वास्तव में सांविधानिक संदेश को कार्यान्वित करने में न्यायपालिका की भूमिका प्रमुख है और दूसरे सांविधानिक कृत्यकारियों (अंगों) द्वारा संविधान के बाहर जाकर अत्यधिक प्राधिकार का प्रयोग किए जाने पर नियंत्रण रखते हुए लोकतंत्र के कार्यकरण के ऊपर संविधान के आदेश, निर्देश और अनिवार्य समादेशों के अनुसार निगरानी रखने का उसका उत्तरदायित्व है। इस अर्थ में न्यायपालिका को एक सजग प्रहरी के रूप में कार्य करना होता है।

97. यह खेद का विषय है कि उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों में नियुक्ति करने के लिए अभ्यर्थियों के चयन के आरम्भिक प्रक्रम से लेकर न्यायिक प्रशासन से संबंधित कुछ ऐसी पेचीदी समस्याएं हैं जिनसे वर्तमान विवाद पैदा हुआ है। अतः यह अनिवार्य बन गया है कि इस स्थिति को सुधारने या ठीक करने के लिए प्रभावी कदम उठाए जाएं। इन समस्याओं पर ध्यान देने के पश्चात और उससे उद्भूत होने वाले सर्वनाशी परिणामों को महसूस करते हुए हम न्याय प्रणाली को और अधिक प्रभावी बनाने और समाज की समकालीन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उसे लोचदार बनाने के लिए शक्तिप्रद समाधान प्राप्त करने की क्षीण आशा में और जैसा कि अनुभव से दर्शित होता है यह आशा कभी भी पूरी नहीं हुई, अन्य सांविधानिक कृत्यकारियों (अंगों), विशेष रूप से कार्यपालिका की ओर निहारते हुए मात्र एक मूकदर्शक या चिरकालिक पक्का आशावादी नहीं बने रह सकते। अतः ऐसी कटु स्थिति का सामना करने पर हमारे लिए इन समस्याओं को संविधान के शब्द और भाव की दृष्टि में न्यायपालिका के कार्यकरण से संबंधित संविधान के विभिन्न उपबंधों का निर्वचन करते हुए सांविधानिक ढांचे के भीतर रहकर ही सुलझाना अनिवार्य हो गया है।

98. अतः इस दुर्भर काम को शुरु करने से पहले हम यह बात स्पष्ट करना चाहेंगे कि यह न्यायपालिका को शक्ति संघर्ष में किसी सामाजिक कुलीनतंत्र अथवा अपने ही न्यायिक

साम्राज्यवाद में बंद करने या न्यायिक सर्वोच्चता को अन्य सभी सांविधानिक कृत्यकारियों के ऊपर सिद्ध करने के मिथ्या अहंकार के लिए कोई प्रयास नहीं है बल्कि यह न्याय प्रणाली में न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय को प्रधानता दिए जाने का उसका विधिसम्मत अधिकार दिलाना है। निर्विवाद रूप से भारत का मुख्य न्यायमूर्ति न्यायिक प्रणाली के शीर्षस्थान पर होने के नाते न्यायपालिका का प्रमुख संरक्षक होता है जिससे आरम्भ से लेकर अन्त तक न्यायिक प्रणाली की व्यावहारिक समस्याओं में उसकी गहन अंतर्दृष्टि दर्शित होती है। वास्तव में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को संविधान में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त है।

99 संविधान के अनुच्छेद 124(2) और 217(1) के अधीन अपेक्षित किए गए अनुसार न्यायपालिका को दी गई उक्त महत्वपूर्ण भूमिका और भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की बाध्यता की पृष्ठभूमि में हम उन विभिन्न प्रश्नों की परीक्षा करेंगे जो गहन रूप से विचार-विमर्श किए जाने के लिए यहां उद्भूत हुए हैं।

100. भारतीय न्यायिक प्रणाली का स्वरूप स्तूपाकार होने के कारण यह संयुक्त राज्य अमरीका और आस्ट्रेलिया की दोहरी प्रणाली के विरुद्ध एक एकीकृत प्रणाली है। हमारी न्यायिक प्रणाली की रचना उर्ध्वाधर है जिसके शीर्ष पर यह न्यायालय (उच्चतम न्यायालय) है और जिसकी अंतर्वर्ती परतों में धरातल पर अधीनस्थ न्यायपालिका, मध्यम स्तर पर जिला न्यायाधीश और राज्य स्तर पर उच्च न्यायालय सम्मिलित हैं।

101. हम फिलहाल तत्समय विद्यमान अधिनियम और वर्तमान संविधान के उन सुसंगत उपबंधों के प्रति निर्देश से, जो हमारे द्वारा किए जाने के लिए प्रस्थापित विचार-विमर्श पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं, संविधान पूर्व और संविधान पश्चात् युग में न्यायाधीशों की नियुक्ति का संक्षिप्त हवाला देंगे।

भारत शासन अधिनियम, (गवर्नमेंट आफ इण्डिया ऐक्ट), 1919 के अधीन न्यायाधीशों की नियुक्ति—

102. भारत में उच्चतर न्यायपालिका के न्यायाधीशों की नियुक्ति के ढंग का एक लम्बा विकास क्रम रहा है। उस समय न्यायपालिका के भारतीयकरण की प्रक्रिया शैशवावस्था में थी और उसके लिए भारत शासन अधिनियम, 1919 में आधारिक सिद्धांत अधिकथित किए गए थे। उक्त अधिनियम की धारा 101 उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति करने का प्राधिकार हिज मजस्टी को प्रदान करती है। धारा 101 की उप-धारा (3) में उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति के लिए व्यक्ति की अर्हताएं उपवर्णित की गई हैं। उस धारा के कुछ अर्हक खण्डों के कारण भारतीयों की कोटा आरक्षण की संकल्पना के साथ उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के रूप में नियुक्त किए जाने के लिए संभावना खुलती है।

भारत शासन अधिनियम, (गवर्नमेंट आफ इण्डिया ऐक्ट), 1935 के अधीन न्यायाधीशों की नियुक्ति

103. भारत शासन अधिनियम, 1935 की धारा 200 की उपधारा (2) में, जो फैडरल कोर्ट के न्यायाधीशों की नियुक्ति के बारे में है, यह उपबंध किया गया है कि "फैडरल

कोर्ट का प्रत्येक न्यायाधीश हिज मजस्टी द्वारा रायल साइन मैनुअल के अधीन वारण्ट द्वारा नियुक्त किया जाएगा और वह 65 वर्ष की आयु प्राप्त होने तक पद धारण करेगा।" उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की भी 1935 के अधिनियम की धारा 220 की उपधारा (2) के अधीन उसी रीति में नियुक्ति की जाती थी किन्तु उसकी पदावधि 60 वर्ष की आयु तक होती थी।

104. संविधान सभा और उन विभिन्न समितियों में जो न्यायाधीशों की नियुक्ति और अन्य सहबद्ध मामलों के संबंध में नियुक्त की गई थीं, पर्याप्त विचार-विमर्श और वाद-विवाद के पश्चात् वर्तमान उपबंध, अर्थात् अनुच्छेद 124 (उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति के संबंध में) और अनुच्छेद 217 (उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति के सम्बन्ध में) संविधान में सम्मिलित किए गए थे। (इस संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि संविधान सभा में चर्चा के दौरान की गई सिफारिशों में से एक सिफारिश यह थी कि उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सहमति से की जानी चाहिए किन्तु इस सुझाव को स्वीकार नहीं किया गया।)

भारत के संविधान के अधीन उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति

105. संविधान के भाग 5 के अध्याय 4 में 'संघ न्यायपालिका' शीर्षक के अधीन अनुच्छेद 124 से लेकर 147 तक का समूह उच्चतम न्यायालय की स्थापना और गठन, न्यायाधीशों की नियुक्ति और उनकी शक्तियों, अधिकारों, अधिकारिता और सेवा संबंधी शर्तों आदि के बारे में है, जबकि भाग 6 के अध्याय 5 में 'राज्य के उच्च न्यायालय' शीर्षक के अधीन अनुच्छेद 214 से लेकर 231 में उच्च न्यायालयों के गठन, उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति और पद की शर्तें, एक उच्च न्यायालय से दूसरे उच्च न्यायालय में स्थानान्तरण सहित उनकी शक्तियों, अधिकार, अधिकारिता और सेवा संबंधी शर्तों के बारे में दिया गया है। उच्च न्यायालय या किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति करने की शक्ति क्रमशः अनुच्छेद 124(2) और 217(1) के अधीन राष्ट्रपति में निहित है। राष्ट्रपति के लिए यह बाध्यकर है कि वह भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को छोड़कर उच्चतम न्यायालय के किसी न्यायाधीश की नियुक्ति करने से पहले भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के साथ परामर्श करे। यदि राष्ट्रपति, स्वविवेकानुसार, उस प्रयोजन के लिए 'उच्चतम न्यायालय और राज्य के उच्च न्यायालयों के ऐसे न्यायाधीशों के साथ' परामर्श करना आवश्यक समझता है तो वह ऐसा कर सकता है जैसा कि अनुच्छेद 124(2) में अनुध्यात किया गया है। भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की नियुक्ति के लिए कोई भी विनिर्दिष्ट उपबंध नहीं है। इसी प्रकार उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति करने से पहले राष्ट्रपति के लिए भारत के मुख्य न्यायमूर्ति, राज्य सरकार और उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति के साथ (मुख्य न्यायमूर्ति से भिन्न किसी न्यायाधीश की नियुक्ति की दशा में) परामर्श करना आबद्धकर है, जिस पर ऐसा चुना गया व्यक्ति अनुच्छेद 217(1) के अधीन यथा अपेक्षित रूप में नियुक्त किया जाएगा।

106. संविधान में यह कहने के सिवाय कि 'भारत का एक उच्चतम न्यायालय होगा जो भारत के मुख्य न्यायमूर्ति......' (देखिए अनुच्छेद 124(1) और "प्रत्येक राज्य के लिए

एक उच्च न्यायालय होगा (देखिए अनुच्छेद 124) और यह कि प्रत्येक उच्च न्यायालय मुख्य न्यायमूर्ति······से मिल कर बनेगा", उसमें मुख्य न्यायमूर्ति की नियुक्ति के लिए कोई पृथक् और सुभिन्न प्रक्रिया विहित नहीं की गई है। चूंकि 'न्यायाधीश' शब्द के अन्तर्गत मुख्य न्यायमूर्ति भी आता है इसलिए उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति के लिए विहित प्रक्रिया का यथास्थिति अनुच्छेद 124(2) और 217(1) के अनुपालन में अनुसरण किया जाएगा।

107. **एस० पी० गुप्ता वाले मामले** की अवधि से लेकर आज तक उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायमूर्ति और न्यायाधीशों की नियुक्ति के संबंध में अनुसरित की जाने वाली प्रक्रिया और प्रस्ताव न्यूनाधिक एक से ही हैं। वर्तमान मौजूदा प्रक्रिया में कोई भी दृश्यमान महत्वपूर्ण परिवर्तन हमारी जानकारी में नहीं लाया गया। भारत संघ की ओर से प्रस्तुत किए गए लिखित तर्कों के साथ-साथ दो ज्ञापन, तारीख शून्य, प्रस्तुत किए गए हैं जिनसे **गुप्ता वाले मामले** में दिए गए विनिश्चय से पहले की प्रक्रिया दर्शित होती है। हम अब इन दोनों ही ज्ञापनों और साथ ही विधि आयोग की 121वीं रिपोर्ट में यथा वर्णित वर्तमान प्रक्रिया को उद्धृत करेंगे जिससे कि उच्चतर न्यायपालिका के न्यायाधीशों के चयन और नियुक्ति के मामले में अनुसरित की जाने वाली प्रक्रिया का स्पष्ट रूप मिल सके। यह कहा गया है कि उक्त दोनों ज्ञापन **गुप्ता वाले मामले** में दिए गए विनिश्चय से पहले जारी किए गए थे।

108. अनुच्छेद 124(2) के अधीन भारत के स्थायी मुख्य न्यायमूर्ति और उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति के बारे में प्रथम ज्ञापन में निम्नलिखित प्रक्रिया विहित की गई है—

> "जब कभी मुख्य न्यायमूर्ति के पद में कोई स्थायी रिक्ति होने की आशा की जाए तब विधि और न्याय मंत्री द्वारा प्राइवेट और व्यक्तिगत सरणी के माध्यम से आवश्यक कार्रवाई की जाएगी।
>
> जब कभी उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के पद में कोई स्थायी रिक्त स्थान होने की आशा की जाए तब भारत के मुख्य न्यायमूर्ति विधि और न्याय मंत्री को इस तथ्य की सूचना देंगे और साथ ही उस रीति के बारे में, जिसमें ऐसा रिक्त स्थान भरा जाना चाहिए, अपनी सिफारिश भी भेजेंगे। जब तक विधि और न्याय मंत्री का यह विचार न हो कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सिफारिश को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया जाए, वह उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के ऐसे न्यायाधीशों के साथ परामर्श कर सकेंगे जो वे आवश्यक समझें और यदि ऐसा परामर्श करने के पश्चात् विधि और न्याय मंत्री भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की जानकारी में कोई बात लाना या किसी ऐसे अन्य व्यक्ति के दावे पर, जिसकी भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा सिफारिश नहीं की गई है, विचार किए जाने का सुझाव देना वांछनीय समझते हैं तो वे व्यक्तिगत पत्र व्यवहार द्वारा अपने इन सुझावों को भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को सूचित कर सकेंगे। भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के विचारों के अन्ततः प्राप्त होने पर विधि और न्याय मंत्री प्रधानमंत्री की सहमति से राष्ट्रपति को चयन किए जाने के लिए सलाह देंगे।"

109. अनुच्छेद 217(1) के अधीन उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति और न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले में द्वितीय ज्ञापन में निम्नलिखित प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है—

"जब कभी न्यायाधीश के पद में कोई रिक्त स्थान होने की आशा की जाए, तब मुख्य न्यायमूर्ति ऐसी स्थायी नियुक्ति के लिए चयन किए जाने वाले व्यक्ति के बारे में अपने विचारों को राज्य के मुख्य मंत्री को यथा संभव शीघ्र संसूचित करेंगे। मुख्य मंत्री, राज्यपाल के साथ परामर्श करके, केन्द्रीय सरकार के विधि और न्याय मंत्री को अपनी सिफारिशें भेजेंगे। ऐसे व्यक्तियों के, विशेष रूप से उन व्यक्तियों के जिनका उल्लेख उपाबंध I में किया गया है, जिनकी सिफारिश की गई है, पूर्ण विवरण अनिवार्यतः भेजे जाने चाहिए। जब मुख्य मंत्री या राज्यपाल मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा भेजे गए किसी व्यक्ति के नाम से भिन्न दूसरे व्यक्ति के नाम की सिफारिश करने का प्रस्ताव करें, तब मुख्य न्यायमूर्ति को तदनुसार सूचित किया जाना चाहिए और उनकी टिप्पणियां मांगी जानी चाहिए। इन टिप्पणियों को अनिवार्यतः मुख्य मंत्री की संसूचना के साथ केन्द्रीय सरकार के विधि और न्याय मंत्री के पास भेजा जाना चाहिए। विधि और न्याय मंत्री भारत के मुख्य न्यायमूर्ति और प्रधान मंत्री के साथ परामर्श करके चयन के बारे में राष्ट्रपति को अपनी सलाह भेजेंगे। इसी प्रक्रिया का इस बात के सिवाय कि मुख्य न्यायमूर्ति की नियुक्ति के लिए सिफारिश मुख्य मंत्री के स्तर से आरम्भ होगी, मुख्य न्यायमूर्तियों की नियुक्ति के बारे में पालन किया जाएगा।"

110. अब हम अपना ली गई वर्तमान मौजूदा प्रक्रिया को उद्धृत करना चाहेंगे जैसी कि वह भारत के विधि आयोग की 121वीं रिपोर्ट में पाई जाती है (जुलाई 1987, पृ० 10) जो इस प्रकार है—

"मौजूदा स्थिति यह है कि आम तौर पर उच्चतम न्यायालय में किसी रिक्त स्थान को भरने के लिए प्ररूपिक प्रस्ताव भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा विधि और न्याय मंत्री को ऐसे व्यक्ति के नाम की, जिसे उनके द्वारा उपयुक्त समझा गया है, सिफारिश करते हुए आरम्भ की जाती है। यदि मंत्री इस सिफारिश को स्वीकार कर लेते हैं तो इस प्रस्ताव को भारत के प्रधान मंत्री के पास भेज दिया जाता है जो यदि उसका अनुमोदन कर देते हैं तो राष्ट्रपति को स्वयं अपने हस्ताक्षर से नियुक्ति का एक प्ररूपिक अधिपत्र जारी करने के लिए सलाह देगा। इसी प्रकार उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की दशा में प्ररूपिक प्रस्ताव उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा आरम्भ किया जाता है और यदि उसे राज्य के मुख्य मंत्री, राज्य के राज्यपाल, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति और भारत सरकार के विधि और न्याय मंत्री द्वारा स्वीकार कर लिया जाए तो उस पर कार्रवाई की जाती है और उसे भारत के प्रधान मंत्री के पास भेजा जाता है जो यदि उसका अनुमोदन कर देते हैं तो राष्ट्रपति को नियुक्ति का प्ररूपिक अधिपत्र जारी करने के लिए सिफारिश करेंगे।"

111. हमारे संविधान के उद्भव काल से ही राष्ट्रपति "अपने हस्ताक्षर और मुद्रा से अधिपत्र द्वारा" किसी न्यायाधीश की नियुक्ति करते समय उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के मामले में अनुच्छेद 74 के अधीन मंत्रि परिषद् की सहायता और सलाह के आधार पर कार्य करते हैं। किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति के मामले में राज्य के मंत्रि परिषद् की राय को भी, जिसकी सहायता और सलाह के आधार पर राज्यपाल अपनी राय व्यक्त करते हैं, अनुच्छेद 74 के अधीन केन्द्रीय सरकार के मंत्रि परिषद् की सहायता और सलाह के अतिरिक्त विचार में लिया जाएगा।

112. चयन की इस विद्यमान पद्धति और युक्ति के विरुद्ध, जिसके माध्यम से चयन किए गए व्यक्तियों को उच्चतर न्यायपालिका में नियुक्त किया जाता है, असंतोष का स्वर उठता रहा है और उठाया जाता है। भारत के विधि आयोग की 121वीं रिपोर्ट में यह कहा गया है कि "यह असंतोष उच्चतर न्यायपालिका के सदस्यों की आदर्श स्थिति के संबंध में विचारों और जो उपलब्ध हैं, उनमें स्पष्ट प्रतीत होता है। इस कटु आलोचना की ऋजुता और औचित्य का विवेचन करने की दृष्टि से सबसे पहले इस बात का अवधारण करना आवश्यक है कि उच्चतर न्यायपालिका से व्यक्तिगत रूप से और संस्थागत रूप से क्या आशा की जाती है।"

113. जब कि मुख्य न्यायमूर्ति और न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिए प्रक्रिया इस रूप में मौजूद थी, इस न्यायालय के समक्ष अनेक रिट याचिकाएं फाइल की गईं जिनमें से एक रिट याचिका इलाहाबाद उच्च न्यायालय में विधि-व्यवसाय कर रहे एक ज्येष्ठ अधिवक्ता, श्री एस० पी० गुप्ता द्वारा फाइल की गई थी। इन सभी रिट याचिकाओं में भारत सरकार के तत्कालीन विधि मंत्री द्वारा पंजाब के राज्यपाल और दूसरे राज्यों के मुख्य मंत्रियों को संबोधित तारीख 18 मार्च, 1981 के एक परिपत्र/पत्र की सांविधानिक विधिमान्यता को चुनौती दी गई थी। इस न्यायालय में विधि-व्यवसाय कर रहे एक ज्येष्ठ अधिवक्ता, श्री वी० एम० तारकुण्डे द्वारा फाइल की गई एक रिट याचिका में उक्त प्रार्थना के अतिरिक्त विभिन्न उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले में केन्द्रीय सरकार द्वारा अनुसरित की जाने वाली प्रक्रिया और पद्धति को चुनौती दी गई थी। सात न्यायाधीशों की न्यायपीठ द्वारा, जिसकी अध्यक्षता न्या० पी० एन० भगवती (जैसे कि विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति उस समय थे) द्वारा की गई थी, इन सभी रिट याचिकाओं की एक साथ सुनवाई की गई। सभी सातों न्यायाधीशों ने पृथक्-पृथक् निर्णय दिए हैं। न्या० भगवती ने, जिन्होंने मुख्य निर्णय दिया है, अपनी राय इस प्रकार व्यक्त की है—

> "अत: केन्द्रीय सरकार को ऐसे सांविधानिक कृत्यकारियों (अंगों) द्वारा, जिनसे परामर्श किया जाना अपेक्षित है, दी गई राय को अतिष्ठित करने और उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय में किसी न्यायाधीश की नियुक्ति की बाबत स्वयं अपना निर्णय लेने की स्वतंत्रता है जहां तक ऐसा निर्णय सुसंगत विचारणा पर आधारित है और वह अन्यथा असद्भावपूर्ण नहीं है। यदि सभी सांविधानिक कृत्यकारियों (अंगों) द्वारा, जिनसे उसके द्वारा परामर्श किया गया है, दी गई राय एक समान है, तो भी केन्द्रीय सरकार ऐसी राय के अनुसार कार्य करने के लिए आबद्ध नहीं है हालांकि सभी तीनों सांविधानिक कृत्यकारियों (अंगों) की सर्वसम्मत राय होने के कारण उसका

अत्यधिक बल होगा और यदि केन्द्रीय सरकार द्वारा ऐसी सर्वसम्मत राय की उपेक्षा करते हुए कोई नियुक्ति की जाती है तो उसे प्रथम दृष्ट्या इस आधार पर प्रश्नगत किया जा सकेगा कि वह असद्भावपूर्ण है या विसंगत आधारों पर आधारित है। यही स्थिति उस दशा में भी होगी यदि केन्द्रीय सरकार द्वारा कोई नियुक्ति उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति और भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सर्वसम्मत राय के विरुद्ध की जाती है......।"

114. **गुप्ता वाले मामले में व्यक्त किए गए उक्त विचार,** जिसमें न्यायालय द्वारा भारत के मुख्य न्यायमूर्ति सहित सांविधानिक कृत्यकारियों (अंगों) की राय की उपेक्षा करते हुए भी केन्द्रीय सरकार के अनन्य विवेकाधिकार के अधीन रहते हुए उच्चतर न्यायपालिका के न्यायाधीशों के चयन और नियुक्ति के मौजूदा वर्तमान ढंग का अनुमोदन किया जा चुका है और नियुक्ति के वर्तमान ढंग और पद्धति में परिवर्तन के लिए लम्बे समय से महसूस की जाती रही आवश्यकता ही इन वर्तमान रिट याचिकाओं को फाइल करने का आसन्न कारण प्रतीत होता है।

115. याचियों की शिकायत यह है कि वर्तमान स्कीम के अधीन कार्यपालिका ने, जिसे उच्चतर न्यायपालिका के न्यायाधीशों के चयन और नियुक्ति के मामले में 'प्रधानता का अधिकार' और 'चयन की स्वतंत्रता' दी गई है, 'अधिपतियों के अधिपति' (लार्ड आफ लार्ड्स) की भूमिका ग्रहण कर ली है और वह वस्तुतः एक 'अधिराज' (ओवर लार्ड) के रूप में कार्य करती है, परिणामस्वरूप जिसे भारत के मुख्य न्यायमूर्ति सहित सभी तीनों सांविधानिक कृत्य-कारियों (अंगों) की सर्वसम्मत राय की उपेक्षा करते हुए भी नियुक्तियां करने का अधिकार है, यह कि पूरी तरह न्याय प्रणाली के संबंध में इस संपूर्ण प्रक्रिया के दौरान भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की स्थिति आरम्भिक प्रक्रम पर एक परामर्शदाता के सिवाय अन्यथा इस प्रक्रिया में एक सक्रिय भागीदार होने के बजाय एक निष्क्रिय दृष्टा और मूकदर्शक जैसी हो गई है और यह कि उच्चतर न्यायपालिका, जिसका प्रधान भारत का मुख्य न्यायमूर्ति होता है, जो कि सभी सांविधानिक प्रश्नों का अन्तिम निर्णायक होती है, खेदपूर्वक इस प्रक्रिया में 'अल्पतंत्र की निरंकुशता' के अधीन हो गई है। उनके मतानुसार न्यायपालिका की स्वतंत्रता के इस सिद्धांत का, कार्यपालिका की महत्ता को इस प्रकार से न्यायपालिका की तुलना में उच्च आधार पर रख कर मान्यता देते हुए और न्यायपालिका को एक हीन स्थिति तक पहुंचाते हुए गला घोंटा जा रहा है। यह कहा गया है कि इस अपयश के कारण स्वयं न्यायपालिका में न्यायाधीशों की नियुक्ति करने के मामले में न्यायिक प्रणाली में अव्यवस्था फैल गई है और उसे अपने ही क्षेत्र में जीवित रहने के लिए संघर्ष करना पड़ रहा है।

116. इन कार्यवाहियों के शुरू किए जाने को न्यायोचित ठहराते हुए यह कहा गया है कि चूंकि न्यायाधीश विशेष रूप से मुख्य न्यायमूर्ति, जिनकी इस अधिकारिता संबंधी संघर्ष में उपेक्षा कर दी गई है, अपने न्यायिक चोगे को अस्थायी रूप से भी अलग नहीं रख सकते और इस ज्वलंत और नाजुक समस्या पर कोई राजनैतिक वाद-विवाद नहीं कर सकते, इसलिए याचियों ने, जो न्यायपालिका की स्वतंत्रता के सिद्धांत में अधिक हितबद्ध और जुड़े हुए हैं, इस वास्तविक आशंका के साथ इस न्यायालय में समावेदन किया है कि यदि न्यायाधीशों की

नियुक्ति के मामले में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय को 'प्रधानता' नहीं दी जाती है तो संपूर्ण न्यायिक प्रणाली का गौरव पूरी तरह कम और नष्ट हो जाएगा।

117. भारत संघ की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल, श्री परासरन ने उक्त तर्कों का यह दलील देते हुए प्रतिलाभ उठाने का प्रयास किया है कि भावुकतापूर्ण दलीलें और मौखिक कसरत शब्दाडम्बर से अधिक कुछ नहीं है। उनके मतानुसार न्यायाधीशों की नियुक्ति की मौजूदा वर्तमान प्रक्रिया को अक्षत या उसमें परिवर्तन किए जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह और दलील दी गई है कि याचियों की ओर से दिए गए तर्कों में कोई बल नहीं है और वे खोखली हैं क्योंकि मौजूदा वर्तमान प्रक्रिया ही, जो कि समय की कसौटी पर खरी उतरी है, एकमात्र ऐसी स्वीकार्य प्रक्रिया है जो सांविधानिक समादेश के यथार्थतः अनुरूप है। उन्होंने यह कहा है कि न्यायाधीशों के चयन और नियुक्ति के वर्तमान ढंग और युक्ति में ऐसी कोई भी गूढ़ बात नहीं है जैसा कि याचियों के विद्वान् काउंसेल द्वारा अतिरंजित होकर बताया गया है, जिसमें किसी परिवर्तन या उपान्तर की आवश्यकता हो। उन्होंने आगे यह और कहा है कि इस प्रणाली में किसी भी परिवर्तन या उपान्तर से संविधान का अतिक्रमण होगा। किन्तु साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि वे न्यायपालिका की गरिमा और स्वतंत्रता को कायम रखने वाले प्रथम व्यक्ति हैं।

118. इस बात का पता लगाने के उद्देश्य से कोई उद्यमशील यात्रा करने से पहले, कि क्या सांविधानिक स्कीम के विरुद्ध उच्चतर न्यायपालिका के न्यायाधीशों के चयन और नियुक्ति के वर्तमान ढंग और तरीके में कोई त्रुटियां हैं और यदि ऐसी त्रुटियां हैं तो वे कौन-सी त्रुटियां हैं और वे कौन-से उपाय होंगे जिनसे उन त्रुटियों को दूर किया जा सकेगा, हम आरम्भ में ही यह बात स्पष्ट करना चाहेंगे कि हम इस बात की जांच या अन्वेषण नहीं करेंगे कि 'विधि क्या थी, विधि क्या है और विधि क्या होनी चाहिए' बल्कि हम उन सुसंगत सांविधानिक उपबंधों का, 'जैसे वे मौजूद हैं, उनका कोई कठोर अर्थान्वयन या उनसे कोई कटु अनुमान निकाले बिना उनका वास्तविक भाव और सही उद्देश्य में निर्वचन करेंगे।

119. इसको दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि हम इस तीव्र वाद-विवाद योग्य मुद्दों का न्यायपालिका के ढांचे और प्रणाली की पुनःरचना और पुनरुज्जीवित करने के स्वीकृत उद्देश्य के साथ यदि ऐसा अपेक्षित हो तो, निपटारा करने के लिए विवश हैं, जिससे कि आने वाले समय में इस प्रणाली की स्थिरता को एक दृढ़ आधार और अवलम्ब प्राप्त हो सके क्योंकि यदि यह प्रणाली कमजोर या पंगु हो जाती है अथवा वह निर्बल या शक्तिहीन हो जाती है तो उसका महत्व और प्राधिकार नष्ट हो जाएगा। परिणामस्वरूप अन्य सांविधानिक कृत्यकारी (अंग) न्यायिक प्रणाली पर हावी (अभिभावी) होने का प्रयत्न करेंगे जैसा कि इस कहावत से स्पष्ट है—'जब किसी साम्राज्य की गरुड़-पताका गिर पड़ती है तो प्रत्येक चिड़िया (गौरैया) उसका एक पंख उठा ले जाती है।' न्यायपालिका, न तो कार्यपालिका के और न अन्य किसी प्राधिकारी के ही, चाहे वह कितना ही सशक्त क्यों न हो, अधीनस्थ है।

120. यहां इस निर्णय के आरम्भिक भाग में की जाने वाली चर्चा की भूमिका के रूप में **'एलमीरा इन 1907'** के भाषण को दोहराना प्रासंगिक होगा। उन्होंने यह कहा है

कि "हम संविधान के अधीन हैं किन्तु संविधान वह है जो न्यायाधीश उसे बताते हैं और न्यायपालिका संविधान के अधीन हमारी स्वतंत्रता और हमारी सम्पत्ति की रक्षक है।"

121. मुख्य न्यायमूर्ति मार्शल ने न्यायिक क्रियावाद का निर्वचन करते हुए इस प्रकार मत व्यक्त किया है—

"हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि जिसकी हम व्याख्या कर रहे हैं, वह एक संविधान है और वह एक ऐसा संविधान है जिसका आगे आने वाले समय के लिए चिरस्थायी होना और परिणामतः मानव कार्यकलापों के विभिन्न संकटों के अनुकूलित होना आशयित है। उन्होंने यह भी नहीं चाहा कि इसका इतना कठोर निर्वचन किया जाए कि सरकार के कार्यकरण को सरलतापूर्वक चलाते रहने के लिए संशोधनों और आमूलचूल पुनरीक्षण की निरन्तर आवश्यकता हो।"

122. उक्त दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए अब हम सुसंगत सांविधानिक उपबंधों का उनके सही भाव में और उनकी अधिक खींचातानी किए बिना परीक्षा करते हैं।

123. अनुच्छेद 124 के खण्ड (1) और (2) तथा उसका प्रथम परन्तुक इस प्रकार है—

"124. **उच्चतम न्यायालय की स्थापना और गठन**—(1) भारत का एक उच्चतम न्यायालय होगा जो भारत के मुख्य न्यायमूर्ति और, जब तक संसद् विधि द्वारा अधिक संख्या विहित नहीं करती है तब तक, सात से अनधिक अन्य न्यायाधीशों से मिलकर बनेगा।

(2) उच्चतम न्यायालय के और राज्यों के उच्च न्यायालयों के ऐसे न्यायाधीशों से परामर्श करने के पश्चात्, जिनसे राष्ट्रपति इस प्रयोजन के लिए परामर्श करना आवश्यक समझे, राष्ट्रपति अपने हस्ताक्षर और मुद्रा सहित अधिपत्र द्वारा उच्चतम न्यायालय के प्रत्येक न्यायाधीश को नियुक्त करेगा और वह न्यायाधीश तब तक पद धारण करेगा जब तक वह पैंसठ वर्ष की आयु प्राप्त नहीं कर लेता है :

परन्तु मुख्य न्यायमूर्ति से भिन्न किसी न्यायाधीश की नियुक्ति की दशा में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से सदैव परामर्श किया जाएगा"।

अब 1966 के अधिनियम सं० 22 के अनुसार "पच्चीस"।

124. उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति के बारे में अनुच्छेद 217(1) इस प्रकार है —

"**उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति और उसके पद की शर्तें**—(1) भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से, उस राज्य के राज्यपाल से और मुख्य न्यायमूर्ति से भिन्न किसी न्यायाधीश की नियुक्ति की दशा में उस उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श करने के पश्चात्, राष्ट्रपति अपने हस्ताक्षर और मुद्रा सहित अधिपत्र द्वारा उच्च न्यायालय के प्रत्येक न्यायाधीश को नियुक्त करेगा, और............।"

1993(10) eILR(PAT) SC 1

125. उक्त उपबंधों के अधीन राष्ट्रपति को विनिर्दिष्ट सांविधानिक कृत्यकारियों से "परामर्श करने के पश्चात्" अपने हस्ताक्षर और मुद्रा सहित अधिपत्र द्वारा नियुक्ति करने का प्राधिकार निहित किया गया है। उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति की दशा में जिन परामर्शदाताओं से राष्ट्रपति स्वविवेकानुसार परामर्श कर सकता है, वे इस प्रकार हैं—

(1) उच्चतम न्यायालय के ऐसे न्यायाधीश,

और

(2) राज्यों में उच्च न्यायालयों के ऐसे न्यायाधीश,

जिनके साथ राष्ट्रपति इस प्रयोजन के लिए परामर्श करना आवश्यक समझे। किन्तु अनुच्छेद 124 के उप-खण्ड (2) के परन्तुक में राष्ट्रपति के लिए मुख्य न्यायमूर्ति से भिन्न न्यायाधीश की नियुक्ति की दशा में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श करना आबद्धकर बनाया गया है। इस प्रकार, अनुच्छेद 124(2) में दो प्रकार के परामर्श अनुध्यात किए गए हैं, एक राष्ट्रपति के विवेकानुसार और दूसरा जो आज्ञापक है। मुख्य न्यायमूर्ति से भिन्न उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति की दशा में सांविधानिक कृत्यकारी (अंग) निम्नलिखित हैं—

(1) भारत का मुख्य न्यायमूर्ति,

(2) राज्य का राज्यपाल, और

(3) संबंधित उच्च न्यायालय का मुख्य न्यायमूर्ति।

126. अतः यह स्पष्ट है कि अनुच्छेद 217(1) के अधीन राष्ट्रपति द्वारा 'परामर्श' किए जाने की प्रक्रिया आज्ञापक है और इस खण्ड में किसी भी अन्य प्राधिकारी के साथ किसी वैवेकिक परामर्श के बारे में नहीं कहा गया है जैसा कि उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति की दशा में अनुच्छेद 124 के खण्ड (2) में अनुध्यात किया गया है। शब्द 'परामर्श' सशक्त और अर्थपूर्ण है जिसकी अपरिभाषित स्वर-शैली है और उसमें सभी प्रश्नों तथा भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय को प्रधानता दिए जाने की कसौटी सहित सभी विभिन्न कसौटियों का उत्तर दिया गया है। इस कसौटी से अनेक कठिन प्रश्न उठते हैं जिनमें से एक यह है कि जिस संदर्भ में 'परामर्श' पद का संविधान में प्रयोग किया गया है उसके अनुसार 'परामर्श' पद का क्या अर्थ है। जैसा कि उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति की दशा में है, कुछ और ऐसे सांविधानिक उपबंध हैं जिनमें 'परामर्श' शब्द का प्रयोग किया गया है। वे उपबंध इस प्रकार हैं—

> अनुच्छेद 148 के खण्ड (5) में यह कहा गया है कि इस संविधान के और संसद् द्वारा बनाई गई किसी विधि के उपबंधों के अधीन रहते हुए भारतीय लेखा परीक्षा और लेखा विभाग में सेवा करने वाले व्यक्तियों की सेवा की शर्तें और नियंत्रक महालेखा परीक्षक की प्रशासनिक शक्तियां ऐसी होंगी जो नियंत्रक महालेखा परीक्षक से परामर्श करने के पश्चात् राष्ट्रपति द्वारा बनाए गए नियमों द्वारा विहित की जाएं।

अनुच्छेद 222 के खण्ड (1) में यह कहा गया है कि राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श करने के पश्चात् किसी न्यायाधीश का एक उच्च न्यायालय से दूसरे उच्च न्यायालय को अन्तरण कर सकेगा।

अनुच्छेद 320 के खण्ड (3) में यह कहा गया है कि यथास्थिति संघ लोक सेवा आयोग या राज्य लोक सेवा आयोग से उक्त खण्ड के उप-खण्ड (क) से लेकर (ङ) तक में प्रगणित विषयों पर परामर्श किया जाएगा।

अनुच्छेद 338 का खण्ड (9) इस प्रकार है—"संघ और प्रत्येक राज्य सरकार अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजातियों पर प्रभाव डालने वाले सभी प्रमुख नीति विषयक मामलों पर आयोग से परामर्श करेगा।

127. उक्त सभी अनुच्छेदों में परामर्श का स्वरूप आज्ञापक है। देखिए **मनबोधन लाल श्रीवास्तव बनाम उत्तर प्रदेश राज्य**[1]।

128. तथापि, राष्ट्रपति द्वारा परामर्श के प्रश्न का जैसा कि किसी न्यायाधीश की नियुक्ति के मामले में है, राष्ट्रपति द्वारा कुछ अन्य सांविधानिक नियुक्त किए जाने वाले व्यक्तियों की नियुक्ति के संबंध में समर्थन नहीं होता, अर्थात्—(1) अनुच्छेद 280(1) के अधीन वित्त आयोग का अध्यक्ष और सदस्य; (2) अनुच्छेद 316(1) के अधीन संघ आयोग या संयुक्त आयोग की दशा में लोक सेवा आयोग का अध्यक्ष और सदस्य; (3) अनुच्छेद 324(2) के अधीन मुख्य निर्वाचन आयुक्त और अन्य निर्वाचन आयुक्त; (4) अनुच्छेद 344(1) के अधीन आठवीं अनुसूची में विनिर्दिष्ट विभिन्न भाषाओं का प्रतिनिधित्व करने वाले आयोग का अध्यक्ष और अन्य सदस्य; और (5) अनुच्छेद 350-ख के अधीन भाषाई अल्पसंख्यक विशेष अधिकारी।

129. शब्द 'परामर्श' (कंसलटेशन) एक संज्ञा है जब कि शब्द 'परामर्श लेना' (कंसल्ट) क्रिया है और 'सलाहकार' (कंसलटेटिव) एक विशेषण है। **शार्टर आक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी** में 'परामर्श' पद का अर्थ इस प्रकार दिया गया है—

> "कंसलटेशन (परामर्श) : 1. परामर्श लेने की क्रिया या एक साथ मिलकर परामर्श करना; विचार-विमर्श, परामर्श; 2. सम्मेलन जिसमें पक्षकार, उदाहरणार्थ वकील या चिकित्सा व्यवसायी, परामर्श और विचार-विमर्श करते हैं; 3. परामर्श करने की क्रिया·········।"

130. **वैबस्टर्स एनसाइक्लोपीडिक अनएब्रिज्ड डिक्शनरी आफ दि इंग्लिश लैंगुएज** में कंसलटेशन शब्द का अर्थ इस प्रकार दिया गया है—

> "कंसलटेशन : 1. परामर्श, सलाह लेने का कार्य; 2. विचार-विमर्श, चर्चा या निर्णय के लिए बैठक············।"

131. **ब्लैक्स ला डिक्शनरी** में इस पद को इस प्रकार परिभाषित किया गया है—

[1] 1958 एस० सी० आर० 533.

1993(10) eILR(PAT) SC 1

"कंसलटेशन : सलाह लेने या परामर्श लेने का कार्य; उदाहरणार्थ रोगी का चिकित्सक के साथ, मुवक्किल का वकील के साथ। किसी विषय पर व्यक्तियों के बीच विचार-विमर्श। किसी मामले में लगाए गए काउंसेल के बीच उस मामले के प्रश्नों पर विचार-विमर्श करने या उसका संचालन करने की पद्धति को व्यवस्थित करने के लिए सम्मेलन।"

132. **स्ट्राउड्स ला लैक्सीकन** में निम्नलिखित परिभाषा दी गई है—

"कंसलटेशन : (न्यू टाउंस ऐक्ट, 1946) 9 एण्ड 1 (जीईओ 6, सी० 68), धारा 1(1), 'किसी स्थानीय प्राधिकारी के साथ परामर्श। 'परामर्श' से यह अभिप्रेत है कि एक ओर मंत्री को स्थानीय प्राधिकारी को सलाह देने के लिए उन्हें समर्थ बनाने हेतु पर्याप्त जानकारी प्रदान करनी चाहिए और दूसरी ओर सलाह देने के लिए स्थानीय प्राधिकारी को पर्याप्त अवसर प्रदान किया जाना चाहिए।" रोलो **बनाम** मिनिस्टर आफ टाउन एण्ड कण्ट्री प्लानिंग, [(1987) 1 आल इंग्लैण्ड ला रिपोर्ट्स 13 सी० ए०] में बल्कनिल एल० जे० के अनुसार; साथ ही देखिए फ्लैचर **बनाम** मिनिस्टर आफ टाउन एण्ड कण्ट्री प्लानिंग [1947 (2) आल इंग्लैण्ड ला रिपोर्ट्स 496].

133. **वर्ड एण्ड फ्रेजेज—परमानेंट एडीशन** में 'कंसल्ट' शब्द का अर्थ इस प्रकार दिया गया है—

"परामर्श से किसी अन्य व्यक्ति की राय या सलाह लेना, परामर्श करना; एक साथ मिलकर विचार-विमर्श करना; सलाह लेना; विचार-विमर्श करना; चर्चा करना; कार्य पूरा करने के लिए सलाह लेना; उपाय किया जाना; युक्ति निकालना; सलाह देने के लिए कहना। जानकारी मांगना; जानकारी या अनुदेश के लिए आवेदन करना; निर्देश करना अभिप्रेत है। टैपलिस्की **बनाम** सिटी आफ न्यू यार्क (133 एन० वाई० एस० सेकेण्ड 260,261)"

134. बोलचाल की भाषा में, जब कभी 'परामर्श' पद का वकील या चिकित्सक या इंजीनियर आदि के संबंध में प्रयोग किया जाता है तब उससे राय या सलाह या सहायता या जानकारी या अनुदेश की ईप्सा करना अभिप्रेत होगा। **कार्पस जूरिस सेकेण्डस वाल्यूम 16ए, पृ० 1243** पर 'कंसलटेशन' शब्द का अर्थ इस प्रकार दिया गया है—

"कंसलटेशन: 'कंसलटेशन' (परामर्श) शब्द को साधारणतः परिभाषित किया गया है जिससे परामर्श लेने का कार्य; निर्णय लेने की दृष्टि से विचार-विमर्श अभिप्रेत है और न्यायिक रूप से जिससे किसी मामले पर दो या अधिक व्यक्तियों के बीच विचार-विमर्श अभिप्रेत है; साथ ही किसी विशेष मामले पर विचार करने के लिए परिषद् या सम्मेलन। विशेष संबंध में, इस शब्द को इस प्रकार परिभाषित किया गया है कि उससे किसी मामले में लगाए गए काउंसेल के बीच सम्मेलन; उससे संबंधित प्रश्नों पर विचार-विमर्श करना; उसका संचालन करने के तरीके की व्यवस्था करना अभिप्रेत है, किसी चिकित्सक की सेवाओं को स्वीकार करना, किसी व्यक्ति

के लक्षणों के अनुसार उससे सलाह लेना और उससे सहायता प्राप्त करना अभिप्रेत है।"

135. **पी० रामनाथ अय्यर कृत ला लैक्सीकन** में इस प्रकार कहा गया है—

"परामर्श के लिए सदैव कम-से-कम दो व्यक्ति अपेक्षित हैं; परामर्श या तो किसी व्यक्ति का स्वयं के साथ अथवा अनेक व्यक्तियों के साथ किया जा सकता है; कोई एक व्यक्ति किसी एक के साथ या कई व्यक्तियों के साथ परामर्श कर सकता है ; सभाओं में सामान्य रूप से विचार-विमर्श किया जाता है; परामर्श में सलाह और जानकारियां प्रदान और प्राप्त की जाती हैं ; विचार-विमर्श में संदेह, कठिनाइयां और आपत्तियां बताई जाती हैं और उन्हें दूर किया जाता है। जिन व्यक्तियों से सहायता ली जानी होती है उनके साथ बार-बार मिलकर परामर्श किया जाना चाहिए ; जिन व्यक्तियों को गम्भीर विषयों का निर्णय करना होता है उन्हें शांतिपूर्वक विचार-विमर्श करना चाहिए।"

136. अनुच्छेद 124 के खण्ड (2) में 'परामर्श करने के पश्चात्' पद का प्रयोग किया गया है जबकि उक्त खण्ड के परंतुक में 'सदैव परामर्श किया जाएगा' पद का प्रयोग किया गया है। अनुच्छेद 217(1) में 'परामर्श' करने के पश्चात् पद का प्रयोग किया गया है।

137. 'परामर्श' शब्द का जब विधिक अर्थ में प्रयोग किया जाता है तब इस विषय की कई अवसरों पर इस न्यायालय और साथ ही उच्च न्यायालयों तथा विदेशी न्यायालयों में न्यायिक संवीक्षा की गई है। हम यहां कुछ ऐसे निर्णयों, जिनमें उक्त शब्द का निर्वचन किया गया है, दोहराना चाहेंगे।

138. 'परामर्श' (कंसल्ट) शब्द **फ्लैचर** बनाम **मिनिस्टर आफ टाउन प्लानिंग**[1] में न्यायिक संवीक्षा की गई है जिसमें विद्वान् न्यायाधीश ने इस प्रकार मत व्यक्त किया है—

"'कंसलटेशन' (परामर्श) शब्द एक सामान्य प्रयोग का शब्द है और उसे भलीभांति समझा जाता है। मेरे मतानुसार, परिभाषा के शब्दों को गढ़ने से कोई उपयोगी प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। और न कोई ऐसी रीति अधिकथित करना ही युक्तियुक्त होगा जिसमें परामर्श किया जाना चाहिए। अधिनियम में परामर्श का कोई विशिष्ट रूप विहित नहीं किया गया है। यदि परामर्श न करने की कोई शिकायत की जाती है तो यह न्यायालय का काम होगा कि वह विशिष्ट मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में इस बात की परीक्षा करें और इस बात का निर्णय करे कि क्या वास्तव में परामर्श किया गया था या नहीं। परामर्श बहुधा एक निरंतर प्रक्रिया हो सकती है और एक सभा की कोई घटना पश्चात्वर्ती सभा की पृष्ठभूमि बन सकती है।"

मद्रास डिस्ट्रिक्ट म्युनिसिपैलिटीज ऐक्ट, 1920 की धारा 3 इस प्रकार है कि "किसी नगरपालिक परिषद के पार्षदों के निर्वाचन के प्रयोजन के लिए स्थानीय

---

[1] (1947) 2 आल इंग्लैंड ला रिपोर्ट्स 496.

1993(10) eILR(PAT) SC 1

शासन नगरपालिक परिषद से **परामर्श करने के पश्चात्** अधिसूचना द्वारा नगरपालिकाओं के वार्डों का विनिश्चय कर सकता है………" न्या० के० सुब्बा राव (जैसे कि इस न्यायालय के माननीय मुख्य न्यायमूर्ति उस समय थे) ने, जो तत्समय मद्रास उच्च न्यायालय की उस न्यायपीठ में भी सम्मिलित थे जिसने **आर० पुष्पम और एक अन्य बनाम मद्रास राज्य**[1] वाले मामले में 'परामर्श' शब्द का निर्वचन इस प्रकार किया था—

"'परामर्श' (कंसल्ट) शब्द से दो या अधिक व्यक्तियों का सम्मेलन अथवा किसी विषय के संबंध में दो या अधिक व्यक्तियों का दिमागी संघर्ष विवक्षित है जिससे कि वह कोई सही या कम-से-कम संतोषप्रद समाधान (उपाय) ढूंढने में समर्थ हो सकें। ऐसा 'परामर्श' सम्मेलन के पटल पर या पत्र-व्यवहार के माध्यम से किया जा सकता है। आकार महत्वपूर्ण नहीं है बल्कि सार महत्वपूर्ण होता है। यह आवश्यक है कि परामर्श अनिवार्य मुद्दों और चर्चा में अन्तर्वलित विषयों के सार पर ही किया जाए। ऐसा परामर्श परामर्शदाता को उसके समक्ष निर्णय हेतु उद्भूत होने वाले प्रश्नों के पक्ष और विपक्ष पर विचार करने के लिए समर्थ बनाने वाला होना चाहिए। कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति के साथ परामर्श ऐसे परामर्श की विषय-वस्तु पर स्थिति स्पष्ट समझने के लिए करता है। परामर्श किसी अनभिज्ञ व्यक्ति और एक विशेषज्ञ के बीच या दो विशेषज्ञों के बीच किया जा सकता है। रोगी चिकित्सक के साथ परामर्श करता है; मुवक्किल अपने वकील के साथ परामर्श करता है, दो वकील या दो चिकित्सक अपने बीच भी परामर्श कर सकते हैं। प्रत्येक दशा में अंतिम निर्णय परामर्शदाता ही देता है, किन्तु साधारणतः वह अच्छे कारणों के सिवाय अन्यथा परामर्श की उपेक्षा नहीं करेगा। यही स्थिति लोक प्राधिकारी की दशा में भी है। कानूनों में ऐसे अनेक दृष्टांत पाए जाते हैं जहां किसी कर्तव्य से न्यस्त प्राधिकारी को उस कर्तव्य का किसी अन्य प्राधिकारी के साथ, जो उक्त कर्तव्य की बाबत सलाह देने के लिए अर्हित है, परामर्श करते हुए निर्वहन करने के लिए कहा जाता है। यह सही है कि अन्तिम आदेश पूर्वतर प्राधिकारी द्वारा ही किया जाता है और अन्तिम उत्तरदायित्व भी उसी का होता है किन्तु यदि कोई भी परामर्श न किया जाए और यदि ऐसा किया भी जाता है तो वह केवल उपबंधों का प्ररूपिक अनुपालन करते हुए ही किया गया है, तो यह कर्तव्य का पालन नहीं होगा और न हो सकता है। चाहे कोई भी स्थिति हो, ऐसा आदेश अधिनियम के उपबंधों के अनुपालन में नहीं किया जाता है।"

139. इस न्यायालय के पांच न्यायाधीशों वाली न्यायपीठ ने **चन्द्रमौलीश्वर प्रसाद बनाम पटना उच्च न्यायालय और अन्य**[2] में संविधान के अनुच्छेद 233 में आने वाले 'परामर्श' शब्द का निर्वचन करते हुए इस प्रकार मत व्यक्त किया है—

[1] ए० आई० आर० 1953 मद्रास 392.

[2] [1970] 3 उम० नि० प० 863=[1970] 2 एस० सी० आर० 666.

"अनुच्छेद 233 के अधीन उच्च न्यायालय से परामर्श करना कोरी प्ररूपिकता नहीं है। जहां तक जिला न्यायाधीशों के काडर में अधिकारियों की प्रोन्नति का संबंध है, उच्च न्यालालय उन व्यक्तियों के जिन्हें प्रोन्नति के लिए विचारगत किया जाना है, दावों और गुणागुण के बारे में अधिनिर्णय देने के लिए सर्वाधिक सक्षम है। राज्यपाल अनुच्छेद 233 के अधीन अपने कृत्य का निर्वहन नहीं कर सकते यदि वे किसी व्यक्ति की नियुक्ति उस बारे में उच्च न्यायालय की राय अभिनिश्चित किए बिना कर देते हैं। बिहार राज्य की ओर से इस बारे में अनवरत यह दलील दी गई कि न्यायालय के समक्ष जो सामग्री है, उससे यह पर्याप्त रूप से प्रकट हो जाता है कि 17 अक्तूबर, 1968 की अधिसूचना निकाली जाने से पहले उच्च न्यायालय से परामर्श कर लिया गया था। यह कहा गया कि उच्च न्यायालय ने इस मामले में अपनी राय सरकार को दे दी थी, और सरकार को सभी तथ्यों की जानकारी थी तथा इस प्रकार अनुच्छेद 233 के प्रयोजन के लिए पर्याप्त परामर्श हो चुका था। हम इस बात को नहीं मान सकते। परामर्श या विचार-विमर्श तब तक पूरा या प्रभावी नहीं होता जब तक कि उसमें के पक्षकार अपने-अपने दृष्टिकोणों से दूसरे या दूसरों को अवगत नहीं कराते हैं और अपने विचारों के आपेक्षिक गुणागुण पर विचार-विमर्श नहीं कर लेते हैं और उसकी परीक्षा नहीं कर लेते। यदि एक पक्षकार दूसरे पक्षकार से कोई प्रस्थापना करता है जिसके मस्तिष्क में कोई ऐसी प्रति-प्रस्थापना हो जो कि प्रस्थापक को संसूचित नहीं की गई है तो किसी और बात के बिना ही प्रति-प्रस्थापना को प्रभावी करने के निदेश की बाबत यह नहीं कहा जा सकता कि वह परामर्श करने के पश्चात् दिया गया है।"

140. **शमशेर सिंह और एक अन्य बनाम पंजाब राज्य**[1] वाले मामले में न्या० कृष्ण अय्यर ने अपनी ओर से और न्या० भगवती की ओर से निर्णय सुनाते हुए न्यायपालिका से संबंधित मामले में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय के मूल्यांकन को स्पष्ट किया है और अपने मत इस प्रकार व्यक्त किए हैं—

"सभी संभाव्य मामलों में भारत सरकार द्वारा भारतीय न्यायपालिका के उच्चतम पदाधिकारी का परामर्श स्वीकार किया जाएगा और स्वीकार किया जाना चाहिए और न्यायालय को इस बात की परीक्षा करने का अवसर प्राप्त होगा कि यदि मंत्री भारत के मुख्य न्यायाधिपति द्वारा दिए गए परामर्श के अनुसार कार्य नहीं करते हैं तो क्या मंत्री के अभिमत में कोई अन्य असंगत परिस्थिति समाविष्ट हो गई है। व्यवहार में ऐसे नाजुक विषय के संबंध में अन्तिम राय भारत के मुख्य न्यायाधिपति की होनी चाहिए और उनके परामर्श को न मानने के संबंध में मामूली तौर पर यह माना जाएगा कि कोई अनुचित बात विचार में लेकर कार्य किया गया है जिससे आदेश दूषित हो जाएगा। इस दृष्टिकोण से यह बात सारहीन है कि क्या राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री या न्यायमंत्री ने औपचारिक रूप से विवाद्यक का विनिश्चय किया है।"

[1] [1975] 1 उम० नि० प० 357=[1975] 1 एस० सी० आर० 814.

141. तत्पश्चात् संकल चन्द[1] वाले मामले में न्या० कृष्ण अय्यर ने अपने सम्मत् किंतु पृथक् निर्णय में अपनी ओर से और न्या० फजल अली की ओर से निर्णय सुनाते हुए इस प्रकार विनिर्णीत किया है—

"यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि यदि सरकार भारत के मुख्य न्यायाधिपति की राय से भिन्न राय प्रकट करती है तो उसे उसके लिए प्रबल तथा विश्वसनीय कारण देकर अपनी कार्यवाही को न्यायोचित ठहराना होता है और यदि उस पर आक्षेप किया जाता है तो उसे न्यायालय के समाधान पर्यन्त यह साबित करना होता है कि भारत के मुख्य न्यायाधिपति की सलाह स्वीकार न करने के लिए मामला बनता था। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि अनुच्छेद 222 में 'परामर्श' शब्द का प्रयोग इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए सांविधानिक शालीनता के रूप में किया गया है कि दो अति उच्च पदाधिकारी इस विषय में सम्बद्ध हैं अर्थात् राष्ट्रपति और भारत के मुख्य न्यायाधिपति निस्संदेह मुख्य न्यायाधिपति को निषेधाधिकार, प्राप्त नहीं है जैसा कि डाक्टर अम्बेडकर ने संविधान सभा में स्पष्ट किया था।"

142. इसी मामले में न्या० कृष्ण अय्यर ने 'परामर्श' शब्द का लैक्सीकन में दिए गए अर्थ को स्पष्ट करने के पश्चात् इस प्रकार कहा है—

"हम किसी चिकित्सक अथवा वकील, इंजीनियर या किसी वास्तुकार से परामर्श करते हैं और इससे हमारा अभिप्राय प्रायिक परामर्श नहीं है बल्कि गम्भीर और विमर्शित रूप से विशेषज्ञ की राय, सक्षम मार्गदर्शन और सुविचारित राय प्राप्त करना है। यह आवश्यक है कि जो व्यक्ति परामर्श करता है वह अपने कब्जे की समस्त सामग्री निस्संकोच उस व्यक्ति के समक्ष रखें जिससे उसने परामर्श लेना है। इसके अलावा जानकारी प्राप्त करने के लिए और अन्य कदम उठाने के लिए तथा प्रभावपूर्ण और सार्थक सलाह देने के लिए निपुण होने के लिए उसे युक्तियुक्त अवसर दिया जाना चाहिए। जहां तक परामर्श प्राप्त करने वाले व्यक्ति का सवाल है उसके लिए यह आवश्यक है कि वह उस विषय पर गम्भीरतापूर्वक विचार करे क्योंकि वह विषय अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। जिन पक्षकारों पर प्रभाव पड़ता है वे उच्च स्तर के अधिकारी हैं और त्रुटिपूर्ण निर्णय का प्रभाव विनाशकारी हो सकता है। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि राष्ट्रपति के लिए यह आवश्यक है कि वह मुख्य न्यायाधिपति को ऐसी समस्त सामग्री से अवगत कराए जो उसके पास है और साथ ही यह भी बताए कि वह क्या कार्रवाई करना चाहते हैं। इस पर मुख्य न्यायाधिपति को चाहिए कि वह जिम्मेदार माध्यमों से या प्रत्यक्षतः आवश्यक जानकारी प्राप्त करे, अपेक्षित सामग्री से अपने आपको अवगत कराए, जो जानकारी उसके पास है उस पर विचार करे और न्याय प्रशासन के हित में राष्ट्रपति ऐसी कार्यवाही करने के लिए परामर्श देने के लिए अग्रसर हो जिसके बारे में उसका विचार है कि उससे लोकहित, विशेष रूप से न्याय प्रणाली के हेतुक की वृद्धि होगी। लेकिन परामर्श करना सम्मति से भिन्न है। हो सकता है कि वह विचार-विमर्श करें किन्तु सहमत न हो सकें, वे मिल-

[1] [1978] 3 उम० नि० प० 1129=[1978] 1 एस० सी० आर० 423.

जुलकर बातचीत करें किन्तु एक दूसरे से रजामंद न हों और किसी भी हालत में सम्बद्ध न्यायाधीश की सम्मति ऐसा तत्व नहीं है जो विनिर्दिष्ट रूप से अनुच्छेद 222 की परिधि के अन्तर्गत आता हो ।"

143. न्या० चन्द्रचूड़ ने (जैसे कि विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति उस समय थे) अपने पृथक् निर्णय में एक सामान्य तर्क प्रस्तुत किया है और यह कहा है कि 'यह एक सुखद तर्क न हो किन्तु यह एक सामान्य बात है कि जो कोई व्यक्ति किसी चिकित्सक के साथ परामर्श करना चाहता है वह तथ्यों को छिपाकर नहीं रख सकता । यदि वह ऐसा करता है तो वह ऐसा अपने जोखिम पर करेगा क्योंकि उसे उस समय तक सही सलाह प्राप्त नहीं हो सकती जब तक कि वह अपने रोग के निदान के लिए आवश्यक तथ्यों को प्रकट नहीं कर देता ।" तत्पश्चात् **पुष्पम वाले मामले** के प्रति निर्देश करते हुए विद्वान न्यायाधीश ने इस प्रकार कहा है—"इस हेतु कि दो व्यक्तियों की मनःबुद्धि सोच-विचार कर सके और पारस्परिक प्रभाव उत्पन्न कर सके यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति के पास विचारार्थ पूर्ण तथा समरूप तथ्य मौजूद हों जो कि एक साथ अन्तिम विनिश्चय के स्रोत तथा आधार गठित कर सकते हैं ।"

144. न्या० भगवती ने **संकल चन्द** वाले मामले में अनुच्छेद 222 के खण्ड (1) में आने वाले पद 'भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श करने के पश्चात्" की प्रकृति और आशय के बारे में जो कुछ न्या० कृष्ण अय्यर ने मत व्यक्त किया है उसका पूरी तरह समर्थन किया है।

145. न्या० भगवती ने (जैसे कि विद्वान मुख्य न्यायमूर्ति उस समय थे) **गुप्ता वाले मामले** में यह स्पष्ट कहा है कि अनुच्छेद 124 (2) और 217 (1) में केवल सांविधानिक कृत्यकारियों की परामर्शी भूमिका की बात ही कही है और इस प्रकार अभिनिर्धारित किया है—

> "·········यह इन अर्थों में अनियंत्रित शक्ति नहीं है कि केन्द्रीय सरकार इन दो अनुच्छेदों में विनिर्दिष्ट रूप से सांविधानिक कृत्य करने वाले व्यक्तियों से मनमाने रूप से परामर्श नहीं कर सकती है किन्तु यह केवल तब कार्यवाही कर सकती है जब उसने उनसे परामर्श कर लिया हो और यह परामर्श निश्चित रूप से पूर्ण तथा प्रभावी परामर्श होगा ।
>
> अब तुरन्त यह प्रश्न उदभूत होता है कि अनुच्छेद 217 के खण्ड (1) तथा अनुच्छेद 124 के खण्ड (2) के अर्थान्तर्गत 'परामर्श' से क्या गठित होता है । सौभाग्य से यह प्रश्न अब 'अनिर्णीत विषय' नहीं रहा है और इसका निष्कर्ष इस न्यायालय द्वारा **संकल चन्द शेट** वाले मामले में दे दिया गया है । यह सही है कि **संकल चन्द शेट** वाले मामले में प्रश्न का संबंध अनुच्छेद 222 के खण्ड (1) में 'परामर्श' की परिधि तथा अर्थ से था ।···
> ···
>
> इन दो अनुच्छेदों के अधीन परामर्श किए जाने के लिए अपेक्षित प्रत्येक सांविधानिक अधिकारी के लिए यह आवश्यक है कि वह न्यायमूर्ति के रूप में सम्बद्ध व्यक्ति की नियुक्ति अथवा अनियुक्ति पर प्रभाव डालने वाले पूर्ण एवं समरूप तथ्यों

को उपलब्ध करके अपने विराचार्थ रखे और उनमें प्रत्येक न्यायमूर्ति की समरूप सामग्री पर प्राप्त की गई राय पर निश्चित रूप से केन्द्रीय सरकार द्वारा विचार किया जाएगा, पूर्व इसके कि वह इस बारे में विनिश्चय करे कि सम्बद्ध व्यक्ति को न्यायमूर्ति के रूप में नियुक्त किया जाए या नहीं। किन्तु 'परामर्श' का पूर्णतम अर्थ तथा प्रभाव देते समय यह बात ध्यान में रखी जानी चाहिए कि केवल केन्द्रीय सरकार में निहित नियुक्ति की शक्ति पर नियंत्रण के रूप में परामर्श का उपबंध किया गया है और परामर्श को सम्मति के समरूप नहीं रखा जा सकता है।..................
....

इसलिए यह स्पष्ट है कि जहां किसी उच्च न्यायालय में किसी न्यायमूर्ति की नियुक्ति के बारे में सांविधानिक अंगों के बीच मतभेद हो वहां किसी भी सांविधानिक अंग की राय को प्राथमिकता संबंधी हक प्राप्त नहीं है किन्तु प्रत्येक सांविधानिक अंग की राय पर विचार करने के पश्चात् और उसे सम्यक् महत्व देने के पश्चात् केन्द्रीय सरकार इस बात की हकदार है कि वह स्वयं इस बारे में विनिश्चय करे कि यह विनिश्चय करने में कि क्या किसी व्यक्ति विशेष को न्यायमूर्ति के रूप में नियुक्त किया जाना चाहिए अथवा नहीं, कौन-सी राय स्वीकार की जानी चाहिए। इसी प्रकार जहां उच्चतम न्यायालय के किसी न्यायाधिपति की नियुक्ति की जाती है वहां भारत के मुख्य न्यायाधिपति से परामर्श किए जाने की अपेक्षा की जाती है किन्तु यहां भी सम्मति नहीं बल्कि केवल परामर्श लिया जाता है और केन्द्रीय सरकार इस बात के लिए आबद्ध नहीं है कि वह भारत के मुख्य न्यायाधिपति के मत के अनुकूल कार्यवाही करे हालांकि भारतीय न्यायपालिका के अध्यक्ष की राय के रूप में यह विशिष्ट महत्व धारण करने की हकदार है।...... ....
....

अनुच्छेद 217 के खण्ड (1) की भाषा से यह बात स्पष्ट है कि उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा केवल उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति, राज्य के राज्यपाल और भारत के मुख्य न्यायाधिपति के परामर्श से ही की जा सकेगी और हमारे द्वारा किए गए निर्वचन के अनुसार इस अनुच्छेद के अर्थान्तर्गत संविधान के इन तीनों अधिकारियों के साथ उनके समक्ष सभी सुसंगत सामग्री रखने के पश्चात् पूरा और प्रभावी परामर्श अभिप्रेत है।"

146. न्या० फजल अली ने **गुप्ता** वाले मामले में परामर्शी प्रक्रिया के सहगामी होने की प्रतिपादना के बारे में न्या० भगवती, देसाई और वेंकटरामैया द्वारा व्यक्त किए गए दृष्टिकोण के साथ सहमति व्यक्त की है।

147. न्या० देसाई ने अनुच्छेद 217 (1) के लिए भी **चन्द्रमौलीश्वर प्रसाद** बनाम **पटना उच्च न्यायालय**[1] वाले मामले में व्यक्त किए गए विचारों को सुविधि के रूप में स्वीकार किया है।

---

[1] [1970] 3 उम० नि० प० 863=[1970] 2 एस० सी० आर० 666.

148. न्या० पाठक ने (जैसे कि विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति उस समय थे) यह कहते हुए अपने विचार प्रकट किए हैं कि—

> "साथ ही मैं इस दलील को स्वीकार करने में असमर्थ हूं कि जिस रूप में आज संविधान है उसके अनुसार राष्ट्रपति सभी मामलों में ऐसी सिफारिश से सहमत होने के लिए बाध्य है जिसमें उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति और भारत के मुख्य न्यायाधिपति ने अपनी सहमति दी है। संविधान सभा की बहस के दौरान एक सदस्य ने प्रस्ताव रखा था कि न्यायाधीशों की नियुक्ति भारत के मुख्य न्यायाधिपति की सहमति से की जानी चाहिए (यद्यपि यह सुझाव उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति के संबंध में किया गया) किन्तु वह प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया। **भारत के विधि आयोग ने अपनी चौदहवीं रिपोर्ट, जिल्द 1 पृष्ठ 7 पर** उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति का सर्वेक्षण किया और यह वांछनीय समझा कि अनुच्छेद 217 के खण्ड (1) में किया गया उपबंध "भारत के मुख्य न्यायाधिपति से केवल परामर्श नहीं बल्कि प्रस्थापित नियुक्ति में उसकी सम्मति" का उपबंध करने के लिए परिवर्तन किया जाना चाहिए। वह सिफारिश निष्फल रही, अतः हमारा संबंध केवल उस नीति से है जो तब विद्यमान थी और आज भी प्रचलित है।

149. **सुभाष शर्मा वाले** मामले में मु० न्या० रंगनाथ मिश्र ने तीन न्यायाधीशों की न्यायपीठ की ओर से निर्णय सुनाते हुए अनुच्छेद 124 (2) और 217 (1) में आने वाले शब्द 'भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श' के महत्व को स्पष्ट किया है—

> "सांविधानिक उपबंध में 'परामर्श' शब्द का प्रयोग उस सांविधानिक उच्च पदस्थ व्यक्ति की प्रास्थिति को मान्यता प्रदान करने के लिए किया गया है और औपचारिक रूप से संस्थागत प्रक्रिया का परिणाम अभिव्यक्त करता है जिसके परिणामस्वरूप न्यायाधीशों की नियुक्ति होती है। इस अभिव्यक्ति को, इसकी शाब्दिक मर्यादाओं तक ही परिसीमित करना, न्यायमूर्ति फ्रेंकफर्टर के इन शब्दों 'शब्दों के बाह्य अर्थ तक ही सीमित रहना" को अपनाता है।..
> ....
>
> 'परामर्श' का उद्देश्य सांविधानिक प्रयोजन प्राप्त करना होना चाहिए और इसे शाब्दिक निर्वचन द्वारा निरर्थक नहीं बनाया जाना चाहिए।"

150. श्री एफ० एस० नारीमन, विद्वान् ज्येष्ठ काउन्सेल ने यह दलील दी है कि "से परामर्श करने के पश्चात्" पद का अर्थ ऐसे परामर्श की वास्तविक प्रकृति और उद्देश्य द्वारा केवल सांविधानिक संदर्भ और दशा में ही अवधारित किया जाना चाहिए। अपनी इस दलील के समर्थन में उन्होंने **पोर्ट लुइस कारपोरेशन** बनाम **अटर्नी जनरल**[1] वाले मामले का अवलम्ब लिया है जिसमें लार्ड मोरिस ने यह कहा है कि परामर्श की प्रकृति और उद्देश्य उन परिस्थितियों से संबंधित होने चाहिए जिसमें उसकी अपेक्षा की गई हो।

---

[1] 1965 ए० सी० 1111-1112 पी० सी०

1993(10) eILR(PAT) SC 1

151. उन्होंने इसके आगे यह कहा है कि जब किसी अन्य सांविधानिक पद अर्थात् न्यायिक अधिकारी से भिन्न पद के बारे में परामर्श के लिए कोई उपबंध न किया गया हो तब ऐसे परामर्श से, जिसके लिए संविधान में अपेक्षा (अन्य उच्च रैंक वाले सांविधानिक पदों के विरुद्ध) केवल न्यायिक पद के प्रति निर्देश से ही की गई हो, यह दर्शित होता है कि इसका कोई सामान्य शाब्दिक अर्थ नहीं है बल्कि इससे परामर्श मांगने मात्र से कुछ और अधिक अभिप्रेत है।

152. उनके मतानुसार विशेष रूप से ऐसे प्राधिकारियों के संदर्भ में जिनके साथ परामर्श किए जाने की सांविधानिक रूप से अपेक्षा की गई है, शब्द 'परामर्श' को मांगी गई और ऐसे परामर्श के परिणामस्वरूप दी गई सलाह से पृथक् नहीं किया जा सकता और संविधान में न्यायिक पदों की बाबत पूर्व परामर्श की अपेक्षा का वास्तव में नियुक्त करने की शक्ति पर एक प्रकार का आरक्षण या निर्बन्धन होना आशयित है और यह नियुक्त करने की शक्ति के प्रयोग के लिए मात्र कोई पुरोभाव्य शर्त नहीं है। आगे यह और दलील दी गई है कि परामर्श के परिणामस्वरूप दी गई सलाह और ऐसे व्यक्ति की अन्तिम नियुक्ति, जिसके बारे में न्यायिक पद के लिए परामर्श किया गया है, के बीच संबंध जटिल है जिसके कारण संविधान के अधीन न्यायाधीशों की नियुक्ति की संपूर्ण प्रक्रिया एक 'एकीकृत प्रक्रिया' बन जाती है। इस संबंध में हमारा ध्यान **चन्द्र मोहन** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य और अन्य**[1] वाले मामले में संविधान पीठ की ओर से निर्णय सुनाते हुए मु० न्या० सुब्बाराव के व्यापक विचारों की ओर आकर्षित किया गया है जिसमें उन्होंने इस प्रकार कहा है—

> "दूसरे शब्दों में यह इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'क' 'ग' से परामर्श करके 'ख' को नियुक्त करने के लिए सशक्त होने की दशा में यदि 'क', 'ख' की नियुक्ति 'ग' और 'घ' के परामर्श से करता है तो यह नहीं कहा जाएगा कि उसने विहित रीति में अपनी शक्ति का प्रयोग किया है।"

153. श्री नारीमन के अनुसार इस पैराग्राफ से यह उपदर्शित होता है कि परामर्श के लिए अपेक्षित सांविधानिक प्राधिकारी द्वारा दी गई सलाह बाध्यकारी स्वरूप की है हालांकि विशिष्ट रूप से ऐसा विनिश्चित नहीं किया गया है।

154. उन्होंने "वर्ड्स एण्ड फ्रेजेज" नामक पुस्तक के स्थायी संस्करण के खण्ड 9 में उल्लिखित कोलियार **बनाम** व्हिलर और अन्य वाले मामले में टैनीसी के उच्चतम न्यायालय के एक विनिश्चय को उद्धृत किया है जिसमें निम्नलिखित सिद्धांत अधिकथित किए गए हैं—

> (1) जहां किसी विवाहोपरांत समझौते के द्वारा कोई पति और पत्नी किसी न्यासी को पत्नी की सम्पूर्ण सम्पत्ति यह कथन करते हुए हस्तांतरित करते हैं कि इस विलेख का प्रयोजन यह है कि न्यासी पत्नी के एकमात्र और पृथक् उपभोग के लिए पत्नी के ऐसा चाहने पर उसके द्वारा न्यासी से परामर्श के पश्चात्, सम्पत्ति के व्ययन को आत्यंतिक अधिकार का विधिक हक रखेगा वहां ऐसे हस्तांतरण द्वारा एक सक्रिय

[1] [1967] 1 एस० सी० आर० 77, 83

न्यास का सृजन हो जाता है और इससे न्यासी के ऊपर परिवर्तन के दौरान पत्नी के पृथक् उपभोग के लिए सम्पत्ति के परिरक्षण का कर्तव्य अधिरोपित होता है।

(2) जहां किसी विवाहित स्त्री की संपत्ति किसी न्यासी को, पत्नी की इच्छा पर उसके एकमात्र और पृथक् उपभोग के लिए तथा संपत्ति को पूर्ण रूप से व्ययन करने के अधिकार के साथ हस्तांतरित करते हुए, कानूनी हक प्रदान किया गया हो ऐसी दशा में परामर्श की अपेक्षा का उपबंध न्यासी की सम्पति की अपेक्षा के बराबर होता है जो ऐसे हस्तांतरण पर उसके हस्ताक्षर से साक्ष्यित होगा और पत्नी और उसके पति द्वारा ऐसे बंधक जो न्यासी की सम्मति के बिना किए गए हों और उसमें न्यासी सम्मिलित न हुए हों, शून्य होंगे।"

155. विद्वान ज्येष्ठ काउंसेल श्री राम जेठमलानी ने अपनी शिकायत इस प्रकार व्यक्त की है कि चन्द्र मोहन वाले (उपरोक्त) मामले में अधिकथित सिद्धांत शमशेर सिंह वाले (उपरोक्त) मामले पर विचार करते समय विद्वान न्यायमूर्तियों द्वारा स्वीकार नहीं किए थे जिन्होंने **के० एम० नानावती बनाम मुंबई राज्य**[1] वाले मामले में स्पष्ट किए गए सामंजस्य पूर्ण अर्थान्वयन की अनदेखी की है। उनके अनुसार **गुप्ता** (उपरोक्त) वाले मामले का निर्णय अनवधानता के कारण माना जाना चाहिए। उन्होंने स्पष्ट किया है कि 'परामर्श' पद स्वयं में उदार है और कुछ संदर्भों में 'सम्मति' या 'सहमति' के अर्थ के बराबर है।

156. विद्वान ज्येष्ठ काउंसेल श्री कपिल सिब्बल के अनुसार अनुच्छेद 124 (2) में सरकार का कोई उल्लेख नहीं है, यह अनुच्छेद केवल राष्ट्रपति के प्रति निर्देश करता है जिसका अर्थ ऐसा राष्ट्रपति है जो सरकार की सहायता और सलाह से कार्य करता है यथा मंत्रिपरिषद की। उन्होंने **गुप्ता** वाले मामले में न्यायमूर्ति भगवती की कुछ मताभिव्यक्तियों की ओर हमारा ध्यान दिलाया है। प्रथमतः अनुच्छेद 124 के खण्ड (2) के पढ़ने मात्र से स्पष्ट हो जाता है कि केवल राष्ट्रपति को ही, जिसका प्रभावी और सारवान् रूप से केन्द्रीय सरकार से अभिप्राय है, संविधान द्वारा उच्चतम न्यायालय के न्यायमूर्तियों को नियुक्त करने के लिए प्राधिकृत किया है; दूसरे "नियुक्ति की शक्ति पूर्णतया और अनन्य रूप से केन्द्रीय सरकार के पास है" और तीसरे "राज्य के राज्यपाल की सलाह से राज्य सरकार अभिप्रेत है......।"

157. उनके अनुसार **गुप्ता** वाले मामले के उपरोक्त मत के द्वारा इस न्यायालय ने "राष्ट्रपति" और "राज्य के राज्यपाल" शब्दों में क्रमशः "केन्द्रीय सरकार" और "राज्य सरकार" शब्दों को पढ़ कर गलती की है जो न तो संविधान का वास्तविक आशय है और न ही यह न्यायमूर्तियों की नियुक्ति के मामले में अपेक्षित है। उन्होंने यह दुख प्रकट किया है कि यहां प्रशासन तंत्र के लिए सिद्धांत है किंतु यह बहुत ही कष्टकारी और खेदजनक है कि उच्च न्यायपालिका के न्यायमूर्ति के चयन और नियुक्ति की रीति के संदर्भ में कोई सरणीबद्ध मार्गदर्शक सिद्धांत नहीं है।

158. प्रत्यर्थियों की ओर से विद्वान ज्येष्ठ काउंसेल श्री के० परासरन ने बलपूर्वक और तीक्ष्णता से यह कहते हुए उपरोक्त दलीलों का खण्डन किया है कि जब संविधान ने भारत

[1] [1967] 1 एस० सी० आर० 97,

के मुख्य न्यायमूर्ति सहित तीन अधिकारियों का उल्लेख किया है, जिन्हें राष्ट्रपति के साथ परामर्श करना होता है, वहां उसी विषयवस्तु और उसी संदर्भ में अन्य परामर्शदाताओं की राय के मुकाबले में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय को प्राथमिकता देने का कोई प्रश्न नहीं उठता। उन्होंने कहा है कि तथाकथित अधिक्रम के सिद्धांत के सिवाय परामर्श के दौरान भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा व्यक्त की गई राय को प्राथमिकता देने का कोई कारण नहीं हो सकता। उन्होंने यह भी कहा है कि संविधान की स्कीम जिसमें उच्चतम न्यायालय द्वारा उच्च न्यायालयों के प्रशासनिक नियंत्रण की कोई व्यवस्था नहीं हैं स्वयं में परामर्श की प्रक्रिया में उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति की राय के मुकाबले प्राथमिकता का खण्डन करती है क्योंकि वह भी अनुच्छेद 217(1) के अधीन प्रति बिम्बित रूप से राष्ट्रपति द्वारा परामर्श किए जाने वाले एक संवैधानिक प्राधिकारियों में से एक प्राधिकारी है। इसी प्रकार 'परामर्श' प्रक्रिया में कार्यपालिका का भी एक महत्वपूर्ण योगदान होता है क्योंकि कार्यपालिका को किसी अभ्यर्थी की विधिक योग्यता और वृत्तिक उपलब्धियों से भिन्न उसके गुणों और सम्बद्धताओं तथा व्यक्तिगत ईमानदारी का ज्ञान होता है। अपनी दलील के समर्थन में उन्होंने संविधान सभा में हुए वाद-विवाद और प्ररूप अनुच्छेद में प्रस्तावित कुछ संशोधनों को निर्दिष्ट किया है जो उनके अनुसार यह दर्शित करते हैं कि 'परामर्श' से 'सम्मति' या 'सहमति' अभिप्रेत नहीं है। उनकी दलीलों को समझने और उनका मूल्यांकन करने के लिए हम कुछ प्रस्तावित संशोधनों को उद्धृत करना चाहेंगे।

159. श्री बी० पोकर साहेब ने अनुच्छेद 103 में निम्नलिखित संशोधन पेश किया था—

"(2) भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के सिवाय उच्चतम न्यायालय का प्रत्येक न्यायमूर्ति राष्ट्रपति द्वारा, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सहमति से परामर्श करने के पश्चात्, उसके हस्ताक्षर और मुद्रा सहित एक अधिपत्र द्वारा नियुक्त किया जाएगा; और भारत का मुख्य न्यायमूर्ति राष्ट्रपति द्वारा अपने हस्ताक्षर और मुद्रा के साथ उच्चतम न्यायालय के न्यायमूर्तियों से परामर्श करने के पश्चात् नियुक्त किया जाएगा और राज्यों में उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायमूर्ति तथा उच्चतम न्यायालय का प्रत्येक न्यायमूर्ति 68 वर्ष की आयु पूरी होने तक पद धारित करेगा।"

160. इसी प्रकार श्री महबूब अली बेग साहेब ने निम्नलिखित संशोधन पेश किया था—

"यह कि अनुच्छेद 103 के खण्ड 2 के पहले परंतुक में "प्रत्येक दशा में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श किया जाएगा" शब्दों के स्थान पर "यह भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सहमति से किया जाएगा" शब्द प्रतिस्थापित किए जाएंगे।"

161. श्री बी० पोकर साहेब ने उच्च न्यायालय के न्यायमूर्तियों की नियुक्ति के संबंध में प्रारूप अनुच्छेद 103 में निम्नलिखित संशोधन सुझाए थे—

(1) उच्च न्यायालय का प्रत्येक न्यायमूर्ति राष्ट्रपति द्वारा सम्बद्ध उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति की सिफारिश पर सम्बद्ध राज्य के राज्यपाल से परामर्श

करने के पश्चात् और भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सहमति से उसके हस्ताक्षर और मुद्रासहित एक अधिपत्र द्वारा नियुक्त किया जाएगा और वह 63 वर्ष की आयु पूरी करने तक पदधारित करेगा।"

162. उपरोक्त सभी संशोधन संविधान सभा में लम्बी बहस के पश्चात् नामंजूर कर दिए गए थे। श्री परांशरन ने यह बताया कि जब उन संशोधनों में व्यक्त भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सहमति के उपबंध को नामंजूर कर दिया था और वर्तमान अनुच्छेद 124 और 217 के अधीन भारत के मुख्य न्यायमूर्ति सहित सभी संवैधानिक प्राधिकारियों को मात्र परामर्श देने वालों के रूप में अधिनियमित किया गया है, तब न्यायोचित रूप से ऐसा कोई निर्वचन नहीं किया जा सकता कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से किए गए परामर्श को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। उनके अनुसार यदि "परामर्श" शब्द का ऐसा अर्थान्वियन किया जाता है तो इसका तात्पर्य इन अनुच्छेदों को पुन: लिखने के बराबर होगा। तत्पश्चात् उन्होंने **"स्पेशल कोर्ट्स बिल"**[1] वाले मामले में व्यक्त किए गए मत को उद्धृत किया है जिसमें शब्द "परामर्श" को "सहमति" के रूप में अर्थान्वियन नहीं किया गया था बल्कि इसे एकमात्र परामर्श के रूप में लिया गया था, जैसा कि **सकल चंद** (उपरोक्त) वाले मामले में अभिनिर्धारित किया गया था। यह मत निम्न प्रकार है—

"......परामर्श की प्रक्रिया की अपनी सीमाएं हैं वे पूर्ण रूप से ज्ञात हैं। परामर्श करने की बाध्यताएं आवश्यक रूप से कार्यपालिका के ऊपर एक अवरोध के रूप में नहीं है...।"

163. अनुच्छेद 22 के नए खण्ड 4 को निर्दिष्ट करते हुए, जो संविधान (44वां) संशोधन अधिनियम, 1978 (जिसकी प्रवर्तन की तारीख अभी अधिसूचित की जानी है) द्वारा सलाहकार बोर्ड के गठन के संबंध में प्रस्तावित प्रतिस्थापन है और जिसमें "सलाहकार बोर्ड" का गठन समुचित उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति की सिफारिशों के अनुसार किया जाएगा, इसके संबंध में श्री परासरन द्वारा यह प्राख्यान किया गया है कि यह नया प्रस्तावित खण्ड इस न्यायालय द्वारा **सकल चंद** और **स्पेशल कोर्ट्स बिल** वाले मामलों में किए गए निर्वचन को दृष्टिगत करते हुए प्रस्तावित किया गया है और यह कि परामर्श से तात्पर्य सहमति से नहीं है। उन्होंने दलील दी है कि इस प्रकार यह इस न्यायालय द्वारा शब्द "परामर्श" के अर्थ के संबंध में किए गए निर्वचन की सांविधानिक शक्ति के विधायी अनुसमर्थन का मामला है। विधायी अनुसमर्थन के सिद्धांत के लिए उन्होंने निम्नलिखित विनिश्चयों को उद्धृत किया है—(1) **आयकर आयुक्त** बनाम **बसीधर एंड संस**[2]; **तमिलनाडु राज्य** बनाम **नीलई काटन मिल्स**[3]; **एफ० एस० गांधी** बनाम **धनकर आयुक्त**[4]; **केशवजी रावजी** बनाम **आय-कर आयुक्त**[5]।

---

[1] [1979] 2 एस० सी० आर० 476.

[2] [1985] सप्ली० 2 एस० सी० आर० 850 (पृ० 868).

[3] [1990] 2 एस० सी० आर० 33 (पृ० 38-39).

[4] [1990] 2 एस० सी० आर० 886 (पृ० 897).

[5] [1990] 1 एस० सी० आर० 243 (पृ० 257).

164. प्रारूप संविधान के अनुच्छेद 103 और 193 में प्रस्तावित संशोधनों को निर्दिष्ट करने के पश्चात् श्री परासरन ने न्यायपालिका से सम्बद्ध इस विषय पर वाद-विवाद का समापन करते हुए डा० बी० आर० अम्बेडकर द्वारा दिए गए उत्तर की ओर ध्यान आकर्षित किया है जो निम्न प्रकार है—

> "मुख्य न्यायमूर्ति की सहमति के प्रश्न के संबंध में मुझे यह प्रतीत होता है कि जो उस प्रतिपादना का समर्थन करते हैं वे विवक्षित रूप से मुख्य न्यायमूर्ति की निष्पक्षता और उनके निर्णय की अच्छाई के बारे में बताते हैं। मैं व्यक्तिगत रूप से निस्संदेह यह महसूस करता हूं कि मुख्य न्यायमूर्ति बहुत ही विशिष्ट व्यक्ति है किंतु इन सब के बावजूद मुख्य न्यायमूर्ति सभी असफलताओं, सभी मनोविकारों और सभी प्रतिकूल प्रभावों के साथ, जो हम सब में सामान्य व्यक्ति होने के नाते होते हैं, एक व्यक्ति है और मैं यह समझता हूं कि न्यायमूर्तियों की नियुक्तियों में व्यावहारिक रूप से मुख्य न्यायमूर्ति को वीटो प्रदान किया जाना वस्तुतः मुख्य न्यायमूर्ति में वह प्राधिकार अंतरित करने के बराबर है जिसे हम राष्ट्रपति या वर्तमान सरकार में विहित करने के पक्षधर नहीं हैं इसलिए मैं यह समझता हूं कि यह भी एक खतरनाक प्रतिपादना है।"

165. श्री परासरन के अनुसार संविधान सभा में इस विषय पर संपूर्ण वाद-विवाद और प्रस्तावित संशोधनों का विखण्डन तथा इस संदर्भ में डा० बी० आर० अम्बेडकर द्वारा दिए गए उत्तर का स्वरूप इस तथ्य को उपदर्शित करते हैं कि संविधान के रचनाकारों ने पूर्व चिंतन करके "सहमति" या "सम्मति" के स्थान पर "परामर्श" शब्द का प्रयोग किया था जो यह दर्शित करता है कि राष्ट्रपति द्वारा परामर्श के दौरान सभी सांविधानिक प्राधिकारियों द्वारा व्यक्त किए गए मत बराबर हैं और इनमें से कोई भी एक दूसरे के ऊपर अधिमान पाने का हकदार नहीं है।

166. अंतिम रूप से श्री परासरन ने याचियों के काउंसेलों की दलीलों पर विस्फोटक हमला किया और यह कथन करते हुए उनका निराकरण किया कि याचियों की ओर से दृढ़तापूर्वक कहे गए शब्द "परामर्श" के अर्थान्वियन को स्वीकार करना बहुत कठिन है और यह कि यदि ऐसा अर्थान्वियन कि परामर्श के दौरान मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा व्यक्त की गई राय को अधिमान दिया जाना चाहिए, स्वीकार कर लिया जाता है तो अनुच्छेद 124(2) का मुख्य भाग निरर्थक और व्यर्थ हो जाएगा। उन्होंने आगे यह कहा कि यदि संविधान के निर्माताओं का यह आशय हुआ होता कि मुख्य न्यायमूर्ति के साथ परामर्श पर्याप्त है तो अनुच्छेद 124 का प्रारूपण इस परंतुक के बिना किया जाता कि उच्चतम न्यायालय का प्रत्येक न्यायमूर्ति राष्ट्रपति द्वारा प्रत्येक दशा में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श करके नियुक्त किया जाएगा और उनके विवेकानुसार उच्चतम न्यायालय के ऐसे न्यायमूर्तियों और राज्यों के उच्च न्यायालयों के ऐसे न्यायमूर्तियों से परामर्श कर सकेगा जिन्हें वह इस प्रयोजन के लिए आवश्यक समझते हैं। इस न्यायालय द्वारा विनिश्चय **उत्तर प्रदेश राज्य और अन्य** बनाम **राधेश्याम निगम और अन्य**[1] वाले मामले में व्यक्त किए गए मत का अवलंब लिया

[1] [1989] 1 एस० सी० आर० 92.

गया था जिसमें न्यायमूर्ति सव्यसाची मुखर्जी (जैसे कि विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति उस समय थे) ने खंड न्यायपीठ की ओर से बोलते हुए यह कहा कि कानूनों के निर्वचन का यह सुस्थापित नियम है कि जब तक ऐसी आत्यंतिक आकस्मिकता को अपनाने के लिए न्यायालय के पास बाध्यकारी कारण न हों अधिनियम के उपबंधों का निर्वचन इस रीति में किया जाना चाहिए जिससे कि इसके अन्य उपबंध व्यर्थ न हो जाएं। उन्होंने **श्री बालगणेशन मैटल्स** बनाम **एस० आर० शानमुघम चेट्टी और अन्य**[1] वाले मामले को उद्धृत किया है। इस निर्णय का **राधेश्याम निगम और अन्य** (उपरोक्त) वाले मामले में अवलंब लिया गया है। उनके अनुसार पृथक् परंतुक के साथ अनुच्छेद 124(2) को अधिनियमित करने का प्रयोजन यह है कि परामर्श की प्रक्रिया में भारत का मुख्य न्यायमूर्ति हमेशा परामर्शदाता होगा जिससे परामर्श किया जाएगा और अन्य न्यायमूर्ति जिनके साथ राष्ट्रपति परामर्श करना आवश्यक समझता है इस मामले में भिन्न होंगे कि राष्ट्रपति विभिन्न अवसरों पर जो मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में उन्हें सुझाए जाते हैं, विभिन्न न्यायमूर्तियों के साथ परामर्श कर सकेंगे।

167. विद्वान् महा न्यायवादी ने न्यायमूर्ति पाठक (जैसा कि विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति तब थे) द्वारा अपने अल्पमत निर्णय में व्यक्त किए गए मत का संदर्भ दिया है। उनके अनुसार परिपत्र और इन पद्धतियों की वास्तविक कार्य-प्रणाली स्पष्ट रूप से यह स्थापित करती है कि राष्ट्रपति द्वारा किए गए मूल्यांकन में मुख्य न्यायमूर्ति के विचार समानता के आधार पर नहीं देखे जाने चाहिए बल्कि उन्हें अधिमान दिया जाना चाहिए। अंत में उन्होंने इस बात पर बल दिया कि **गुप्ता** (उपरोक्त) वाले मामले में व्यक्त किए गए मत न तो प्रारंभिक रूप से गलत हैं और न ही उनमें कोई आंतरित दोषिता है जिसके लिए कोई आधारभूत परिवर्तन हो या नई रीति आरंभ की जाए।

168. दी गई दलीलों से संवीक्षा के लिए जो संविवाद उत्पन्न हुआ है वह संक्षिप्त रूप में शब्द "परामर्श" के अर्थान्वयन के संबंध में है।

169. निर्वचन निर्विवाद रूप से हमारे संविधान की रचना प्रभावी और सुविचारित शब्दों के खजाने से की गई है जिसमें नपे-तुले पद और अभिव्यक्तियां हैं—कभी-कभी जिनका वास्तविक अर्थ और संदेश स्पष्ट नहीं हो पाता और अनेकों अवसरों पर वह छिपा हुआ और गर्भित रहता है। तथापि उस शब्द की विवक्षा सुसंगतता, महत्व, भाव और सार जो संविधान में प्रयुक्त हुआ है एक सामान्य व्यक्ति के हित से परे है।

170. "लूम ऑफ लैंगवेज" नामक पुस्तक के भाग 4 में निम्न प्रकार कहा गया है—

> "शब्द ऐसे उदासीनकारक नहीं हैं जिनका अर्थ सभी संदर्भों में हमेशा एक ही अर्थ देने वाला होता है। टकसाल के सिक्कों की तरह उनका कोई मानक रूप और आकार नहीं होता और न ही वे संपूर्ण विश्व के सामने इस प्रकार समझे जाते हैं कि उनका एक ही तात्पर्य होगा न इससे कम न इससे अधिक। हालांकि प्रत्येक शब्द अपने विशिष्ट निजी अस्तित्व में अर्थ की उपच्छाया रखता है जिसे कोई भी

---

[1] [1987] 2 एस० सी० सी० 707

प्रारूपकार संपूर्ण रूप से नहीं जान सकता। इसे गणित के प्रतीक के रूप में प्रयोग नहीं किया जा सकता।

171. **टाउन** बनाम **आईजनर**[1] वाले मामले में न्यायमूर्ति होम्स ने कहा था कि "शब्द स्फट सदृश, पारदर्शी या अपरिवर्तनीय नहीं होता यह जीवित विचारों की एक गुत्थी होती है और यह बहुत अधिक रूप में अपने प्रभाव और मात्रा में जो उन परिस्थितियों और समय पर निर्भर करता है जिसमें इसे प्रयुक्त किया गया है, भिन्न होता है।"

172. **सकलचन्द** वाले मामले में न्यायमूर्ति भगवती ने यह उल्लिखित किया था कि कानून में प्रयुक्त शब्द एकाकी रूप में नहीं पढ़े जा सकते; उनका प्रभाव और अंतर्विषय उनके संदर्भ से जाना जाता है और इसलिए किसी कानून में प्रत्येक शब्द की परीक्षा उसके संदर्भ से की जानी चाहिए......। किसी कानून में प्रयुक्त शब्दों के निर्वचन में संदर्भ बहुत महत्व रखता है।

173. प्रिवी कौंसिल ने **मिनिस्टर आफ होम अफेयर्स और एक अन्य** बनाम **फिशर और एक अन्य**[2] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया है कि सांविधानिक लिखत अपने प्रकार का एक विशिष्ट दस्तावेज होता है जिसे इसके उपर्युक्त विशिष्ट संदर्भ के नियमों के अनुसार निर्वचन किया जाना चाहिए न कि आवश्यक रूप से कानूनी निर्वचन के विशेषाधिकारों नियमों और उपधारणाओं के अनुसार।

174. इस न्यायालय, उच्च न्यायालयों और विदेशी न्यायालयों के अनेकों विनिश्चयों का सार यह है कि जब हम किसी कानून या विशेष रूप से संविधान में प्रयुक्त शब्द का उदार अर्थान्वियन करते हैं तो हमें प्रथमतः उस सुसंगत और विशिष्ट संदर्भ का ध्यान रखना चाहिए जिसमें कि वह शब्द प्रयोग किया गया है और तब उस शब्द का निर्वचन उपयोगी प्रयोजन के साथ उसी संदर्भ में किया जाना चाहिए। यदि किसी शब्द का अर्थान्वियन मात्र शाब्दिक और शब्द कोष के आधार पर किया जाता है तो उस उपबंध के वास्तविक आशय के समाप्त होने की बहुत संभावना रहती है।

175. सामान्यतः यह कहा जाता है कि शब्द विधि की दैनिक मुद्रा है जिसका मूल्य कभी समाप्त नहीं होता। उन मुद्राओं का विनिमय मूल्य उनके प्रयोग के संदर्भ पर निर्भर करता वस्तुतः संविधान में शब्द "परामर्श" का प्रयोग इस समय भली-भांति प्रचलन में है हालांकि इस शब्द ने कुछ भिन्न अभिधानों को भी जन्म दिया है। हम जानबूझकर कोई अतिश्योक्ति संबंधी और अति रंजनापूर्ण अर्थ का योगदान नहीं कर रहे हैं बल्कि इस शब्द के प्रचलित आशय का मात्र स्पष्ट कर रहे हैं।

176. सांविधानिक स्कीम की उपरोक्त पृष्ठभूमि में अब हम उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों में न्यायमूर्तियों की नियुक्तियों के संदर्भ में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के परामर्श के महत्व की सुसंगतता की परीक्षा करेंगे। उस संदर्भ में इस शब्द से व्युत्पन्न

---

[1] 245 यू० एस० 418.

[2] 1979 आल० ई० आर० 21.

1993(10) eILR(PAT) SC 1

अर्थ मात्र सामान्य शब्द की परिभाषा पर ही निर्भर नहीं करेगा बल्कि यह उन परिस्थितियों और समय की अंतर्वस्तु पर भी निर्भर करेगा जिनमें यह पद प्रयोग किया गया है। इसलिए इसका प्रभाव और विषयवस्तु अभिनिश्चित करने के लिए उस संदर्भ की परीक्षा की जानी चाहिए जिसमें यह शब्द प्रयोग किया गया है।

177. शब्द "परामर्श" उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायमूर्तियों की नियुक्ति के संदर्भ में अनुच्छेद 124(2) और अनुच्छेद 217(1) में प्रयुक्त हुआ है। हालांकि ऐसा कोई "परामर्श" सांविधानिक रूप से दूसरी सांविधानिक नियुक्तियों के मामले में अपेक्षित नहीं है, जैसा कि हम इस निर्णय के पूर्ववर्ती भाग में उल्लेख करके उपदर्शित कर चुके हैं। गुप्ता वाले मामले में इस बात पर सर्वसम्मति थी कि "परामर्श" का तात्पर्य सहमति से नहीं है। इस मामले में न्यायमूर्ति भगवती ने अपने प्रमुख निर्णय में शब्द "राष्ट्रपति" और "राज्यपाल" का अर्थ क्रमश: "केन्द्र सरकार" और "राज्य सरकार" से लगाया है और यह कि केन्द्र सरकार "परामर्श" किए जाने वाले सांविधानिक प्राधिकारियों द्वारा दी गई राय पर अभिभावी होने के लिए स्वतंत्र होगी और उच्च न्यायालय तथा उच्चतम न्यायालय के न्यायमूर्तियों की नियुक्तियों के संदर्भ में, जहां तक कि इसका विनिश्चय सुसंगत विचारणाओं पर आधारित हो न कि असद्भावी हो, अपना निर्णय करने के लिए स्वतंत्र होगी।

178. गुप्ता वाले मामले में अधिकथित सिद्धांत यह है कि न्यायमूर्तियों को नियुक्ति की शक्ति राष्ट्रपति में निहित होती है जो परामर्शदाताओं की राय पर सम्यक् रूप से विचार करेंगे और उनसे परामर्श करने के पश्चात् मंत्रिपरिषद् की सलाह पर कार्य करेंगे। अपेक्षित परामर्श की प्रकृति के बारे में संविधान में कोई विशिष्ट रीति अधिकथित नहीं की गई है और वस्तुत: जैसा कि श्री कपिल सिब्बल द्वारा उल्लेख किया गया है इस संदर्भ में कोई मार्गदर्शक सिद्धांत नहीं है। किन्तु यह मत लिया गया है कि चूंकि परामर्श एक आदेशात्मक पुरोभाव्य शर्त है इसलिए यह अभिभावी होनी चाहिए जिसका तात्पर्य यह है कि (1) राष्ट्रपति को ऐसे सभी तथ्यों को जो भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के साथ सम्यक् विचार के लिए आवश्यक हैं, स्पष्ट कर देने चाहिएं (2) भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को उस मामले पर जिसके ऊपर सुसंगत तथ्यों सहित विचार किया गया है, अपनी पूरी राय व्यक्त करनी चाहिए और (3) परामर्श का एक सार यह है कि दोनों पक्षकारों को अपने विचारों का आदान-प्रदान करना चाहिए और समान विषयों पर आए प्रस्ताव और प्रतिप्रस्ताव के गुणागुण की परीक्षा करनी चाहिए। देखें सकल चन्द वाला मामला।

179. इस संदर्भ में व्यग्रोत्पादक प्रश्न यह है कि परामर्श न किए जाने का क्या प्रभाव होगा। **उत्तर प्रदेश राज्य बनाम मनबोधन लाल श्रीवास्तव**[1] वाले मामले में "परामर्श करेगा" पद का अर्थान्वियन करते समय, जो अनुच्छेद 320 (3) में प्रयुक्त हुए हैं, यह अभिनिर्धारित किया गया था कि संविधान का अनुच्छेद 320(3) (ग) किसी लोक सेवक पर कोई ऐसी अधिकारिता प्रदान नहीं करता है जो परामर्श का अभाव या परामर्श में बरती गई कोई अनियमितता के बारे में उसे किसी न्यायालय में वादहेतुक का गठन करती हो या उसे संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालय को विशेष शक्तियों के अधीन

[1] 1958 एस० सी० आर० 533.

अनुतोष प्रदान करने के लिए हकदार बनाती हों। देखें **गोपाल** बनाम **मध्य प्रदेश राज्य**[1] और **ए० एन० डीसिल्वा** बनाम **भारत संघ**[2]।

180. इसके पश्चात् जो प्रश्न आता है वह यह है कि क्या यही मत उस स्थिति में भी लिया जा सकता है यदि राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से बिना परामर्श किए उच्चतम न्यायालय के अवर न्यायमूर्ति को नियुक्त करता है। यदि **श्रीवास्तव** (पूर्वोक्त) वाले मामले में अपनाया गया मत, जो अनुच्छेद 323 के अननुपालन के संबंध में है, अनुच्छेद 124(2) के पहले परन्तुक या अनुच्छेद 217(1) में ध्वनित होता है तो इसका उत्तर यह होगा कि प्रथम परन्तुक के अतिक्रमण के होते हुए भी ऐसी नियुक्ति विधिमान्य होगी। तथापि एक भिन्न निष्कर्ष **सकल चंद** वाले मामले में निकाला गया है। संभवतः यह उच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति के स्थानान्तरण के संदर्भ में अनुच्छेद 222(1) के अधीन समानान्तर उपबंधों में न्यायिक स्वतंत्रता को अधिकथित करते हुए लिया गया है। उस मामले में न्यायमूर्ति चंद्रचूड़ द्वारा निम्न उद्धृत मत व्यक्त किया गया था—

> "·········यदि वह किसी न्यायमूर्ति को स्थानान्तरित करना चाहता है तो उन्हें न्यायमूर्ति को स्थानांतरित करने से पहले भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श करना चाहिए। यह न्यायमूर्ति के वास्तविक स्थानांतरण की पुरोभाव्य शर्त की प्रकृति है। दूसरे शब्दों में उच्च न्यायालय के न्यायाधीश का दूसरे उच्च न्यायालय में स्थानांतरण तब तक प्रभावी नहीं होगा जब तक कि राष्ट्रपति द्वारा प्रस्तावित स्थानांतरण के संबंध में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श नहीं कर लिया जाता। वस्तुतः प्रभावकिता के संबंध में यह बात मंगल भाषणात्मक है क्योंकि उच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति का दूसरे उच्च न्यायालय में स्थानांतरण तब तक सांविधानिक नहीं होगा जब तक कि न्यायमूर्ति को स्थानांतरित करने से पहले राष्ट्रपति द्वारा भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श नहीं कर लिया जाता।"

181. इसी निर्णय में न्यायमूर्ति कृष्णअय्यर ने अपने और न्यायमूर्ति फजल अली की ओर से बोलते हुए अपना यह मत व्यक्त किया था कि अनुच्छेद 222(1) का उचित अर्थान्वयन संविधान की योजना और स्कीम को वस्तुतः ध्यान में रखते हुए आवश्यक रूप से इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के साथ परामर्श अनिवार्य अवयव है। स्थानांतरित किए जाने वाले न्यायमूर्ति के स्थानांतरण के पहले उसकी सम्मति लेनी चाहिए।

182. न्यायमूर्ति भगवती ने अपना मत न्यायमूर्ति कृष्णअय्यर से पूर्ण सहमति के साथ व्यक्त किया था।

183. न्यायमूर्ति ऊंटवालिया ने न्यायमूर्ति चंद्रचूड़ के साथ सहमत होते हुए यह और कहा है कि राष्ट्रपति द्वारा भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श किए बिना कोई स्थानांतरण नहीं किया जा सकता।

---

[1] [1970] 1 एस० सी० आर० 472.

[2] [1962] सप्ली० 1 एस० सी० आर० 1968.

184. इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सर्वसम्मत राय यह है कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के साथ परामर्श राष्ट्रपति द्वारा किए जाने वाले स्थानांतरण आदेश के पहले एक आज्ञापक पुरोभाव्य शर्त है अन्यथा भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श न किया जाना इस आदेश को असांविधानिक अर्थात् शून्य बना देगा ।

185. आज्ञापक प्रकृति के उपरोक्त मत जो परामर्श की अपेक्षा के संबंध में सकल चंद वाले मामले में अपनाया गया है यह गुप्ता वाले मामले में कुछ न्यायमूर्तियों द्वारा पुनः अनुसरित और दोहराया गया था ।

186. गुप्ता वाले मामले में न्यायमूर्ति फजल अली ने इस प्रकार अभिनिर्धारित किया है—

> "3. यदि किसी न्यायमूर्ति के स्थानांतरण के पहले भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श नहीं किया जाता है तो ऐसा स्थानांतरण-असांविधानिक हो जाता है ।"

187. गुप्ता वाले मामले में न्यायमूर्ति वेंकटरमैया ने भी यही मत व्यक्त किया है ।

188. संकल चंद वाले मामले में व्यक्त किया गया उपर्युक्त मत और गुप्ता वाले मामले में कुछ न्यायमूर्तियों द्वारा व्यक्त किए गए मत के प्रकाश में यह स्पष्ट रूप से अभिनिर्धारित किया जा सकता है कि अनुच्छेद 124(1) के पहले परंतुक तथा अनुच्छेद 217 के अधीन भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के साथ परामर्श एक आज्ञापक शर्त है जिसका अतिक्रमण सांविधानिक आदेश के प्रतिकूल होगा ।

189. इस संबंध में हम इस मामले के इस पहलू के अगले प्रश्न पर विचार करेंगे कि क्या राष्ट्रपति (जो न्यायमूर्ति भगवती की राय में केन्द्र सरकार है) भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय की पूर्णतः अवहेलना कर सकते हैं और उनसे सम्यक् रूप से विचार करने के पश्चात् उनकी राय के प्रतिकूल कार्य कर सकते हैं। हम भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के परामर्श के दृश्यमान तात्पर्य की परीक्षा करेंगे ।

190. भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा उच्चतर न्यायपालिका में न्यायमूर्ति के पद के लिए अभ्यर्थियों के चयन की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण कार्य, उचित रूप से सही और सही व्यक्तियों की, उनकी योग्यता और दक्षता का मूल्यांकन करने के पश्चात् समर्थित करना और सिफारिश करना है । यह उल्लेख करना अनावश्यक नहीं है कि प्रख्यात विधि वेत्ता और भूतपूर्व महान्यायवादी श्री एम० सी० शीतलवाड़ ने उनकी अध्यक्षता में विधि आयोग की 14वीं रिपोर्ट में न्यायमूर्तियों के चयन की पद्धति और रीति उनके चयन के प्रेरणास्रोत, बाह्य शक्ति और न्यायिक प्रशासन पर पड़ने वाले प्रभाव के संबंध में अभ्यर्थियों के चयन और अन्य परिस्थितियों पर गहरा रोष व्यक्त किया था । वस्तुतः विधि आयोग की 14वीं रिपोर्ट में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय के महत्व पर बल दिया गया है और यह सिफारिश की गई है कि परामर्श के स्थान पर सहमति पद का प्रयोग किया जाना चाहिए हालांकि आयोग, जहां तक राज्य के राज्यपाल का संबंध है, पद "परामर्श" के प्रयोग से सहमत था । सुझाए गए संशोधनों के प्रकाश में अनुच्छेद 217 का सुसंगत भाग निम्न प्रकार है—

1993(10) eILR(PAT) SC 1

"217. (1) राज्य के राज्यपाल के परामर्श और उसके साथ भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सहमति लेने के पश्चात् न्यायालय का प्रत्येक न्यायमूर्ति राष्ट्रपति द्वारा अपने हस्ताक्षर और मुद्रा सहित अधिपत्र द्वारा नियुक्त किया जाएगा और मुख्य न्यायमूर्ति से भिन्न किसी न्यायमूर्ति की नियुक्ति की दशा में उस उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति की सिफारिश पर नियुक्त किया जाएगा और वह न्यायमूर्ति अपर या कार्यकारी न्यायमूर्ति की दशा में अनुच्छेद 224 में उपबंधित रूप में और किसी अन्य दशा में तब तक पद धारण करेगा जब तक कि वह 60 वर्ष की आयु प्राप्त नहीं कर लेता है।"

191. देखें विधि आयोग की चौदहवीं रिपोर्ट का पृ० 70 पैरा 9।

192. यह संविवाद से परे है कि न्यायिक चयन के लिए योग्यता के आधार पर किया जाने वाला चयन एक मुख्य रीति है और चयन किए जाने वाले अभ्यर्थी पूर्ण रूप से सत्यनिष्ठ, ईमानदार, कुशल, भावनात्मक स्थायित्व में उच्च स्तर के, दृढ़ धैर्यवान, विधिक समांगता रखने वाले, योग्य और सहिष्णुता वाले होने चाहिए। इनके अतिरिक्त सबसे अधिक अपेक्षित महत्वपूर्ण व्यक्तिगत योग्यताओं के प्रमाणचिन्ह हैं उनमें नैतिक बल, नीतिशास्त्रीय दृढ़ता और घूस या लालच के बारे में उनकी अभेद्यता; विनम्रता, लगाव की कमी, न्यायिक प्रकृति, उत्साह और कार्यक्षमता। टैक्साज ला रिव्यू (खण्ड 44) 1966 पृ० 1068 और 1071 में निम्नलिखित पैराग्राफ में न्यायाधीश के लिए अपेक्षित योग्यताओं पर बल देते हुए कहा गया है :

"यह समझना आसान है कि कार्यरत न्यायाधीश क्यों आदर्श प्रतीत होते हैं और उनमें आन्तरिक गुण अत्यन्त वांछनीय होते हैं। यह भी आवश्यक है कि उन्हें अच्छे सम्मान के लिए सबसे अधिक ध्यान देना चाहिए। शेक्सपीयर ने कहा था कि किसी व्यक्ति या स्त्री का अच्छा सम्मान ....
उसकी नकद धरोहर है और न्यायाधीश मेरे और आपके साथ ऐसे खजाने का उपभोग करते हैं। जैसे कि ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जो अच्छे स्वास्थ्य की प्रशंसा न करता हो। श्रेष्ठता और सदगुण, ख्याति और अच्छा रहन-सहन कभी भी विचार से परे नहीं होते। ऐसे सभी व्यक्तियों का जो न्यायमूर्ति के रूप में शक्ति और स्तर प्राप्त करते हैं, बेहतर स्वागत होता है। कोई भी व्यक्ति जो न्यायिक पद की वांछा करता है इस बात को नहीं कहेगा कि वह इन गुणों से रहित है और कोई भी नियुक्ति प्राधिकारी व्यक्ति को नियुक्त नहीं करेगा जिसमें ये गुण नहीं हैं ....
बहुधा मस्तिष्क के गुण इस प्रकार नहीं गिनाए जाते जैसे कि हृदय और आत्मा के गुणों का बखान किया जाता है तथापि बौद्धिक शक्ति को पूर्ण रूप से नहीं नकारा जा सकता। न्यायाधीशों के शब्दों में "भाववाची विचारों की क्षमता, कल्पना, शिक्षा, मेधावी याददास्त, शीघ्र विचार और विश्लेषण तथा स्पष्ट अभिव्यक्ति की योग्यता पर ध्यान दिया जाना चाहिए।"

193. न्यायमूर्तियों के वेतन को बढ़ाने से संबंधित एक बिल को पेश करते हुए विन्सटन चर्चिल के भाषण को यहां उद्धृत करना उपयुक्त होगा। यह इस प्रकार है :

"न्यायाधीशों द्वारा दी गई सेवा, शिक्षा प्रशिक्षण और चरित्र की उच्च स्तरीय योग्यताओं की अपेक्षा करती है। इन गुणों को पाउण्ड, शिलिंग और पैंस की तराजू से उनके द्वारा किए गए कार्य की मात्रा में नहीं तौला जा सकता। न्यायमूर्तियों के लिए अपेक्षित जीवन और आचरण की रीति सामान्य व्यक्ति से कहीं अधिक कठोर और सीमित है हालांकि यह अलिखित हैं तथापि इसका अत्यधिक कठोरता से पालन किया जाता है। वे जहां विशेषाधिकारी हैं वही परिसीमित भी हैं। उनमें गरिमा और आचरण सतत रूप से विद्यमान रहना चाहिए। देखें पार्लियामेंट्री डिबेट्स (हंसार्ड) हाउस आफ कामन्स डिबेट्स तारीख 23-3-54 खण्ड 525 स्तंभ 1061-62।"

194. **"दि रोल आफ दि ट्रायल जज इन दि एंग्लो-अमेरिकन लीगल सिस्टम, 50 ए बी ए जे 125, 127 (1964)** में चांदलर ने यह मत व्यक्त किया है कि "न्यायाधीशों को केवल प्रक्रिया और साक्ष्य की विधियों का ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है.........बल्कि उसे दक्ष और सतत निर्णय देने में उन विधियों को व्यवहारिक रूप से प्रयोग करना चाहिए।"

195. संक्षेप में इस संदर्भ में शेक्सपीयर के शब्दों में विशिष्ट और पारंगत न्यायाधीश का उल्लेख करना उपयुक्त होगा जो उन्होंने **"दि मर्चेन्ट आफ वेनिस"** के उप-शीर्षक "ए डेनियल कम टू जजमेंट ! या, ए डेनियल" के अन्तर्गत कहा है।

196. चर्चा के लिए आगे का महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि नियुक्ति की पद्धति के अधीन कौन ईमानदारी और वास्तविकतापूर्ण रूप से अपेक्षित गुणों का मूल्यांकन करे और "सच्चे न्यायकर्ता की कुर्सी पर बैठाने के लिए उस चतुर आदमी का चयन करे"। क्या वह भारत का मुख्य न्यायमूर्ति हो या कार्यपालिका, जो मूल्यांकन और चयन की इस प्रक्रिया को पूरा करे।

197. दुर्भाग्यवश हमारे पास न्यायिक पद पर चयन किए जाने वाले व्यक्तियों के अपेक्षित गुणों का मूल्यांकन या उनका आकलन करने की कोई विधिवत कसौटी नहीं हैं। इसके ऊपर व्यापक प्रतिक्रियाएं हुई हैं कि न्यायाधीशों की चयन की वर्तमान प्रक्रिया में कुछ स्पष्ट अड़चनें तथा कमियां हैं और यह कि विद्यमान प्रभाववादी मूल्यांकन न्यायाधीशों को योग्यता के आधार पर चयन के लिए प्रयोग किए जाने वाला यंत्र संतोषप्रद नहीं है। इस बात का खण्डन नहीं किया जा सकता कि केवल वे ही व्यक्ति, जो यह जानते हैं कि उन्हें योग्यता को निर्धारित करने के लिए क्या कसौटी अपनानी चाहिए, सार्थकतापूर्वक अभ्यर्थी की योग्यता का आकलन करके भावी अभ्यर्थी का चयन कर सकते हैं। ऐसे भावी अभ्यर्थी की योग्यता की जांच और मूल्यांकन, जिनके नाम विचारार्थ आए हैं, प्रायोजी प्राधिकारी द्वारा प्रचलित लाभकारी आचार विधि की कसौटी के आधार पर, जो उन्हें विधिज्ञ वर्ग और न्यायाधीश वर्ग दोनों में चिरस्थायी अनुभव के कारण प्राप्त है, किया जा सकता है। ऐसा प्राधिकारी केवल भारत का मुख्य न्यायमूर्ति या संबद्ध उच्च न्यायालय का मुख्य न्यायमूर्ति हो सकता है। केवल वही अभ्यर्थी की वृत्तिक उपलब्धियां उसकी शैक्षिक योग्यता और उसके विधिक अनुभव के बारे में बता सकता है। हालांकि कार्यपालिका उसके दूसरे गुणों के बारे में, यथा उसकी संबद्धता, व्यक्तिगत गरिमा, पूर्ववृत्त और उसकी पृष्ठभूमि, बता सकती है। इस संबंध में **हाऊस आफकामन्स** में सर विन्सटन चर्चिल द्वारा व्यक्त किए गए इस मत का उल्लेख

करना उचित रहेगा कि "शायद मात्र वे ही व्यक्ति जो न्यायाधीश रहे हैं अपने एकाकी उत्तरदायित्व को जान सकते हैं **"देखें पार्लियामेंट्री डिबेट्स (हंसार्ड) हाउस आफ कामन्स डिबेट्स तारीख 23-3-54 खण्ड 525 स्तम्भ 1061/** वृत्तिक अर्हताओं से संबंधित अनुक्रमणिका का मूल्यांकन केवल मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा किया जा सकता है। यह दलील कि सरकार परामर्श के दौरान भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा व्यक्त की गई राय को तथा उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा व्यक्त की गई राय की भी स्पष्ट रूप से अवज्ञा कर सकती है और स्वयं अभ्यर्थी की योग्यताओं का मूल्यांकन करते हुए अभ्यर्थियों को नियुक्त कर सकती है, हमारी सुविचारित राय में सारगर्भित और तर्कपूर्ण नहीं कही जा सकती।

198. इस बात का खण्डन नहीं किया जा सकता कि भारत का मुख्य न्यायमूर्ति भारतीय न्यायपालिका का प्रधान होने और न्यायिक बिरादरी का गृहपति होने के कारण उसे न्यायपालिका की स्वतंत्रता की गरिमा और सुरक्षा प्रदान करने के लिए पूर्ण रूप से सतर्क रहना पड़ता है और वह इसी क्षमता में अभ्यर्थी की वृत्तिक उपलब्धियों और विधिक योग्यता आदि के संबंध में उसके गुणों का मूल्यांकन करता है और तब अपनी राय व्यक्त करता है। इसलिए न्यायपालिका को अधिक सुरक्षा प्रदान करने के वेश में अतिरिक्त परीक्षा अधिरोपित करके भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा व्यक्त की गई राय की बारीकी से जांच करने का कोई न्यायोचित्य नहीं हो सकता।

199. इस संदर्भ में रोम के एक व्यंग्यकार डेसीमस जूनियस जुवेनेलिस को, जिसने रोम साम्राज्य के दोषों की निम्न प्रकार भर्त्सना की है, उद्धृत करना सुसंगत होगा—

> "सेड क्विस कस्टोडिऐट इप्सोस कस्टोड्स ?
> (किंतु रक्षकों की स्वयं से रक्षा कौन करेगा)।"

200. इस महत्वपूर्ण तथ्य की अनदेखी नहीं की जानी चाहिए कि न्यायिक पद पर नियुक्ति की तुलना कार्यपालिका में नियुक्ति या अन्य सेवाओं में नियुक्ति से नहीं की जा सकती। **आल इण्डिया जजेज एसोसिऐशन और अन्य** बनाम **भारत संघ और अन्य**[1] वाले नवीनतम निर्णय में, जिसे तीन न्यायमूर्तियों की उस न्यायपीठ द्वारा दिया गया है जो न्यायमूर्ति ए० एम० अहमदी और पी० बी० सावंत तथा मुख्य न्यायमूर्ति एम० एन० वैंकटचलैया की अध्यक्षता में गठित हुई थी, निम्नलिखित मत व्यक्त किया गया है—

> "..........न्यायिक सेवा को "नियोजन" के रूप में सेवा नहीं माना जा सकता। न्यायाधीश कर्मचारी नहीं है। वे न्यायपालिका के सदस्यों के रूप में राज्य की सार्वभौम न्यायिक शक्ति का प्रयोग करते हैं। वे उसी प्रकार लोक पदों को धारण करते हैं जैसे कि मंत्री परिषद् के सदस्य और विधान मण्डल के सदस्य। जब यह कहा जाता है कि हमारे जैसे प्रजातंत्र में कार्यपालिका, विधान-मण्डल और न्यायपालिका राज्य के तीन स्तम्भ गठित करते हैं तब कहने का यह आशय होता है कि राज्य के तीन महत्वपूर्ण कृत्य राज्य के तीन अंगों को सुपुर्द होते हैं और इनमें से प्रत्येक राज्य के प्राधिकार का प्रतिनिधित्व करता है। वे जो राज्य की शक्ति का

[1] 1993 (4) 618.

प्रयोग करते हैं, वे मंत्री विधायक या न्यायाधीश होते हैं न कि उनके स्टाफ के ऐसे सदस्य जो उनके विनिश्चयों का अनुपालन कराने के लिए उन्हें लागू करते हैं और उनकी सहायता करते हैं। मंत्री परिषद् या राजनैतिक कार्यपालिका अपने उस सचिवीय स्टाफ या प्रशासकीय कार्यपालिका से भिन्न होती है जो राजनीतिक कार्यपालिका के विनिश्चय को लागू करते हैं। इसी प्रकार विधायक विधायिका के स्टाफ से भिन्न होते हैं, वैसे ही न्यायमूर्ति न्यायिक स्टाफ से भिन्न होते हैं। समानता राजनीतिक कार्यपालिका, विधायकों और न्यायाधीशों में है न कि न्यायाधीशों और प्रशासकीय कार्यपालिका में। संयुक्त राज्य अमरीका के समान कुछ प्रजातांत्रिक देशों में कुछ राज्यों की न्यायपालिकाओं के सदस्य विधान-मण्डल के सदस्यों और राज्य के अध्यक्षों की भांति निर्वाचित होते हैं। न्यायाधीश, चाहे वे किसी भी स्तर पर हों, राज्य तथा उसके प्राधिकार का प्रतिनिधित्व करते हैं न कि प्रशासकीय कार्यपालिका या दूसरी सेवाओं के सदस्यों के समान। इसलिए अन्य सेवाओं के सदस्यों को, न तो सांविधानिक रूप से और न ही क्रियान्वयन की दृष्टि से, न्यायपालिका के सदस्यों के समान नहीं रखा जा सकता ....

....

....

यह बहुत ही उपयुक्त समय है कि सभी संबद्ध व्यक्ति इस बात को स्वीकार करें कि ऊपर उल्लिखित कारणों से न्यायाधीशों की सेवा-शर्तों तथा अन्य सेवाओं के सदस्यों की सेवा शर्तों में कोई संबंध नहीं हो सकता ....

....

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है स्तर की समानता न्यायपालिका और प्रशासकीय कार्यपालिका के बीच नहीं है बल्कि यह न्यायपालिका और राजनीतिक कार्यपालिका में है। संविधान के अधीन न्यायपालिका प्रशासकीय कार्यपालिका से ऊपर है और इसे प्रशासकीय कार्यपालिका के बराबर रखने का कोई भी प्रयास हतोत्साहित किया जाना चाहिए।" (बल देने के लिए रेखांकन किया गया है।)

201. उपरोक्त दलील का विरोध करने और उससे इनकार करने की दृष्टि से विदेशों में अपनाई गई अनेकों पद्धतियां जहां कार्यपालिका को न्यायपालिका की उच्चतम श्रेणी के न्यायाधीशों के चयन और नियुक्ति में असीमित शक्ति और नियंत्रण प्राप्त है बताई गई है। और इसके लिए दलील दी गई है। प्रथमतया उन्होंने संयुक्त राज्य अमरीका में नामांकन या निर्वाचन, यथास्थिति, के द्वारा न्यायाधीशों की नियुक्ति में अपनाई गई रीतियों को निर्दिष्ट किया है। संयुक्त राज्य अमरीका में संघीय फैडरल कोर्ट के न्यायाधीशों को संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति द्वारा नामांकन किया जाता है और कुछ राज्य न्यायपालिकाओं के न्यायाधीशों का निर्वाचन होता है। उन्होंने, इंग्लैंड में कुछ न्यायालयों के गठन, यथा इंग्लैण्ड और वेल्स का सुप्रीम कोर्ट, जिसमें कोर्ट आफ अपील, हाई कोर्ट आफ जस्टिस और क्राउन कोर्ट सम्मिलित हैं तथा 1981 के सुप्रीमकोर्ट ऐक्ट में अन्तर्विष्ट सुप्रीम कोर्ट के अध्यक्ष के रूप में लार्ड चांसलर को प्रदत्त स्तर को निर्दिष्ट किया है। देखें हाल्सबरीज स्टेट्यूट्स, चौथा संस्करण जिल्द, 11 पृ० 756 से 865। इस निर्णय में कुछ अन्य देशों में न्यायमूर्तियों की नियुक्ति की प्रक्रिया को विस्तार से निर्दिष्ट करना, जैसे कि कनाडा, फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी,

1993(10) eILR(PAT) SC 1

जापान और आस्ट्रेलिया आदि में जहां कार्यपालिका में न्यायाधीशों की नियुक्ति की शक्ति अनन्य रूप से निहित की गई है, आवश्यक नहीं है ।

202. यह सत्य है कि बहुत से प्रजातांत्रिक देशों में न्यायाधीशों की नियुक्ति की शक्ति कार्यपालिका में निहित है । हालांकि यह कहा गया है कि संयुक्त राज्य अमरीका में संघीय न्यायपालिका के न्यायाधीश राष्ट्रपति द्वारा नाम निर्देशित तथा नियुक्त किए जाते हैं वस्तुतः स्वयं में वह प्रक्रिया बहुत कठिन और बहुत विस्तृत है । संक्षेप में, संयुक्त राज्य अमरीका के फैडरल सुप्रीम कोर्ट में राष्ट्रपति का नाम निर्देशिती को संपुष्ट सुनवाई के लिए सिनेट की न्यायिक समिति के समक्ष उपस्थित होना पड़ता है जो सामान्यतया कई दिनों तक चलती है । इस सुनवाई की प्रक्रिया के दौरान नाम निर्देशिती को अपने सांविधानिक दर्शन के संबंध में तथा अपनी विधिक योग्यता और सक्षमता आदि के संबंध में बहुत ही तीक्ष्ण और जानकारी देने वाले प्रश्नों का सामना करना पड़ता है । अभ्यर्थी द्वारा व्यक्त किए गए मत समाचारपत्रों, दूरदर्शन आदि जैसे जनसंचार के माध्यमों द्वारा संपूर्ण अमरीका के लोगों की जानकारी में लाए जाते हैं । इसके पश्चात् ही समिति सिनेट को उसके पक्ष में या विरोध में अपनी सिफारिशें करती है । इसके पश्चात् सिनेट साधारण बहुमत से अभ्यर्थी का अनुमोदन या अननुमोदित करती है । यदि अभ्यर्थी का अनुमोदन हो, जाता है तो उसकी नियुक्ति जीवनपर्यन्त होती है । संयुक्त राज्य अमरीका में राज्य स्तर के न्यायाधीशों की नियुक्ति की वर्तमान रीतियां इस प्रकार हैं : (1) पक्षावलंबी निर्वाचन (16 राज्यों में) ; (2) अपक्षावलंबी निर्वाचन (16 राज्य) ; (3) कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति (संघीय पद्धति, 9 राज्य और पुरतो रिको) ; (4) विधान मण्डल द्वारा चयन (4 राज्य) ; (5) योग्यता पद्धति (13 राज्य) ।

203. राज्य न्यायपालिका के निर्वाचन की प्रक्रिया में हमेशा ही एक निर्वाचक अवयव रहता है जो हमारी विधिक प्रणाली से मेल नहीं खाता ।.

204. वर्ष 1832 में मिस्सीसिप्पी पहला राज्य था जिसने पूर्ण रूप से निर्वाचित न्यायपालिका को अंगीकार किया था । तथापि वर्ष 1846 में न्यूयार्क ने अपने सांविधानिक कन्वैंशन द्वारा विधायी और शासकीय नियुक्तियों को निर्वाचन पद्धति में बदल दिया था । उस समय तक संघ में सम्मिलित होने वाले सभी राज्यों ने जब तक वर्ष 1958 में अलास्का ने प्रवेश नहीं किया था, निर्वाचित न्यायपालिका को अपनाया और जार्जिया मैरीलैंड, वरजीनिया तथा पैन्नीसिल्वेनिया के उप-निवेशिक राज्य भी नियुक्तियों के स्थान, पर निर्वाचन पद्धति में सम्मिलित हुए ।

205. अठारहवीं शताब्दी के मध्य में न्यायपालिका में निर्वाचन द्वारा नियुक्तियों के प्रचलन के तुरन्त पश्चात् असंतोष बढ़ना प्रारंभ हो गया था । वर्ष 1860 में न्यूयार्क शहर के टैमिनी हाल संगठन ने निर्वाचित न्यायपालिका के नियंत्रण पर आधिपत्य जमा लिया था जिससे जन आक्रोश पैदा हुआ क्योंकि योग्य न्यायाधीशों को पदच्युत करके असक्षम न्यायाधीशों की नियुक्तियां की गई थीं । इसके परिणामस्वरूप नियुक्ति पद्धति को वापस लाने से संबंधित एक प्रश्न 1873 में जनमत प्राप्त करने के लिए जनता के समक्ष रखा गया था किंतु यह गिर गया था । न्यायपालिका पर टैमिनी का नियंत्रण बना रहा और अन्य राज्यों में भी इसी

प्रकार की शर्तों के प्रति इस निर्वाचित पद्धति के विरुद्ध एक प्रतिकर्षण इसके कायम किए जाने के तुरन्त पश्चात् प्रारंभ हुआ। वर्जीनिया ने न्यायिक निर्वाचनों के 14 वर्ष पश्चात् विधायी चयन को पुन: अपनाया। वेरमोन्ट ने 20 वर्ष तक अवर न्यायालयों के न्यायाधीशों को निर्वाचित किया किंतु इस पद्धति को 1870 में त्याग दिया। यहां तक कि मिस्सीसिप्पी ने भी 1868 में नियुक्तियों को अपनाया और इसे 1910 तक बनाए रखा। इसके अतिरिक्त वे राज्य जिन्होंने निर्वाचन पद्धति को बनाए रखा था न्यायिक कार्मिकों की योग्यता पर राजनीतिक चयन के प्रतिकूल प्रभाव के बारे में विचार किया और न्यायाधीशों को राजनीति से बाहर लाने के लिए एक साधन के रूप में एक पक्षपातरहित मतदान को प्रारंभ किया।

206. मिस्सीसिप्पी में योग्यता के आधार पर न्यायिक चयन के दीर्घ अनुभव के पश्चात् मिसौरी प्लान के नाम से ज्ञात एक प्लान को 1940 में अंगीकार किया गया था। इस प्लान के अधीन नामांकन करने वाले आयुक्त महत्वपूर्ण हो गए थे क्योंकि वे न्यायिक नियुक्तियों का आदर्श स्थापित करते थे। इस प्लान के अनुसार जब कोई रिक्ति होती है तो सभी आवेदकों के नाम सामान्यतया आवेदकों से पत्रों के द्वारा या उनके ऐसे मित्रों द्वारा जो विचारार्थ आवेदन पेश करना चाहते हैं एक समुचित न्यायिक आयोग को पेश किए जाते हैं। आयोग आवेदन फाइल किए जाने को बढ़ावा देता है क्योंकि आवेदकों की संख्या के बारे में कोई सीमा नहीं है। आयुक्त सावधानीपूर्वक आवेदनों की परीक्षा उनकी अर्हताएं और पात्रता को निर्धारित करने के लिए जांच करता है तथा तीन नामों के एक पैनल का चयन करके गवर्नर को पेश करता है इन सभी की न्यायिक पद के लिए सक्षम होने और उचित रूप से अर्हित होने की सिफारिश की जाती है। तत्पश्चात् गवर्नर इस पैनल में से न्यायिक पद के लिए नाम निर्देशित व्यक्तियों में से एक को नियुक्त करता है। इस प्रकार मिसौरी प्लान के अधीन मिसौरी की न्यायपालिका का स्वरूप राजनीतिक निर्भरता से न्यायिक स्वतंत्रता में परिवर्तित हो गया था।

207. देखें टैक्सास ला रिव्यू (जिल्द 44) 1966.

208. इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि संयुक्त राज्य अमरीका में कुछ राज्यों में भी न्यायाधीशों की चयन प्रक्रिया पर पुनर्विचार किया गया था और नामांकन की प्रक्रिया को पुन: अपनाया गया था क्योंकि यह महसूस किया गया था कि सीधे निर्वाचन की पद्धति द्वारा राजनीति से दिशा प्राप्त व्यक्ति नियुक्त हो जाते हैं तथा इससे न्यायिक क्रियाकलाप में उदासीनता बढ़ती है।

209. युनाइटेड किंगडम में लार्ड चांसलर, जिसे राजनीति में न्यायिक सोपानतंत्र के अध्यक्ष के रूप में पदाभिहित किया गया है, आंग्ल न्यायपालिका में न्यायिक पदों पर सभी नियुक्तियों में जस्टिस आफपीस के पद से लेकर उच्चतर पदों पर नियुक्तियों तक, सलाह देता है। कोर्ट आफ अपील, हाउस आफ लार्ड्स और लार्ड चीफ जस्टिस, मास्टर आफ दि रोल्स तथा फेमिली डिवीजन के अध्यक्ष (प्रेसीडेन्ट आफ फैमीली डिवीजन) के पदों पर सभी नियुक्तियां प्रधानमंत्री द्वारा लार्ड चांसलर से परामर्श करने के पश्चात् की जाती हैं। वह (लार्ड चांसलर) मंत्री परिषद् का सदस्य होने तथा न्यायपालिका का अध्यक्ष होने के अतिरिक्त हाउस आफ लार्ड की अध्यक्षता करता है। उसमें कार्यपालिका, विधायिका तथा न्यायपालिका

1993(10) eILR(PAT) SC 1

के तीन प्रकार के कृत्य निहित हैं। संक्षेप में निस्संदेह युनाइटेड किंगडम में न्यायाधीशों के चयन और नियुक्ति की शक्ति कार्यपालिका में निहित होती है। तथापि इस प्रकार की राय व्यक्त की गई है कि उच्चतर न्यायपालिका में नियुक्तियों के लिए व्यक्तियों के चयन के मामले में लार्ड चांसलर की सहायता करने के लिए एक सलाहकार निकाय होना चाहिए। इसके परिणामस्वरूप 1972 में **जस्टिस सब कमेटी आफ दि जुडीशियरी** ने यह सिफारिश की थी कि यद्यपि लार्ड चांसलर नियुक्ति तंत्र पर नियंत्रण रखेगा फिर भी उसे उसके इस कार्य को सहायता पहुंचाने के लिए एक छोटी सलाहकार नियुक्ति समिति (एडवाइजरी अपायन्टमेन्ट कमेटी) होनी चाहिए। देखें भारत का विधि आयोग, 121वीं रिपोर्ट पृ० 38 पैरा 6.16.

210. जैसा कि हम इस निर्णय के पूर्ववर्ती भाग में यह उल्लेख कर चुके हैं कि जब हम न्यायपालिका की स्वतंत्रता की संकल्पना पर विचार कर रहे थे विदेशों में भी न्यायाधीशों के चयन और नियुक्ति की पद्धति में परिवर्तन के लिए एक मांग हुई है। वस्तुतः संविधान सभा के समक्ष भी इसी प्रकार की एक दलील दी गई थी और विश्व के विभिन्न भागों में विद्यमान ढांचे के आधार पर न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिए सुझाव दिए गए थे। किंतु डा० बी० आर० अम्बेडकर ने इनका विरोध किया और उन्होंने ऐसी दलील और सुझावों को नामंजूर करते हुए निम्न प्रकार कहा था—

> "आज हम जिन परिस्थितियों में रह रहे हैं, हमारे अन्दर उत्तरदायित्व की भावना उस सीमा तक पैदा नहीं हुई है जैसी कि संयुक्त राज्य अमरीका में है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि बिना किसी आरक्षण या सीमांकन के राष्ट्रपति द्वारा नियुक्तियां किया जाना अर्थात् मात्र उस समय की कार्यपालिका की सलाह के आधार पर अनुज्ञात करना, खतरनाक होगा। इसी प्रकार मुझे यह प्रतीत होता है कि ऐसी प्रत्येक नियुक्ति को करना जिसे कार्यपालिका करना चाहती है, विधायिका की सम्मति के अध्यधीन रखना भी बहुत उपयुक्त उपबंध नहीं होगा।"

211. अब इस विषय पर अधिक विस्तार से कहने की आवश्यकता नहीं है और यह पहलू हमें आगे विचार करने में कोई बाधा उत्पन्न नहीं करता है।

212. ऐसा होने पर भी सर्वप्रथम हमें उन दोषों का पता लगाना होगा जिनसे हमारी न्याय प्रणाली पीड़ित है। दूसरे, विधिपरायण जीवोतिपरीक्षा के अधीन उन बीमारियों के मूल कारणों की जांच कर ली होगी। तीसरे, इस प्रणाली के संबंध में की गई आपत्ति की प्रकृति को अभिनिश्चित करना होगा तथा अन्ततः हमें एक नई पद्धति और कूटनीति "इजाद की हुई नई दवा को" (इससे तात्पर्य नई उन्नत नीति तथा जुगत से है) सूई से अन्दर प्रवेश करा कर उन बीमारियों का उपचार और इलाज करना होगा जो भारतीय औषधकोष के अधीन फार्मूले के निबंधानानुसार विनिर्मित की जाएगी (इससे तात्पर्य है कि मिली-जुली संस्कृति आदि में राष्ट्रीय समस्याओं के अनुसार) न कि अमरीका और आंग्ल औषधकोष के अनुसार, जो हमारी भारतीय प्रणाली के लिए विदेशी हैं हालांकि दूसरे देशों में अपनाई गई प्रणाली हमारी प्रणाली के विकास के ऊपर कुछ प्रकाश डाल सकती है। कुछ आलोचकों का यह उत्क्रोष है कि जब सभी प्रजातांत्रिक देशों में न्यायाधीशों की नियुक्ति की शक्ति बहुत अधिक रूप में केवल कार्यपालिका में निहित करती है तब इस बात पर बल देने का कोई सार नहीं है कि न्यायाधीश के

पद के लिए अभ्यर्थियों के चयन और नियुक्ति में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय को प्राथमिकता दी जानी चाहिए । यह प्रतिपादना कि हमें विदेशी पद्धति को अंगीकार और अपनाना चाहिए एक नीरस विधिक तर्क है जो इस मामूली आधार पर ही खारिज कर दिया जाना चाहिए कि स्वयं भारत के संविधान में उच्चतर न्यायपालिका में नियुक्तियां करने से पहले राष्ट्रपति द्वारा भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से आज्ञापक परामर्श की अपेक्षा है । प्रत्यर्थियों की ओर से किसी भी काउंसेल द्वारा हमारे ध्यान में इस बात को नहीं लाया गया है कि किन्हीं दूसरे देशों में उनके संविधानों में वर्तमान समान सांविधानिक उपबंधों की विधिमानता के होते हुए भी कार्यपालिका ही नियुक्ति करती है ।

213. जब **गुप्ता वाले** मामले में यह दलील दी गई थी कि जब परामर्श करने वाले सांविधानिक प्राधिकारियों की राय में भिन्नता हो तब भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय को प्राथमिकता दी जानी चाहिए क्योंकि वह भारतीय न्यायपालिका का प्रधान होता है तथा न्यायपालिका की बिरादरी का कुलपिता । न्यायमूर्ति भगवती ने उस दलील को खारिज करते हुए यह प्रश्न किया था कि केवल एक सांविधानिक प्राधिकारी की राय को प्राथमिकता किस सिद्धांत पर दी जानी चाहिए जब कि अनुच्छेद 217 का खण्ड (1) जहां तक परामर्श की प्रक्रिया का संबंध है तीनों सांविधानिक प्राधिकारियों को समान स्तर पर रखता है । विद्वान न्यायमूर्ति ने उपरोक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय को अन्य सांविधानिक प्राधिकारियों की राय के समान रखा था । हमारी राय में यह उत्तर इस तथ्य की अवज्ञा और अनदेखी करता है कि न्यायिक सेवा नियोजन के अर्थ में एक सेवा नहीं है और यह अन्य सेवाओं से भिन्न है तथा "यह कि अन्य सेवाओं के सदस्य" सांविधानिक रूप में या व्यावहारिक रूप में न्यायपालिका के सदस्यों के बराबर नहीं रखे जा सकते । (देखें आल इंडिया जजेज एसोसिऐशन और अन्य वाला मामला) (उपरोक्त) ऐसे असंख्य बाध्यकारी तथ्य हैं जो इस संकल्पना को गति और संवेग प्रदान करते हैं कि परामर्श की प्रक्रिया में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय अधिमान पाने की हकदार है । वे इस प्रकार हैं—

"(1) राष्ट्रपति द्वारा भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के साथ परामर्श न्यायपालिका से संबंधित है न कि किसी अन्य सेवा से ।

(2) अनेकों सांविधानिक नियुक्तियों की प्रक्रिया में अन्य उच्च स्तरीय सांविधानिक पदों के विरोध में केवल न्यायिक पद पर ही परामर्श अपेक्षित है । अनुच्छेद 124(2) के पहले परंतुक में तथा न्यायिक पदों के संबंध में अनुच्छेद 217(1) में परिकल्पित "परामर्श" उच्चतर न्यायालयों के न्यायमूर्तियों की नियुक्ति में राष्ट्रपति की शक्ति पर एक प्रतिबंध या सीमा है ।

(3) न्यायमूर्तियों की नियुक्ति के मामले में राष्ट्रपति द्वारा सांविधानिक शक्ति के प्रयोग में राष्ट्रपति द्वारा किया जाने वाला "परामर्श" अनिवार्य और पुरोभाव्य शर्त है और न्यायमूर्तियों की नियुक्ति की संपूर्ण प्रक्रिया में यह शक्ति एक समेकित प्रक्रिया के रूप में जटिल रूप से मिली हुई है । इस प्रक्रिया के दौरान "परामर्श" को, जिसमें राष्ट्रपति द्वारा सलाह मांगी गई है मात्र औपचारिकता या व्यर्थ का कार्य या बिना किसी अनुलंघनीयता से संबद्ध किए हुए मात्र आकस्मिक मानकर, अमान्य नहीं किया जा सकता ।

(4) अनुच्छेद 124(2) के पहले परंतुक में प्रयुक्त पद "हमेशा परामर्श किया जाएगा" तथा अनुच्छेद 217(1) में प्रयुक्त पद "परामर्श के पश्चात्.............. नियुक्त किया जाएगा" के संदर्भ में यह संकेत करते हैं कि 'परामर्श' आज्ञापक प्रकृति का है जिसे बाध्यकारी रूप में लेना होगा।

(5) अनुच्छेद 124 और 217 विनिर्दिष्ट रूप से ठीक इसी प्रकार कार्य-पालिका के साथ परामर्श की राष्ट्रपति की अपेक्षा को उपबन्धित नहीं करते बल्कि कार्यपालिका का कार्यक्षेत्र न्यायिक सेवा के उच्चतर सोपानतंत्र में न्यायमूर्तियों की नियुक्ति की प्रक्रिया में संविधान के अनुच्छेद 74 और 163 के लागू होने पर प्रारंभ होता है। दूसरे शब्दों में न्यायमूर्तियों की नियुक्ति के मामले में राष्ट्रपति कार्यपालिका के साथ परामर्श करने के लिए बाध्य नहीं है क्योंकि ऐसे परामर्श के लिए कोई विनि-र्दिष्ट उपबंध नहीं है।

(6) राष्ट्रपति अनुच्छेद 124(2) के आज्ञापक परंतुक के अनुसार उच्चतम न्या-यालय में न्यायमूर्ति की नियुक्ति के मामले में केवल भारत के न्यायमूर्ति से परामर्श करने के लिए सांविधानिक रूप में बाध्य है और उच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति की नियुक्ति के मामले में राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायमूर्ति और राज्य के राज्यपाल से परामर्श के साथ संबद्ध उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति, यदि उस उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति से भिन्न न्यायमूर्ति की नियुक्ति का मामला है, से परामर्श करने के लिए बाध्य है। इसलिए भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय को अन्य सांविधानिक प्राधि-कारियों की राय के तुल्य समझना संविधान की भावना के अनुरूप नहीं है बल्कि यह न्यायपालिका से, संबंधित विषयवस्तु की प्रकृति के विरुद्ध है और यह उस संदर्भ के भी विरुद्ध है जिसमें 'परामर्श' की अपेक्षा की गई है। गुप्ता वाले मामले में न्यायमूर्ति भगवती द्वारा यह मत व्यक्त करने के पश्चात् कि "परामर्श" पूर्ण और प्रभावी होना चाहिए यह अभिनिर्धारित करने का कोई प्रकट कारण नहीं लगता कि ऐसे 'परामर्श' पर प्राथमिकता से विचार किए जाने की आवश्यकता नहीं है।

(7) "हमेशा परामर्श किया जाएगा" शब्दों पर दिया गया बल ही यह व्यक्त और उपदर्शित करता है कि राष्ट्रपति द्वारा सांविधानिक परामर्श दाताओं से बिना किसी अपवाद के प्रत्येक अवसर और प्रत्येक समय पर बिना किसी असफलता के आज्ञापक रूप में परामर्श किया जाना चाहिए।"

214. उपरोक्त वास्तविक और विधिक स्थिति की पृष्ठभूमि में 'परामर्श' शब्द के अर्थ को इसकी सामान्य शब्दकोष में दी गई परिभाषा तक सीमित नहीं रखा जा सकता। ये शब्द जिन परिस्थितियों और संदर्भ में हमारे संविधान में प्रयोग किए गए हैं, इसके अनुसार उससे इसकी अन्तर्वस्तु अधिकतम प्रभावित होती है।

215. उपरोक्त विस्तृत चर्चा से यह अनमनीय निष्कर्ष निकलता है कि उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायमूर्तियों के चयन और नियुक्ति के मामले में तथा एक उच्च न्यायालय से दूसरे उच्च न्यायालय में न्यायमूर्तियों के स्थानांतरण के मामले में भी सांविधानिक परामर्श की प्रक्रिया में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय प्राथमिकता पाने की

1993(10) eILR(PAT) SC 1

हकदार है। संक्षेप में उपरोक्त तर्कपूर्ण निष्कर्ष और हमारा सामाजिक दृष्टिकोण इस प्रकार है—

> "जिस प्रकार धर्म संबंधी और लौकिक कृत्यों में पादरी को सर्वोच्चता प्राप्त होती है उसी प्रकार सर्वोच्च न्यायिक प्राधिकारी होने के नाते यदि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय को न्यायालय से संबंधित कृत्यों में सर्वोच्चता प्रदान नहीं की जा सकती तो वह कम से कम प्राथमिकता का हकदार अवश्य है। यह सही दिशा में एक सही कदम है और मात्र यही एक कदम समाज का सर्वोत्तम लाभ सुनिश्चित कर सकेगा।"

216. निस्संदेह यह सत्य है कि अनुच्छेद 217 के अधीन राष्ट्रपति को तीन सांविधानिक प्राधिकारियों से परामर्श करना होता है। यथा (1) भारत का मुख्य न्यायमूर्ति (2) राज्य का राज्यपाल और (3) मुख्य न्यायमूर्ति की नियुक्ति के मामले में संबद्ध उच्च न्यायालय का मुख्य न्यायमूर्ति। उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों दोनों में न्यायमूर्तियों की नियुक्ति के मामले में राष्ट्रपति "अपने हस्ताक्षर और मुद्रा से अधिपत्र द्वारा" नियुक्ति करता है। अनुच्छेद 124(2), 217(1) और 222 के अधीन सांविधानिक कृत्यों का निर्वहन करने में राष्ट्रपति ऐसी मंत्रिपरिषद् की सहायता और सलाह से जिसका प्रधान प्रधानमंत्री होता है कार्य करता है और अपने कृत्यों का प्रयोग अनुच्छेद 74(2) के अधीन अनुध्यात रूप में ऐसी सलाह के अनुसार करता है। इसी प्रकार राज्यपाल अपने सांविधानिक कृत्यों का निर्वहन करने में मंत्रिपरिषद् की सहायता और सलाह से जिसका प्रधान उस राज्य का मुख्यमंत्री होता है निर्वहन करता है और जहां तक उसके कृत्य संविधान के अधीन अपेक्षित या उसके द्वारा या उनमें से कोई जो अनुच्छेद 166(3) और 167 के साथ पठित अनुच्छेद 163(1) में अनुध्यात विवेक के अधीन के सिवाय अपने सभी सांविधानिक कृत्यों का निर्वहन करता है। दूसरे शब्दों में राष्ट्रपति उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों में न्यायमूर्तियों की नियुक्तियां करने में अपने सांविधानिक कर्तव्य का प्रयोग ऐसी मंत्रिपरिषद् की सहायता और सलाह से करता है जिसका प्रधान प्रधानमंत्री होता है।

217. **शमशेर सिंह** वाले मामले में (उपरोक्त) न्यायमूर्ति कृष्ण अय्यर ने अपनी ओर से तथा न्यायमूर्ति भगवती ने अपनी ओर से बहुमत के निर्णय से सहमति व्यक्त करते हुए यह मत व्यक्त किया था कि "सभी व्यवहारिक प्रयोजनों के लिए राष्ट्रपति से अभिप्रेत हैं मंत्री मंत्रिपरिषद् यथास्थिति और उसकी राय, समाधान या विनिश्चय तब सांविधानिक रूप से किया गया माना जाता है जब उसके मंत्री ऐसी राय, समाधान या विनिश्चय पर पहुंचते हैं।

218. कार्यपालिका के सर्वोच्च शिखर पर होने के कारण राज्यपाल में राज्य की सभी कार्यपालिका शक्तियां निहित हैं [देखें अनुच्छेद 154(1) और वह राज्य विधान-मंडल में भी सर्वोच्च स्थान पर होता है] (देखें अनुच्छेद 169)। दोनों हैसियतों में राज्यपाल को अनेकों कृत्य पूरे करने होते हैं जिनमें शक्तियां और कर्तव्य सम्मिलित हैं। इसलिए राष्ट्रपति द्वारा "परामर्श" की प्रक्रिया के दौरान राज्यपाल अपने राज्य की मंत्रिपरिषद् की सलाह से जिसका प्रधान मुख्य मंत्री होता है उच्च न्यायालय में न्यायमूर्तियों की नियुक्ति के मामले में

राष्ट्रपति को अपनी राय देने में सांविधानिक कर्तव्य का निर्वहन करता है। इस प्रकार राष्ट्रपति को सलाह देते हुए संघ की कार्यपालिका और राज्य की कार्यपालिका, जब वह राज्यपाल को उसके कर्तव्य का निर्वहन करने में सलाह देती है (यथास्थिति) 'परामर्श' की प्रक्रिया के दौरान अपनी राय देने में महत्वपूर्ण कर्तव्य का अनुपालन करती है।

219. संविधान (चवालीसवां संशोधन) अधिनियम 1978 द्वारा अनुच्छेद 74(1) द्वारा पुर:स्थापित परंतुक के अधीन राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद् को ऐसी सलाह पर, सामान्य रूप से या अन्यथा पुनर्विचार करने के लिए कह सकता है किंतु राष्ट्रपति ऐसे पुनर्विचार के पश्चात् दी गई सलाह को मानने से इंकार नहीं कर सकता और वह ऐसी सलाह को मानने के लिए बाध्य है इसलिए अनुच्छेद 163(1) के विपरीत जो व्यक्त रूप से ऐसे कुछ मामले स्वीकार करती है जिनमें राज्यपाल संविधान द्वारा या उसके अधीन अपने विवेक के अनुसार कार्य करने के लिए सशक्त है। इस अनुच्छेद के अधीन राष्ट्रपति के विवेक पर कुछ भी नहीं छोड़ा गया है। यदि उसके मंत्रियों द्वारा दी गई सलाह के प्रस्तावित कार्य पर राष्ट्रपति को कुछ आपत्ति है तो उसके समक्ष केवल यह रास्ता है कि वह ऐसी सलाह पर, सामान्य रूप से या अन्यथा, मंत्रिपरिषद् को पुनर्विचार करने के लिए कह सकता है। किंतु यदि वही राय मंत्रिगण द्वारा पुन: प्रकट की जाती है तो राष्ट्रपति के पास मंत्रियों की सलाह मानने के सिवाय कोई और विकल्प नहीं है। न्या० कृष्ण अय्यर ने **शमशेर सिंह बनाम पंजाब राज्य**[1] वाले मामले में उस स्थिति का उल्लेख करते हुए यह कथन किया कि :

> "क्या इससे भारतीय संविधान के अधीन राष्ट्रपति नाममात्र को हो जाता है? ऐसी बात नहीं है। इंग्लैंड में राजा के समान उसे भी 'परामर्श किए जाने, प्रोत्साहित करने और चेतावनी देने का' अधिकार होगा। मंत्रिमंडल की मंत्रणा पर कार्य करने का आवश्यक रूप से यह अर्थ नहीं है कि मंत्रिगण द्वारा व्यक्त किए गए प्रथम विचारों को तत्काल स्वीकार कर लिया जाए। किसी भी प्रस्तावित कार्यवाही के संबंध में राष्ट्रपति अपने सब आक्षेप बतला सकते हैं और यदि आवश्यक हो तो सपरिषद् अपने मंत्रिगण से उस संबंध में पुन: विचार करने के लिए कह सकते हैं। केवल अंतिम प्राधिकार के तौर पर ही उन्हें मंत्रिगण के अंतिम परामर्श को स्वीकार करना होगा।..
>
> ....
>
> भारत में राष्ट्रपति महिमामण्डित निरर्थक पदधारी नहीं है। वह सबसे ऊपर है और राज्य के गौरव का प्रतिनिधित्व करता है यद्यपि ऐसा वह प्रतीक स्वरूप ही करता है। वह राजनीति से ऊपर रहता है जिससे उसका संबंध जनता और दलों से होता है। यदि वह अपनी शक्तियों का प्रयोग करता है तो उसकी जागरूक मौजूदगी से अच्छी सरकार बनती है जैसा बैगहाट ने वर्णित किया है—"परामर्श किए जाने, चेतावनी देने और प्रोत्साहित करने का अधिकार।" वास्तव में यदि अनुच्छेद 78 का बुद्धिमानी से प्रयोग किया जाए तो राष्ट्रीय महत्व और नीति की सार्थकता की बातों की बाबत प्रधानमंत्री का राष्ट्रपति से निकट का संपर्क बना रहता है और इस बारे में कोई संदेह नहीं है कि उसके व्यक्तित्व के प्रभाव से राजनैतिक सरकार

---

[1] [1975] 1 उम० नि० प० 357=[1975] 1 एस० सी० आर० 814.

1993(10) eILR(PAT) SC 1

शुचिता एवं शुद्धता की ओर बढ़े यद्यपि विधि द्वारा उसे सौंपे गए कृत्यों का प्रयोग प्रभावशाली रूप से और विधि के अनुसार उसके द्वारा सम्यक् रूप से नियुक्त किए गए मंत्रियों द्वारा चलाया जाता है अर्थात् प्रधानमंत्री और उसके सहयोगियों द्वारा। संक्षेप में राष्ट्रपति, राजा के समान, सांविधानिक दृष्टि से कार्य नहीं करता है किंतु उसमें वास्तव में व्यापक और समझाने-बुझाने का कार्य निहित है।"

220. इस प्रकार यह देखा जाता है कि राष्ट्रपति को कोई वैवेकिक शक्ति नहीं है और राज्यपाल के मामले में यद्यपि राज्यपाल को वैवेकिक शक्ति केवल अल्प रूप में प्राप्त है तथापि उससे हमारा इस मामले में कोई बहुताधिक सरोकार नहीं है। राष्ट्रपति से यह अपेक्षित है कि वे संविधान के अधीन अपने प्रशासनिक कर्तव्यों का पालन करे। इस कर्तव्य पालन से अपेक्षित है उनका यथारीति अनुमोदन या उस पर मुहर लगाया-जाना और जिसकी बाबत कोई भी बात उनके विवेकाधिकार में नहीं रह जाती भले ही ऐसे सांविधानिक कृत्यों का स्वरूप प्राय: राजीनिक पुट से युक्त होता हो। जिस परिणाम पर हम पहुंचे है वह यह है कि राष्ट्रपति की न्यायाधीशों को नियुक्त करने की शक्ति कार्यपालिका के प्राधिकार पर अभिभावी नहीं होती बल्कि पूर्णतया कार्यपालिका के विवेकाधिकार के अधीन आती है।

221. यद्यपि उच्चतर न्यायपालिका में न्यायाधीशों की नियुक्ति करने में सभी सांविधानिक प्राधिकारियों के अपने स्वयं के सांविधानिक कर्तव्य होते हैं तथापि प्रधान सांविधानिक प्राधिकारियों में से एक प्राधिकारी की अर्थात् न्यायपालिका की भूमिका अविवाद्य रूप से अपरिमेय और असीम है। न्यायपालिका को सौंपा गया कार्य किसी भी रूप में अन्य प्राधिकारियों—विधायी और कार्यपालिक— से कम नहीं है। दूसरी ओर, न्यायपालिका का उत्तरदायित्व उच्चतर डिग्री का है। जैसा कि निरंतर रूप से कहा गया है, न्यायपालिका लोकतंत्र की प्रहरी है जो संविधान के सीमा क्षेत्र से परे अन्य सांविधानिक प्राधिकारियों के अत्यधिक प्राधिकार को नियंत्रण में रखती है। इस बात का कोई विवाद नहीं किया जा सकता कि न्यायिक पद्धति की शक्ति और सार्थकता और उसकी स्वतंत्रता बहुत अधिक उस व्यक्ति की योग्यता पर निर्भर करती है जो न्यायपालिका का प्रमुख है और यह अति आवश्यक भी है कि शक्तिशाली प्रजातंत्र के लिए एक निरामय स्वतंत्र न्यायपालिका हो क्योंकि यदि न्यायिक पद्धति अशक्त होगी तो प्रजातंत्र भी अशक्त हो जाएगा।

222. व्यवहारत:, मंत्रि-परिषद् जहां भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय पर ध्यान दिए बिना, यथास्थिति, केन्द्रीय या राज्य दोनों स्तरों पर न्यायाधीशों का चयन और उनकी नियुक्ति करने में तथाकथित आत्यंतिक प्रभुत्व के कारण मुख्य भूमिका निभाती है, वहां वह केवल उन व्यक्तियों को ही नियुक्त करने की वांछा कर सकती है जो उसकी नीति के अनुपालन में सहभागी बनते हैं या जो उसके राजनीतिक दर्शन से संबद्धता प्रकट करते हैं या जो उसकी विचारधारा से अपनी सहमति प्रकट करते हैं। न्यायपालिका में पुरुष और महिलाओं का उस प्रकार अभिप्रेरित चयन निश्चित रूप से विधिसम्मत शासन के प्रति जनता के विश्वास को कम करता है और परिणामस्वरूप अनुच्छेद 50 के अधीन प्रतिबिम्बित न्यायपालिका से पृथक्करण की संकल्पना और कार्यपालिका से अप्रभावित न्यायपालिका की स्वतंत्रता की उच्च संकल्पना वास्तविकता न रहकर मात्र निषिद्ध ईप्सित वस्तु या कल्पनामात्र रह जाएगी। उस स्थिति में, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श करना सांविधानिक अपेक्षाओं को

पूरा करने के प्रयोजन के लिए एक औपचारिकता मात्र रह जाएगी। जैसा कि एस० पी० गुप्त बनाम भारत संघ[1] वाले मामले में उल्लिखित है कि न्यायपालिका का सभी सांविधानिक प्राधिकारियों के बीच सबसे अशक्त हो जाने का सीधा कारण यह हो सकता है कि उसके पास कोई सत्ता (अर्थात् अपने विनिश्चयों को प्रवर्तित कराने की शक्ति) या असीम धन शक्ति (अर्थात् वित्तीय संसाधन) नहीं है। किंतु यदि उस कारण न्यायपालिका से संबद्ध विषयों में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय पर कार्यपालिका की राय अभिभावी होती है तब स्वतंत्र न्यायपालिका का, जो सब के लिए विशिष्टतया सरकार के कोप का सामना कर रहे निर्धन, पददलित और औसत व्यक्ति के लिए एक सबल शक्ति स्रोत है, नाम अयथार्थ मात्र रह जाएगा।

223. इस संबंध में सर विन्सटन चर्चिल द्वारा अभिव्यक्त दृष्टिकोण का संक्षिप्त पुनर्कथन करना पूर्णतया समुचित होगा जिसमें उन्होंने वर्ष 1954 में हाऊस आफ कामन्स में हुए संसदीय विचार-विमर्श में न्यायपालिका की स्वतंत्रता पर बल दिया था। उन्होंने निम्नलिखित विचार व्यक्त किए—

> "न्यायाधीश को न केवल एक व्यक्ति और दूसरे व्यक्ति के बीच न्याय करना होता है बल्कि उसे नागरिकों और राज्य के बीच भी न्याय करना होता है और यह उन कृत्यों में से सबसे महत्वपूर्ण कृत्य है जिसे विश्व के कुछ बड़े भागों में कठिन समझा गया है। उसे यह भी सुनिश्चित करना होता है कि प्रशासन विधि के अनुरूप कार्य करे और कार्यपालिका द्वारा अपनी शक्तियों के प्रयोग की वैधता पर न्याय-निर्णयन करना होता है।" (बल देने के लिए रेखांकन हमारी ओर से)

224. न्यायाधीशों की कार्यपालिक नियुक्ति पर अवरोध की आवश्यकता के संबंध में उपरोक्त दृष्टिकोण पर आस्ट्रेलिया के मुख्य न्यायमूर्ति सर गारफील्ड बारविक ने भी न्यायाधीशों के चयन की रीति के बारे में प्रकट अपने सुझावों में बल दिया है और बारंबार बल दिया है। उनका विचार यह है कि—

> "मेरी राय में वह समय आ गया है जब कम से कम इस समुदाय और इसकी संस्था के विकास में इस क्षेत्र में कार्यपालिका सरकार के विशेषाधिकार में कुछ कमी की जानी चाहिए। सरकार द्वारा संरक्षण के उस तत्व को, जिसमें न्यायाधीश की नियुक्ति भी अंतर्निहित हो सकती है, त्यागने की अनिच्छा का अर्थ कोई भी लगा सकता है। तथापि, मेरा यह विचार है कि न्याय प्रशासन में की दीर्घकालिक विचारणाओं में इस विशेषाधिकार के आबद्धकर अवरोध की अपेक्षा की जाती है।
>
> ....
>
> ....
>
> यहां मुझे अपनी अधिमानताएं व्यक्त नहीं करनी हैं इतना कहना ही पर्याप्त होना चाहिए कि मैं एक सीमा तक जोर देकर यह कह रहा हूं कि अब वह समय आ गया है जब न्यायिक नियुक्तियों का चयन करने में कार्यपालिका सरकार पर कुछ अवरोध होने चाहिए और उसके द्वारा इन्हें स्वीकार किया जाना चाहिए।"

[1] [1982] 4 उम० नि० प० 1=[1982] 2 एस० सी० आर० 365.

225. इस बात से कोई भी इंकार नहीं कर सकता कि आजकल राज्य ही प्रमुख कक्षीकार हैं और उच्चतर न्यायालय विशेष रूप से उच्चतम न्यायालय उन विक्षुब्धकारी तर्क-वितर्कों का, जिनमें से कुछ राजनैतिक प्रतिक्रियाओं के पुट से युक्त होते हैं, केन्द्र बन गए हैं तथा न्यायालयों को इन झंझावातों का सामना करना पड़ता है और राष्ट्र के लिए उनका शक्तिशाली होना अनिवार्य है। अतः ऐसी परिस्थितियों में क्या सरकार, अर्थात्, प्रमुख कक्षीकार के लिए अपने मध्यस्थों के नामांकन और उनकी नियुक्ति के आत्यंतिक प्राधिकार का उपयोग करना उचित हो सकता है ? इसका उत्तर नकारात्मक ही होगा। यदि ऐसी प्रक्रिया को बनाए रखने की अनुज्ञा दी जाती है तो दीर्घकाल में न्यायपालिका की स्वतंत्रता समाप्त हो जाएगी और उसका कोई सूत्र भी नहीं रह पाएगा। विधि आयोग की विभिन्न रिपोर्टों (विशेष रूप से 14वीं, 18वीं और 121वीं रिपोर्ट), संगोष्ठियों की रिपोर्टों और प्रख्यात न्यायविदों आदि के लेखों का अध्ययन करने से हम समझ पाएंगे कि कार्यपालिका की शक्ति को घटाकर उच्चतर न्यायपालिका में न्यायाधीशों की नियुक्ति की पद्धति में आमूल परिवर्तन उद्भूत होते रहे हैं किंतु वांछित परिणाम अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है हालांकि अब तक स्वतंत्रता की प्राप्ति के लगभग 46 वर्ष और सांविधानिक पद्धति की विरचना के समय के 42 से अधिक वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। तथापि हमारा यह विशिष्ट विशेषाधिकार है कि हमारी न्यायिक पद्धति का प्रख्यात उद्भव, उसकी स्वतंत्रता लब्ध प्रतिष्ठ न्यायाधीशों द्वारा न्याय-व्यवस्था की रीति में किसी अन्य राष्ट्र के न्यायाधीशों की अपेक्षा अधिक सशक्त राष्ट्रीयतावादी दृष्टिकोण है और भारतीय न्यायपालिका की पारिणामिक विजय सापेक्षता अधिक प्रशंसनीय है। किंतु इसका अर्थ यह नहीं कि न्यायाधीशों की नियुक्ति के विषय में कार्यपालिका को उसके "राजसी विशेषाधिकार" के रूप में आत्यंतिक प्राथमिकता का उपभोग करने की अनुमति देते हुए वर्तमान पद्धति सदैव बनाए रखी जानी चाहिए।

226. **एस० पी० गुप्त बनाम भारत संघ**[1] वाले मामले में अभिव्यक्त दृष्टिकोण को बनाए रखने के लिए विद्वान् महान्यायवादी और श्री पारासरन का वाक्-कौशल, यद्यपि उनकी तर्कशक्ति इस प्रयोजन के लिए अति विशिष्ट है फिर भी वह स्वीकार्य नहीं पाई गई है और पूर्व उल्लिखित सभी कारणों से व्यर्थ ही जाती है क्योंकि जिस सिद्धांत की प्रतिरक्षा का उन्होंने प्रयास किया है उसकी कुछ निहित खामियां हैं।

227. उपरोक्त विवेचन से यह अपरिहार्य निष्कर्ष निकलता है कि ऊपरवर्णित सभी कारणों से इस दृष्टिकोण का समर्थन होता है कि कार्यपालिका का, उच्चतर न्यायपालिका में न्यायाधीशों का चयन करने के मामले में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय पर प्रधानता रखना न्यायोचित नहीं होगा।

228. उच्चतम न्यायालय में रिक्त पदों को भरने के लिए प्ररूपिक प्रस्ताव के बारे में प्रचलित प्रक्रिया भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा उपयुक्त पाए गए व्यक्ति के नाम की विधि और न्याय मंत्री को सिफारिश करके आरंभ की गई है। विधि और न्याय मंत्री यदि उन सिफारिशों को स्वीकार करते हैं तो वे उस प्रस्ताव को भारत के प्रधानमंत्री को अग्रेषित करते हैं और भारत के प्रधानमंत्री यदि उस प्रस्ताव को स्वीकार कर लेते हैं तो वे तदुपरि

---

[1] [1982] 4 उम० नि० प० 1=[1982] 2 एस० सी० आर० 365,

भारत के राष्ट्रपति को नियुक्ति संबंधी प्ररूपिक अधिपत्र जारी करने की सलाह देते हैं। इसी प्रकार, उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति के मामले में उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति प्ररूपिक प्रस्ताव करते हैं और उस प्रस्ताव पर राज्य के मुख्यमंत्री द्वारा विचार किया जाता है तथा राज्यपाल की ओर से उस पर सम्यक् कार्यवाही की जाती है तथा विधि और न्याय मंत्रालय के माध्यम से वह प्रस्ताव भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को अग्रेषित किया जाता है। विधि और न्याय मंत्री, यदि वे भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सिफारिशों से सहमत होते हैं तो वे वह प्रस्ताव प्रधानमंत्री को अग्रेषित करते हैं और यदि प्रधानमंत्री उस प्रस्ताव का अनुमोदन करते हैं तो वे राष्ट्रपति को प्ररूपिक अधिपत्र जारी करने की सलाह देते हैं। जहां तक उच्चतम न्यायालय के न्यायमूर्ति की नियुक्ति के लिए भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा लाए गए प्रस्ताव का संबंध है, यदि किसी प्रकार का कोई अननुमोदन होता है तो वह केवल केन्द्रीय सरकार की ओर से होता है। उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति के मामले में, चूंकि प्रस्ताव उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा किया जाना होता है अतः अननुमोदन संबंधी प्रश्न, यदि कोई हो, राज्य सरकार, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति या केन्द्रीय सरकार में से किसी के भी द्वारा उद्‌भूत हो सकता है। ऐसे किसी मामले में, जहां उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति किसी नाम का प्रस्ताव करते हैं किंतु राज्य सरकार उसे अस्वीकार कर देती है वहां वह प्रस्ताव द्वितीय प्रक्रम पर अर्थात् भारत के मुख्य न्यायमूर्ति और केन्द्रीय सरकार द्वारा उसकी संवीक्षा किए जाने के प्रक्रम पर नहीं पहुंच सकता। यदि, राज्य सरकार उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति के प्रस्ताव से सहमत है किंतु भारत के मुख्य न्यायमूर्ति उस प्रस्ताव पर किसी भी आधार पर विसम्मति प्रकट करते हैं तो उस प्रस्ताव का क्या परिणाम निकलेगा ? ऐसी स्थिति में, यदि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श अप्ररूपिक पाया जाता है तब **गुप्ता वाले मामले में** अधिकथित सिद्धांत के अनुसार केन्द्रीय सरकार, यदि वह उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति और संबंधित राज्य सरकार से सहमत है तो वह भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय पर ध्यान दिए बिना राष्ट्रपति को सलाह दे सकती है। यहां तक कि अतिवादी मामलों में जहां उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति प्रस्ताव लाते हैं किंतु राज्य सरकार और भारत के मुख्य न्यायमूर्ति उस प्रस्ताव को अस्वीकार कर देते हैं तिस पर भी केन्द्रीय सरकार **गुप्ता वाले मामले में** अधिकथित सिद्धांत के आधार पर उस अभ्यर्थी का अनुमोदन कर सकती है और नियुक्ति के लिए सिफारिश कर सकती है। यह सत्य है कि उच्चतर राज्य न्यायपालिका के लिए अभ्यर्थी की सिफारिश करते समय उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति को अभ्यर्थी की योग्यता और विधिक योग्यता का मूल्यांकन करने में सामीप्य का लाभ होता है। लेकिन भारत के मुख्य न्यायमूर्ति, जिनके समक्ष उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति और राज्य सरकार की उस प्रस्ताव से संबंधित सभी सुसंगत सामग्री सहित राय व्यक्त की जाती है, अभिलिखित किए जाने वाले युक्तियुक्त और तर्कपूर्ण कारणों से उस सिफारिश को स्वीकार करने या उसे नामंजूर करने की बेहतर स्थिति में होते हैं। इस निर्णय के पूर्ववर्ती भाग में जैसा कि उल्लेख किया गया है, उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले में अभ्यर्थियों की वृत्तिक उपलब्धियों, विधिक अगाधता, योग्यता, कुशलता आदि को ध्यान में रखकर उनकी योग्यता का मूल्यांकन केवल उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा और उच्चतम न्यायालय के न्यायमूर्ति की नियुक्ति के मामले में केवल भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा ही किया जा सकता है। लेकिन, चूंकि न्यायपालिका के पास अभ्यर्थी के पूर्ववृत्त और पृष्ठभूमि की जांच करने के लिए अपनी स्वयं की पर्याप्त तंत्र प्रणाली नहीं है

1993(10) eILR(PAT) SC 1

अतः ऐसा हो सकता है कि उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति और भारत के मुख्य न्यायमूर्ति अभ्यर्थी के आचरण, चरित्र और पूर्ववृत्त के बारे में अपनी कोई राय व्यक्त करने की स्थिति में न हों। किंतु सरकार अपनी सशक्त तंत्र प्रणाली से अभ्यर्थी के पूर्ववृत्त और पृष्ठभूमि की जांच कर सकती है और उस पहलू पर अपनी राय दे सकती है। अतः, जब उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति की ऐसी अभ्यर्थी की पृष्ठभूमि सहित सभी ब्यौरों के साथ सिफारिश भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के पास आती है तो वे (भारत का मुख्य न्यायमूर्ति) अभ्यर्थी की उपयुक्तता का मूल्यांकन करने के लिए उसके समक्ष रखी गई समस्त सामग्री की समीक्षा करने की बेहतर स्थिति में होंगे। अतः इन सब परिस्थितियों में, उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों का चयन करने के मामले में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय को साधिकार प्राथमिकता दी जा सकती है।

229. हालांकि अनुच्छेद 124 (2) के परंतुक में यह अनुध्यात है कि राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श करेगा किंतु अनुच्छेद 127 (1) में यह अनुध्यात है कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति और राज्य के राज्यपाल से परामर्श करने के अतिरिक्त उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति से भी परामर्श किया जाएगा। किंतु इन दोनों अनुच्छेदों में यह अपेक्षा नहीं की गई है कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति और उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति अपनी राय बनाने में उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के संपूर्ण निकाय से परामर्शक प्रक्रिया करें। दूसरे शब्दों में, परामर्श द्वारा इप्सित राय संबद्ध न्यायालय के संपूर्ण निकाय की राय नहीं है जैसा कि संविधान के अनुच्छेद 235 में सन्निविष्ट है जिसमें "अधीनस्थ न्यायालयों का नियंत्रण" "उच्च न्यायालय में" विहित किया गया है। इस विधिक स्थिति के होते हुए भी, उच्चतम न्यायालय के न्यायमूर्तियों की नियुक्तियों से संबंधित मामलों के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाने की दशा में प्रज्ञा विषयक यह एक अच्छी परंपरा होगी कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति उच्चतम न्यायालय के दो ज्येष्ठतम न्यायमूर्तियों के मत को और उच्च न्यायालय के किसी अन्य न्यायाधीश या न्यायाधीशों के मत को ध्यान में रखते हुए परामर्शक प्रक्रिया पर अपनी राय व्यक्त करें जिनकी कि राय अभ्यर्थी की उपयुक्तता का अवधारण करने में महत्वपूर्ण हो सकती है, जैसाकि मेरे विद्वान् बंधु न्या० जे० एस० वर्मा ने अपने पृथक् निर्णय में उल्लेख किया है। इसी प्रकार उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति के संबंध में, यह बेहतर होगा यदि संबंधित उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति उच्च न्यायालय के कम से कम दो ज्येष्ठतम न्यायाधीशों के या ऐसे अन्य न्यायाधीशों के, जिनकी राय उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति की राय बनाने में महत्वपूर्ण हो सकती है, मत को अभिनिश्चित करके परामर्शक प्रक्रिया पर अपनी राय बनाते हैं। भारत के मुख्य न्यायमूर्ति, उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति के लिए संबंधित उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा की गई सिफारिश पर अपनी राय बनाते समय उच्चतम न्यायालय में के अपने उन बंधुओं के मत को ध्यान में रख सकते हैं, जो संबंधित उच्च न्यायालय के क्रियाकलापों से सुपरिचित हो सकते हैं जैसाकि मेरे विद्वान् बंधु न्या० जे० एस० वर्मा ने उल्लेख किया है। यह परामर्शक प्रक्रिया न तो सांविधानिक उपबंधों के विरुद्ध है और न ही राष्ट्रपति के लिए उच्चतम न्यायालय के न्यायमूर्ति की नियुक्ति के लिए भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा की गई सिफारिश पर विचार करते समय उच्चतम न्यायालय के ऐसे न्यायमूर्तियों और राज्यों के उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों से स्वविवेकानुसार परामर्श करने में कोई रुकावट डालती है।

दूसरी ओर, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा ऐसी परामर्शक प्रक्रिया के माध्यम से अभिव्यक्त राय राष्ट्रपति को अपनी स्वयं की राय बनाने में अति सहायक होगी ।

230. अगला मुख्य मुद्दा, जिसमें गंभीर और अधिक महत्त्वपूर्ण शंकाएं अंतर्वलित हैं, यह है कि क्या राष्ट्रपति, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय से जोड़ी जानी वाली प्राथमिकता को देखते हुए सभी परिस्थितियों में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय से आबद्ध हैं और क्या राष्ट्रपति को उन महत्वपूर्ण कारणों से, जो अभिलिखित किए जाएंगे और भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को संसूचित किए जाएंगे, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय को वीटो करने (निषिद्ध करने) का अधिकार है या नहीं । चूंकि इस मुद्दे पर मेरे विद्वान् बंधु न्या० जे० एस० वर्मा ने भली भांति विचार किया है और उसका उत्तर दिया है अतः मैं उनकी राय से सहमत हूं । मैं यह महसूस करता हूं कि इस प्रश्न पर और अधिक विचार-विमर्श किए जाने की आवश्यकता नहीं है सिवाय यह कहने के कि जब भारत के मुख्य न्यायमूर्ति अपने समक्ष रखी संपूर्ण सामग्री पर सम्यक् विचार करने के पश्चात् उस प्रस्ताव का अननुमोदन कर देते हैं जिससे उच्चतम न्यायालय के अन्य परामर्शी भी सहमत हों तब भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के उस मत से भारत के राष्ट्रपति को सहमत होना ही चाहिए । यदि किसी अन्य युक्तियुक्त कारण से, राष्ट्रपति अपने पास उपलब्ध समस्त सामग्री, जिससे प्रेरित होकर उन्होंने प्रतिकूल दृष्टिकोण अपनाने का मत बनाया था, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को इस अनुरोध के साथ अग्रेषित करते हैं कि वे अपनी राय पर पुनर्विचार करें और यदि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति अपने बंधु न्यायमूर्तियों से परामर्श करने के पश्चात् उसका अननुमोदन करने का ही मत अपनाते हैं, तो उस दशा में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति का मत अभिभावी होगा और उस अभ्यर्थी की नियुक्ति नहीं की जाएगी । किसी आपवादिक मामले में, ऐसे ठोस और युक्तियुक्त कारणों से, जिनसे यह उपदर्शित होता है कि वह व्यक्ति जिसकी नियुक्ति के लिए सिफारिश की गई है उस नियुक्ति के लिए उपयुक्त नहीं है तो भारत के न्यायमूर्ति द्वारा जिस नियुक्ति की सिफारिश की गई है वह नियुक्ति नहीं की जाएगी । लेकिन, यदि कथित कारणों से भारत के मुख्य न्यायमूर्ति या वे अन्य न्यायमूर्ति, जिनसे इस मामले में परामर्श किया गया है, सहमत नहीं हैं और भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सिफारिश का पुनराख्यान किया जाता है तो वह नियुक्ति की जाएगी ।

क्या कार्यपालिका को न्यायाधीश के पद के लिए प्रस्ताव करने का अधिकार प्राप्त है ?

231. इस संबंध में, हम इस महत्वपूर्ण मुद्दे पर विचार करना चाहेंगे कि क्या कार्यपालिका को भी उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के पदों के लिए अभ्यर्थी का प्रस्ताव करने का अधिकार प्राप्त है या यह कि क्या कार्यपालिका को ऐसे अधिकार का प्रयोग करने से पूर्णतः विवर्जित किया गया है ।

232. हम यह पहले ही मत व्यक्त कर चुके हैं कि परंपरा और पद्धतिस्वरूप न्यायाधीश के पद के लिए प्रस्ताव केवल भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा किया जाना चाहिए उनकी राय को इस मामले में प्राथमिकता दी ही जानी चाहिए या यह प्रस्ताव संबंधित उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा किया जाना चाहिए न कि किसी अन्य द्वारा तथा यह कि केवल प्रचलित प्रक्रिया ही स्वस्थ प्रक्रिया है । अतः सर्वोपरि हम यह स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि केन्द्रीय

सरकार या राज्य सरकार को भारत के मुख्य न्यायमूर्ति या राज्य के उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति की उपेक्षा करके न्यायाधीश के पद के लिए किसी अभ्यर्थी के नाम की प्रत्यक्ष रूप से सिफारिश करने का कोई अधिकार नहीं होगा और यह कि यदि न्यायिक नियुक्तियों के बारे में सरकार द्वारा सिफारिश करने के ऐसे किसी अधिकार को मान्यता दी जाती है और उसे स्वीकार किया जाता है तब इससे न केवल सुस्वीकृत चिर प्रचालित पद्धति का उल्लंघन होगा बल्कि न्यायपालिका की स्वतंत्रता भी समाप्त हो जाएगी।

233. इस संबंध में, इस तथ्य पर ध्यान देना उपयुक्त होगा कि जिला न्यायाधीशों के नीचे के स्तर पर न्यायपालिका में भर्ती याँ तो राज्य लोक सेवा आयोग के माध्यम से, जो एक स्वतंत्र निकाय है, या उच्च न्यायालय द्वारा आयोजित प्रवेश परीक्षा के माध्यम से किया जाता है। जिला न्यायाधीशों के स्तर पर भर्ती राज्यपाल द्वारा संविधान के अनुच्छेद 233 के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए की जाती है। राज्यपाल की नियुक्ति संबंधी शक्ति इस बाध्यता के अधीन है कि वे उच्च न्यायालय से परामर्श करके ही वह नियुक्ति करेंगे। व्यवहारतः, उच्च न्यायालय द्वारा अभ्यर्थियों का चयन साक्षात्कार द्वारा किया जाता है और अभ्यर्थियों के नामों का पेनल सरकार को भेजा जाता है जिससे कि राज्यपाल द्वारा अपेक्षित पद संख्या में अभ्यर्थियों का चयन और नियुक्ति की जाती है किंतु नियुक्ति के पश्चात् "जिला न्यायालयों और उनके अधीनस्थ न्यायालयों का नियंत्रण जिसके अंतर्गत राज्य की न्यायिक सेवा के व्यक्तियों और जिला न्यायाधीश के पद से अवर किसी पद को धारण करने वाले व्यक्तियों की तैनाती, प्रोन्नति और उनको छुट्टी देना है", उच्च न्यायालय में निहित होता है।

234. इस समस्या पर विचार करने पर, हमारा यह मत है कि प्रस्ताव करने में कोई असंवैधानिकता या अवैधता नहीं है और यह कि ऐसे प्रस्ताव से विद्यमान प्रक्रिया का उल्लंघन नहीं होगा या वह लोक नीति के विरुद्ध नहीं होगा। वास्तव में, केन्द्रीय सरकार को, जो कि जनता के प्रति उत्तरदायी है, उच्चतम न्यायालय के न्यायमूर्ति के पद के लिए विश्वसनीय चरित्र वाले उपयुक्त अभ्यर्थियों के नामों पर विचार हेतु भारत के मुख्य न्यायमूर्ति और उस राज्य के उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति को सिफारिश करने का अधिकार होना चाहिए। इसी प्रकार, राज्य सरकार को, जो समान रूप से जनता के प्रति उत्तरदायी है, अपने राज्य के मुख्य न्यायमूर्ति को विचारार्थ अभ्यर्थियों के नामों का सुझाव देने का अधिकार होना चाहिए। उपरोक्त मत निम्नलिखित कारणों पर आधारित है :—

(1) भारत के बहु-आयामी समाज के संदर्भ में, जहां भिन्न-भिन्न वर्गों के लोग हैं और उनके धर्म, मूलवंश, जाति और समुदाय भी अनेक हैं तथा संस्कृतियों की भी बहुलता है जिनको संविधान के निर्माताओं ने प्रत्येक खंड, वर्ग और समाज को "प्रतिष्ठा और अवसर की समता" सुनिश्चित कराकर, एक साथ मिलाकर ऐक्यमय कर दिया है, यह अपरिहार्य है कि सभी लोगों को सभी क्षेत्रों में समान अवसर प्रदान किया जाए और उन्हें मुख्यधारा में लाया जाए जिससे कि जनता के सभी वर्गों की प्रत्येक क्षेत्र में, जिसके अंतर्गत न्यायपालिका भी है, सहभागिता हो सके।

1993(10) eILR(PAT) SC 1

(2) सरकार की, जो जनता के प्रति उत्तरदायी है, सभी के साथ एक जैसा बर्ताव करने और सभी क्षेत्रों में उन्हें समान अवसर प्रदान कराने की, जिसके अंतर्गत वरिष्ठ न्यायपालिका भी है, अपनी सांविधानिक बाध्यता है ।

(3) वास्तविक सहभागी लोकतंत्र की स्थापना के लिए यह आवश्यक और महत्वपूर्ण है कि जनता के सभी वर्ग, चाहे वे अनुसूचित वर्ग के हों या अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति के हों, या अल्पसंख्यक हों या महिलाएं हों, उन्हें समान अवसर प्रदान किया जाना चाहिए जिससे कि न्यायिक प्रशासन में समाज के सभी वर्गों से संबद्ध प्रतिभाशाली और श्लाघ्य अभ्यर्थी भी भाग ले सकें, न कि केवल कोई चयनशील या संकीर्णबुद्धि वाला कोई समूह हो ।

(4) मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा, अभ्यर्थियों के नामों के बारे में सुझाव देने की सामान्य या स्वीकृत विधि में, उन्हें अपने ज्येष्ठ बंधु न्यायमूर्तियों से परामर्श करने के पश्चात् भी उन विधि व्यवसायियों से भिन्न, जो उनके समक्ष उपस्थित हुए हैं या जिनके नाम केवल उनके परामर्शियों द्वारा उनकी जानकारी में लाए गए हैं, सुयोग्य और उपयुक्त विधि व्यवसायियों की योग्यता और उपयुक्तता का मूल्यांकन करने का समुचित अवसर नहीं भी मिल सकता । विशेष रूप से ऐसा उन मामलों में जहां कुछ उपयुक्त और योग्य व्यक्तियों को, जो विधि की किसी अन्य शाखा में विशेषज्ञता प्राप्त कर रहे हैं और जिन्हें मुख्य न्यायमूर्ति या उनके परामर्शियों के समक्ष उपस्थित होने का कोई अवसर नहीं मिल सकता । किंतु सरकार उन अभ्यर्थियों के बारे में, अन्य स्रोतों से या अपने शक्तिशाली तंत्र के माध्यम से जानकारी अभिप्राप्त करने की स्थिति में हो सकती है ।

(5) ऐसे अति सुयोग्य और उपयुक्त अभ्यर्थी भी हो सकते हैं जो उच्च न्यायालयों से भिन्न फोरमों(मंचों)में व्यवसायरत हों । अतः राज्य के मुख्य न्यायमूर्ति के लिए या तो व्यक्तिगत रूप से या अपने परामर्शियों से उन अभ्यर्थियों के बारे में जानकारी अभिप्राप्त करना संभव नहीं हो सकता । उन मामलों में सरकार अभ्यर्थियों के बारे में जानकारी अभिप्राप्त करने और ऐसे व्यक्तियों के नाम मुख्य न्यायमूर्ति की जानकारी में लाने की स्थिति में हो सकती है । इस समय, जबकि मुख्य न्यायमूर्तियों का एक राज्य से दूसरे राज्य को स्थानांतरण किया जा रहा है, वे कम से कम कुछ अवधि के लिए उन अभ्यर्थियों के बारे में वैयक्तिक तौर पर तब तक कुछ भी जानकारी अभिप्राप्त करने की स्थिति में नहीं होते जब तक कि उन्हें अन्य स्रोतों से उस संबंध में अच्छी जानकारी दी जाए ।

(6) इस बात का खंडन नहीं किया जा सकता कि साधारणतया यह शिकायत रहती है कि न्यायाधीश के पद के लिए उन उपयुक्त अभ्यर्थियों की, जो समाज के निम्नतम स्तर पर है, किसी न किसी कारण न्यायिक पद के लिए विचार करने की बाबत अक्षम्य रूप से उपेक्षा की जाती है। अतः सरकार की, उन अन्य अभ्यर्थियों के

साथ-साथ उन उपेक्षित वर्गों के अभ्यर्थियों के नामों का, जिन्हें सरकार न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिए विचार किए जाने की बाबत योग्य और उपयुक्त समझती है, संबद्ध मुख्य न्यायमूर्ति को प्रस्ताव करने की कार्रवाई को न्यायोचित ठहराया जा सकता है ।

235. यह उल्लेख करना उपयुक्त हो सकता है कि संयुक्त राज्य अमरीका या यूनाइटेड किंगडम जैसे समृद्ध देशों में भी, व्यवहारतः वरिष्ठ न्यायपालिका में न्यायाधीशों की नियुक्तियां करने में, वस्तुतः योग्यता को गौण समझे बिना, धार्मिक, सामाजिक और मूलवंशीय प्रतिनिधित्व को भी ध्यान में रखा जाता है ।

236. मैं यह स्पष्ट रूप से घोषणा करना चाहूंगा कि मेरे उपरोक्त मत का अर्थ यह नहीं लगाया जाए कि वह किसी भी प्रकार का आरक्षण या कोटा पद्धति संबंधी अभिवाक् है किंतु यह मत समाज के सभी वर्गों से न्यायिक प्रतिभा में से उत्कृष्ट प्रतिभा को आकर्षित करने और उन्हें संबद्ध मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा विचार किए जाने वाले परिक्षेत्र में लाने के एकमात्र उद्देश्य से अभिव्यक्त किया गया है ।

237. मुझे यह मत अभिव्यक्त करने का साहस इस कारण हुआ है क्योंकि वकील के रूप में लगभग दो दशक के अनुभव और न्यायालय के भी लगभग दो दशक के अनुभव से और न्यायाधीशों के चयन की रीति और पद्धति के बारे में अब तक जो ज्ञान और अनुभव मुझे प्राप्त हुआ है उससे मुझे यह अवेक्षा करने का अवसर प्राप्त हुआ कि कतिपय अवसरों पर, अभ्यर्थियों को या तो धर्म या जाति या सांप्रदायिक आधार पर या बाहरी विचारणाओं पर न्यायाधीश के पद पर लाए जाने की प्रस्थापना की गई है । ऐसी शिकायतें हैं जिनकी आसानी से उपेक्षा नहीं की जा सकती अर्थात् यह कि कुछ सिफारिशें भाई-भतीजावाद और पक्षपात से दूषित हैं । निस्संदेह, ऐसे बहुत से उपदेश हैं कि न्यायाधीश के पद के लिए अभ्यर्थियों का चयन और प्रस्थापना बाहरी विचारणाओं, भाई-भतीजावाद और पक्षपात से स्वतंत्र होना चाहिए । तथापि यह कहा जा सकता है कि क्या वास्तव में इन उच्च उपदेशों का विवक्षित रूप से सभी द्वारा, जिनके अंतर्गत कुछ उपदेशक भी हैं, अनुसरण किया जाता है ? क्या यह कहा जा सकता है कि किसी को ऐसे उपदेशों का अनुसरण करने से छूट दी गई है या किसी को उससे उन्मुक्ति अभिप्राप्त है । खेद का विषय है कि वस्तुतः कुछ व्यक्तियों ने ऐसे उपदेशों के अनुसरण में उनका अनुपालन करने की अपेक्षा उनका अधिकाधिक भंग ही किया है । आज भी, ऐसी शिकायतें मिलती हैं कि एक ही कुटुंब या जाति, समुदाय या धर्म के व्यक्तियों को न्यायाधीशों के रूप में प्रायोजित और प्रस्थापित किया जा रहा है तथा उनकी उस रूप में नियुक्ति की जा रही है जिससे कि "न्यायिक नातेदारी का सिद्धांत" सृजित हो रहा है ।

238. इस संबंध में, सरदार वल्लभभाई पटेल द्वारा उच्च न्यायालयों में रिक्त पदों को भरने संबंधी प्रक्रिया पर जारी किए गए ज्ञापन के बारे में भारत के गवर्नर जनरल को लिखे अपने 8 दिसम्बर, 1947 के पत्र में जो मत व्यक्त किया गया था उसका उल्लेख करना उपयुक्त होगा । यह मत इस प्रकार उद्धृत किया गया—

1993(10) eILR(PAT) SC 1

"उद्देश्यों की शुचिता पर मुख्य न्यायमूर्ति का वर्चस्व नहीं है और न ही भाई-भतीजावाद और भ्रष्टाचार केवल राजनीतिज्ञों के ही दुर्गुण हैं।"

239. जैसा कि डा० बी० आर० अम्बेडकर द्वारा ठीक ही उल्लेख किया गया है "मुख्य न्यायमूर्ति भी सामान्य लोगों की तरह हमारे जैसा ही व्यक्ति है जो सभी प्रकार की दुर्बलताओं, सभी मनोभावों और पूर्वाग्रहों से युक्त होता है······।"

240. मामले के इस पहलू पर विधि आयोगों की अस्सीवीं रिपोर्ट में इस प्रकार उद्धरण किया गया है :—

"समय-समय पर यह आलोचना हुई है कि चुनाव उचित नहीं हुए हैं और बाह्य विचारों के वशीभूत होकर चुनाव किए गए हैं।"

241. ऐसा कहते हुए, इस बात पर भी दुःख प्रकट किया गया है कि यदि किसी व्यक्ति की गुणों के कारण नियुक्ति नहीं होती वरन् पक्षपात अथवा अन्य बाह्य कारणों से होती है तो वह बार (न्यायालय) का वास्तविक अथवा सहजात आदर नहीं प्राप्त कर सकता है।

242. **एस०पी० गुप्त बनाम भारत संघ**[1] वाले मामले में, न्या० भगवती ने यह कहा है कि हम सभी मनुष्य हैं हमारी अपनी इच्छाएं और अनिच्छाएं होती हैं, हमारी अपनी पूर्व दुष्कृतियां और पूर्वाग्रह होते हैं और हमारा मन इतना विशाल नहीं है कि वह एक ही समय एक प्रश्न के सभी पहलुओं को ग्रहण कर सके और इसके अतिरिक्त कभी-कभी वह सूचना, जिस पर हमारे निर्णय का आधार होता है, गलत और अपर्याप्त हो सकती है और कभी-कभी हमारा निर्णय भी अप्रत्यक्ष रूप से बाह्य या असंगत विचारणाओं से प्रभावित हो सकता है·········। किसी महत्वपूर्ण या संवेदनशील क्षेत्र में किसी एक व्यक्ति को शक्ति सौंपना बुद्धिमतापूर्ण नहीं है चाहे उसका पद, जिसे वह धारण कर रहा है, कितना ही ऊंचा या महत्वपूर्ण ही क्यों न हो।"

243. मैं यह अभिव्यक्त करने का साहस कर रहा हूं कि वरिष्ठ न्यायिक पद पर प्रवेश का अधिकार जनता के किसी विशेष गुट या विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग या समूह का कोई अनन्य परमाधिकार नहीं है। दूसरे शब्दों में यह न तो विरासत में देने योग्य है और न ही यह संरक्षण देने संबंधी मामला है।

244. जनता के विभिन्न वर्गों के अपर्याप्त प्रतिनिधित्व के बारे में मेरा उपरोक्त मत न तो भ्रामक है और न ही काल्पनिक है बल्कि यह वास्तविक और यथार्थ रूप में विद्यमान तथ्यों पर आधारित है और इसकी पुष्टि पूर्णतः विधि, न्याय और कंपनी कार्य मंत्री द्वारा उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों में अन्य पिछड़े वर्गों, अनुसूचित जनजातियों, अनुसूचित जातियों के और महिला न्यायाधीशों के संबंध में दिए गए विवरण से भी होती है।

---

[1] [1982] 4 उम० नि० प० 1=[1982] 2 एस० सी० आर० 365.

उच्च न्यायालयों और उच्चतम न्यायालय में न्यायाधीशों के स्वीकृत पदों की संख्या के संबंध में लोक सभा अतारांकित प्रश्न सं० 4742, जिसका उत्तर 31.3.93 को दिया जाना है, के भाग (क), (ख), (ग) और (घ) के उत्तर में विवरण।

1.1.1993 को यथाविद्यमान

क्र०सं०	उच्च न्यायालय	स्वीकृत पद (स्थायी/अपर)	पदासीन न्यायाधीशों की संख्या	रिक्त पदों की संख्या	नियुक्ति का स्रोत		निम्नलिखित से संबंधित न्यायाधीश		
					बार	सेवा	अनुसूचित जाति	अनुसूचित जनजाति	अन्य पिछड़े वर्ग
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
1.	इलाहाबाद	70	66	4	44	22	3	—	2
2.	आंध्र प्रदेश	26	24	2	15	9	—	1	3
3.	मुंबई	54	47	7	32	15	4	—	4
4.	कलकत्ता	46	37	9	23	14	—	—	—
5.	दिल्ली	30	25	5	17	8	—	—	—
6.	गुवाहाटी	16	11	5	7	4	—	3	—
7.	गुजरात	30	27	3	17	10	1	—	—
8.	हिमाचल प्रदेश	8	5	3	4	1	—	—	—

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
9.	जम्मू-कश्मीर	10	9	1	5	4	—	—	—
10.	कर्नाटक	30	21	9	12	9	1	2	14
11.	केरल	24	23	1	15	8	1	—	8
12.	मध्य प्रदेश	30	26	4	17	9	—	—	—
13.	मद्रास	28	25	3	18	7	2	—	11
14.	उड़ीसा	14	13	1	9	4	—	—	—
15.	पटना	35	32	3	22	10	—	—	—
16.	पंजाब और हरियाणा	33	29	4	18	11	—	—	—
17.	राजस्थान	25	22	3	14	8	—	1	—
18.	सिक्किम	3	1	2	—	1	—	—	—
	योग	512	443	69	289	154	12	7	42
II.	उच्चतम न्यायालय	26	23	3	—	—	1	उपलब्ध नहीं	उपलब्ध नहीं

1993(10) eILR(PAT) SC 1

लोक सभा अतारांकित प्रश्न सं० 1410, जिसका उत्तर 4 अगस्त, 1993 को दिया जाना है, के भाग (क) और (ख) के उत्तर में

विवरण

20-5-1993 तक

क्र०सं०	उच्च न्यायालय	न्यायाधीशों की संख्या		महिला न्यायाधीशों की संख्या
		अनु०जा०	अनु०ज०जा०	
1.	इलाहाबाद	3	—	1
2.	आंध्र प्रदेश	—	1	1
3.	मुम्बई	4	—	1
4.	कलकत्ता	—	—	2
5.	दिल्ली	—	—	2
6.	गुवाहाटी	—	3	1
7.	गुजरात	1	—	—
8.	हिमाचल प्रदेश	—	—	1
9.	जम्मू-कश्मीर	—	—	—
10.	कर्नाटक	2	2	—
11.	केरल	1	—	1
12.	मध्य प्रदेश	—	—	—
13.	मद्रास	2	—	1
14.	उड़ीसा	—	—	1
15.	पटना	(कार्यालय अभिलेख नहीं रखता है)		1
16.	पंजाब और हरियाणा	—	—	1
17.	राजस्थान	—	1	1
18.	सिक्किम	—	—	—
	योग	13	7	15

245. उपरोक्त विवरण के आधार पर, 1.1.1993 तक देश के 18 उच्च न्यायालयों में से 12 उच्च न्यायालय ऐसे हैं जिनमें एक भी न्यायाधीश अनुसूचित जाति का

नहीं है और 14 उच्च न्यायालय ऐसे हैं जिनमें एक भी न्यायाधीश अनुसूचित जनजाति का नहीं है। पिछड़े वर्गों का प्रतिनिधित्व भी कुछ बेहतर नहीं है और केवल 6 उच्च न्यायालय ऐसे हैं जिनमें कि अन्य पिछड़े वर्गों के न्यायाधीश हैं और 12 उच्च न्यायालय ऐसे हैं जिनमें अन्य पिछड़े वर्गों का कोई न्यायाधीश नहीं है।

246. दूसरे विवरण के अनुसार, 20.5.1993 तक संपूर्ण भारत में के 18 उच्च न्यायालयों में न्यायाधीशों के स्वीकृत कुल पदों में से 13 न्यायाधीश अनुसूचित जातियों से संबद्ध हैं; 7 न्यायाधीश अनुसूचित जनजातियों से संबद्ध हैं और केवल 15 महिला न्यायाधीश हैं। ग्यारह उच्च न्यायालय ऐसे हैं जिनमें अनुसूचित जातियों से संबद्ध न्यायाधीशों का कोई प्रतिनिधित्व नहीं है, 13 उच्च न्यायालय ऐसे हैं जिनमें अनुसूचित जनजातियों से संबद्ध न्यायाधीशों का कोई प्रतिनिधित्व नहीं है और 5 उच्च न्यायालय ऐसे हैं जिनमें महिला न्यायाधीशों का कोई प्रतिनिधित्व नहीं है।

247. यद्यपि विवरण में (1.1 1993 को यथाविद्यमान) यथादर्शित अन्य पिछड़े वर्गों से संबद्ध न्यायाधीशों की पद संख्या से इस समय सही स्थिति परिलक्षित हो सकती है, और नहीं भी हो सकती, हम निरापद रूप से यह धारित कर सकते हैं कि ऐसे न्यायाधीशों की प्रतिशतता कुल स्वीकृत पद संख्या के 10% से अधिक नहीं होगी। इस प्रकार, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों से संबद्ध न्यायाधीशों की प्रतिशतता एक साथ मिलाकर तारीख 20.5.1993 को यथाविद्यमान विवरण के अनुसार एक साथ मिलाकर 4% से अधिक नहीं बैठती। जहां तक महिला न्यायाधीशों का संबंध है, तारीख 20.5.1993 तक उनकी पद संख्या 3% से अधिक नहीं बैठती।

248. लेकिन, ऊपरवर्णित स्थिति कुछ व्यक्तियों के लिए अरुचिकर हो सकती है फिर भी वह वास्तविकता पर आधारित है। हमारा लोकतांत्रिक राजतंत्र न केवल अपने को बनाए रखने वाले कुलीनतंत्र के लिए है बल्कि हमारे देश के सभी लोगों के लिए है।

249. यदि जनता के असहाय वर्ग की पूर्णतः उपेक्षा की जाती है तो हम यह दावा नहीं कर सकते कि हमने वास्तविक सहभागी लोकतंत्र को प्राप्त कर लिया है। अतः सरकार की जनता के भिन्न-भिन्न वर्गों से संबद्ध अभ्यर्थियों की सूची संबंधित मुख्य न्यायमूर्ति को अग्रेषित करने की कार्रवाई पूर्णतः न्यायोचित है। संबद्ध मुख्य न्यायमूर्ति को अंतिमतः सूची की संवीक्षा करनी होगी और अभ्यर्थियों की योग्यता के आधार पर अपना विनिश्चय इस प्रकार करना होगा कि ऐसी किसी आलोचना की गुंजाइश न रहे कि वह चयन बेतुका, विलक्षण या मनमाना अथवा किसी पूर्वाग्रह या पक्षपात से प्रेरित है। उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति को इस संबंध में कोई विनिश्चय करने के पूर्व सरकार से और अधिक ब्यौरे प्राप्त करने की स्वतंत्रता होगी। जब एक बार किसी राज्य के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा विनिश्चय कर लिया जाता है और वह सूची भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को अग्रेषित कर दी जाती है तब भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा, उनके समक्ष प्रस्तुत तथ्यों के आधार पर, बनाई गई राय को प्राथमिकता दी जानी होगी।

250. मैं यह अनुभव करता हूं कि इस पहलू पर सिवाय यह कहने के, कि मेरे अंतःकरण की आवाज ही मेरे लिए पर्याप्त निर्णय होगा, और अधिक विचार करना आवश्यक नहीं है।

न्यायाधीश पद-संख्या का नियतन

251. अनुच्छेद 124 उच्चतम न्यायालय की स्थापना और गठन के संबंध में है। उस अनुच्छेद का उपखंड (1) इस प्रकार है :—

> "भारत का एक उच्चतम न्यायालय होगा जो भारत के मुख्य न्यायमूर्ति और, जब तक संसद् विधि द्वारा अधिक संख्या विहित नहीं करती है तब तक, सात से अनधिक अन्य न्यायाधीशों से मिलकर बनेगा।"

252. उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या आरम्भ में संविधान में जो नियत की गई थी वह यह थी कि उसमें भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के अतिरिक्त सात से अनधिक न्यायाधीश होंगे। यह संख्या उच्चतम न्यायालय (न्यायाधीश संख्या) संशोधन अधिनियम, 1960 द्वारा बढ़ाकर "तेरह" कर दी गई और उच्चतम न्यायालय (न्यायाधीश संख्या) संशोधन अधिनियम, 1977 द्वारा पुनः बढ़ाकर "सत्रह" कर दी गई और तत्पश्चात् 1986 के अधिनियम संख्यांक 22 द्वारा एक बार पुनः बढ़ाकर "पच्चीस" कर दी गई थी। सावधिक पुनरीक्षण के परिणामस्वरूप इस समय अवर न्यायाधीशों की संख्या पच्चीस है।

253. अनुच्छेद 216 "उच्च न्यायालयों के गठन" के बारे में है। अनुच्छेद 216 इस प्रकार है—

> "प्रत्येक उच्च न्यायालय मुख्य न्यायमूर्ति और ऐसे अन्य न्यायाधीशों से मिलकर बनेगा जिन्हें राष्ट्रपति समय-समय पर नियुक्त करना आवश्यकता समझे।"

254. तारीख 1.11.1956 से पूर्व इस अनुच्छेद में एक परंतुक भी दिया गया था जो इस प्रकार था "परंतु यह कि इस प्रकार नियुक्त न्यायाधीशों की संख्या किसी भी समय उस अधिकतम संख्या से अधिक नहीं होगी जो राष्ट्रपति समय-समय पर आदेश द्वारा उस न्यायालय के संबंध में नियत करे। इस परंतुक का संविधान (सातवां संशोधन) अधिनियम, 1956 द्वारा लोप कर दिया गया था। उच्च न्यायालय का गठन करने की विधायी शक्ति संसद् की है और यह शक्ति सातवीं अनुसूची की सूची 1 की प्रविष्टि 78 के अंतर्गत आती है। प्रत्येक उच्च न्यायालय में न्यायाधीश संख्या का नियतन निस्संदेह एक कार्यपालक कृत्य है जो संविधान के अनुच्छेद 216 द्वारा राष्ट्रपति अर्थात् भारत सरकार के प्रति आज्ञापक बाध्यता के रूप में न्यस्त किया गया है। अब तक, विद्यमान प्रक्रिया यह है कि भारत सरकार को अपने निर्णय के अनुसार इस बारे में विभिन्न तथ्यों पर विचार करने पर यह विनिश्चय करना होगा कि प्रत्येक उच्च न्यायालय में न्यायाधीशों की संख्या कितनी होगी और यह कि किसी विशेष उच्च न्यायालय में कितने स्थायी न्यायाधीश या कितने अपर न्यायाधीश होंगे। किन्तु उस बाबत भारत संघ के विवेकाधिकार पर नियंत्रण लगाने या उसका मार्गदर्शन करने के लिए न्यायिक रूप से नियंत्रणीय कोई स्तर नहीं है। अतः प्रश्न यह है कि (1) क्या ऐसे कोई स्तरमान या मानदंड हैं जिनके आधार पर भारत सरकार न्यायाधीश संख्या नियत कर सकती है; (2) क्या भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय को, जिसमें राष्ट्रपति से उच्च न्यायालय में न्यायाधीश संख्या का पुनर्विलोकन करने का अनुरोध किया गया हो, अधिक अधिमान दिया जाना चाहिए; और (3) क्या न्यायाधीश संख्या के नियतन का यह प्रश्न न्यायालय के विचार योग्य है। न्यायाधीश-संख्या लंबित मामलों के आधार पर या प्रति

वर्ष प्रति न्यायाधीश द्वारा निपटाए गए मामलों की औसत दर के आधार पर नियत करने का कोई गणितीय फार्मूला नहीं हो सकता। लेकिन, मामलों की पिछली बकाया और आशयित भावी परिमाण को ध्यान में रखते हुए मामलों के निपटारे के लिए अभीष्ट आवश्यकताओं के प्रति निर्देश करके उच्चतम न्यायालय और प्रत्येक उच्च न्यायालय की न्यायाधीश संख्या का सावधिक पुनर्विलोकन किया जाना चाहिए।

255. भारत के क्रमवर्ती विधि आयोगों ने उच्च न्यायालयों की न्यायाधीश-संख्या के बारे में प्राय: अपनी गंभीर चिंता अभिव्यक्त की है और ऐसे न्यायाधीशों की संख्या बढ़ाने के लिए सिफारिशें की हैं किन्तु विधि आयोगों की सिफारिशों के क्रियान्वयन की गति मंद है और प्राय: उसकी उपेक्षा की गई है।

256. यह उल्लेख करना सुसंगत होगा कि न्यायमूर्ति डी० ए० देसाई की अध्यक्षता में विधि आयोग ने अपनी 120वीं रिपोर्ट में "न्याय प्रशासन में लज्जाजनक विलंब" से संबंधित समस्या की समीक्षा की थी और तारीख 31.7.1987 की अपनी प्रथम अंतरिम रिपोर्ट में यह कहा कि यद्यपि पूर्ववर्ती विधि आयोगों ने भी इस समस्या की समीक्षा की थी तथापि उन आयोगों ने "भारत में न्याय प्रशासन की सर्वांगीण पुनर्संरचना के लिए आवश्यक प्रेरणा और प्रोत्साहन प्रदान नहीं किया" और इस समस्या का यह कहते हुए अपना मुख्य समाधान किया कि यह "अपरिहार्य रूप से यह एक साथ राजनैतिक और तकनीकी दोनों ही प्रकार की है"—"राजनैतिक" इस अर्थ में कि राजनैतिक दलों के समग्र अभाव, स्वतंत्र प्रेस, सामाजिक कार्यकर्ता और वकीलों की ओर से इस समस्या की कुल मिलाकर उपेक्षा की गई है और इनमें से किसी ने भी "भारतीय न्यायपालिका में पर्याप्त जनशक्ति आयोजन के लिए कोई प्रभावकारी अभियान नहीं चलाया है" और "तकनीकी" इस अर्थ में कि जनशक्ति आयोजन के विकासशील विज्ञान की ओर भारत में न्याय प्रशासन के क्षेत्र में नीति निर्धारकों का ध्यान आकर्षित नहीं हुआ है। आयोग ने, "दृष्टांत-स्वरूप के कुछ प्रश्नों" का, जो उसके समक्ष विचारार्थ रखे गए थे, उत्तर देने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला कि भारतीय न्यायपालिका के लिए व्यवहार्य और बृहत् जनशक्ति आयोजन में सहयोग करने की दृष्टि से इस रिपोर्ट से संसदीय, लोक और विशेषज्ञों के बीच बहस छिड़ जाएगी।

257. हमारी न्याय पद्धति का ढांचा पिरामिडीय है जिसमें कि सबसे नीचे विचारण न्यायालय हैं और सबसे ऊपर उच्चतम न्यायालय है। यद्यपि, सामान्यतया उच्च न्यायालयों की अपीली और पुनरीक्षण अधिकारिता और अंतिमत: विशेष इजाजत दिए जाने पर या प्रमाणपत्र दिए जाने पर उच्चतम न्यायालय को अपीलों के संबंध में संसद् ने संविधान (बयालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1976 की धारा 46 द्वारा तारीख 3.1.1977 से संविधान के भाग 14क में अनुच्छेद 323क और अनुच्छेद 323ख अंत:स्थापित किए हैं, जिनके द्वारा अनुच्छेद 136 के अधीन उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता के सिवाय सभी न्यायालयों की अधिकारिता का अनुच्छेद 323क के खंड (1) में निर्दिष्ट विवादों या परिवादों के संबंध में और उन सभी या किन्हीं विषयों के संबंध में अपवर्जन किया गया है जो अनुच्छेद 323ख के अधीन प्रगणित अन्य विषयों के लिए उक्त अधिकरणों की अधिकारिता के अंतर्गत आते हैं। अन्य सभी विषयों के संबंध में, जो विशेष या अभिहित न्यायालयों के

निर्णयों/आदेशों से उद्भूत होते हैं, अपीलें सीधे उच्चतम न्यायालय के समक्ष फाइल की जाती हैं।

258. इसके अतिरिक्त, यह भी उल्लेखनीय है कि विधियां पहले की अपेक्षा अतिशीघ्रता से बढ़ती जा रही हैं। प्रत्येक वर्ष सभी स्तरों पर विधायी निकाय सैंकड़ों नई विधियां पारित करते हैं, जिनसे कि प्रत्येक विधि के संबंध में नए नियम और कई बार नए विनियम बनाने पड़ते हैं। नए विधानों में, जो कि संभवत: मिश्रित सोसाइटी में अपरिहार्य हैं, बढ़ोतरी के परिणामस्वरूप तत्संबंधी बृहत् जटिलताएं और अस्थिर मुद्दे उत्पन्न हो गए हैं जिनको हाथ में लेना कार्यपालिका के लिए कठिन पड़ता है। हाल ही के दशक में, सामान्यतया लोग, राजनीतिज्ञ और कार्यपालिका—जब कभी अपने को कठिन स्थिति में पाते हैं—अपनी समस्याओं को सुलझाने के लिए न्यायपालिका की ओर अधिकाधिक रुख करते हैं। इस अर्थ में, न्यायालयों को अब कई जटिल और गम्भीर समस्याओं के, जिसके अन्तर्गत राजनीति का पुट लिए हुए मुद्दे भी हैं, "तड़ित्‌रोधक" (समाधानकर्ता) के रूप में देखा जाने लगा है। परिणामत:, सरकारी क्रियाकलापों के क्षेत्र के साधारणतया विस्तृत और जटिल मुद्दों से युक्त नई प्रकार की मुकदमेबाजी में, जिनमें से कुछ तो विधिक प्रकृति की अपेक्षा राजनैतिक प्रकृति की होती है, वृद्धि के तत्समान न्यायिक उत्तरदायित्व का भी विस्तार हो गया है। परिणामस्वरूप, उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों दोनों में, अधिक कार्यभार है और मामलों की संख्या तीव्र रूप से बढ़ रही है।

259. इस तथ्य के होते हुए भी कि मुकदमेबाजी की संख्या को, मामला मंजूर करने के प्रक्रम पर ही "छंटाई प्रक्रिया" या "अवलोकन अथवा संवीक्षा प्रक्रिया" द्वारा और "न्यायिक बाह्यकरण" (dejudicialization) अर्थात् विवादों को न्यायालयों से बाहर रखने की नीति द्वारा—जिससे कि कुछ विवादों को माध्यस्थम् से और बीच-बचाव करके निपटा कर जैसे कि दुर्घटना संबंधी दावों के मामले और विवाह-विच्छेद संबंधी मामले आदि लोक अदालतों द्वारा, जिसमें विधिक सहायता समिति सक्रिय भाग लेती है, निपटाकर यथा संभव सीमा तक सीमित रखा जाता है। फिर भी न्यायालयों के समक्ष लंबित मामलों की संख्या बढ़ती जा रही है और निर्णयों को रजिस्टर में अंकित करने की स्थिति विस्फोटक हो गई है।

260. अत: प्रश्न यह है कि इस चुनौती का सामना किस प्रकार किया जाए और ऐसा कौन-सा समुचित प्राधिकारी है जो न्यायाधीश-संख्या का पुनरीक्षण करके न्यायालयों की सदस्य-संख्या का पुनर्विलोकन करने की बाबत राष्ट्रपति (संघ सरकार) को सलाह दे सके जिससे कि इस विकट स्थिति से प्रभावी रूप से निपटा जा सके। हमारा यह कई बार का दु:खद अनुभव है कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा न्यायाधीश संख्या बढ़ाने संबंधी भेजे गए प्रस्तावों को कार्यपालिका द्वारा प्राय: यह कहते हुए किसी-न-किसी आधार पर नामंजूर कर दिया जाता है कि न्याय-प्रशासन पर का व्यय गैर-योजना व्यय है या यह कि वित्तीय नियंत्रण चल रहा है या यह कि पर्याप्त अवसंरचना उपलब्ध नहीं है या यह अनुरोध किया जाता है कि आगामी चरण के कार्यक्रम तक प्रतीक्षा की जाए। सतत रूप से, एक अनुभाग अधिकारी या अधीक्षक या अपने डेस्क (कार्य) से संबद्ध अपर सचिव या सचिवालय में का संबद्ध सचिव, जिसे न्यायिक प्रशासन के पहलुओं की कोई जानकारी नहीं है, वह न्यायाधीशों की संख्या की अपेक्षा का विनिश्चय करता है। "वित्तीय विवक्षा" को, जो कि प्राय: भारत के मुख्य न्याय-

मूर्ति या उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायमूर्तियों के प्रस्ताव को नामंजूर करने का कारण होती है, जिस रूप में विद्वान् महान्यायवादी द्वारा अपनी लिखित दलील में प्रस्तुत किया गया है उसे न्यायोचित कारण के रूप में नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार, "ह्रासकारी प्रतिफल का सिद्धांत" (Law of Diminishing Reforms) मामलों के निपटारे में लागू नहीं हो सकता। यह खेद जनक है कि कई बार न्यायालयों का गठन किया जाता है किन्तु उनका गठन बिना किन्हीं पीठासीन अधिकारियों के किया जाता है। उच्च न्यायालय पेचीदा पिछले बकाया मामलों से तंग है और सभी भविष्यवाणियां कार्य भार के बढ़ने का पूर्वानुमान कर रही हैं। हमारी सुविचारित राय में, जब तक न्यायाधीशों की संख्या नहीं बढ़ाई जाती, जिनसे कि केवल दीर्घकालीन सहायता उपलब्ध हो सकेगी, तब तक वरिष्ठ न्यायालय अपने राष्ट्रीय कर्तव्य पूरे नहीं कर सकते।

261. मुकदमेबाजी संबंधी विस्फोटक स्थिति हमारे सम्मुख है और यदि इस स्थिति से आधारभूत अध्युपायों को अपनाकर निपटा नहीं जाता तो स्थिति हाथ से निकल जाने की संभावना है। उच्च न्यायालयों और उच्चतम न्यायालय के न्यायिक प्रशासन से संबंधित अप्रबंधीय और पेचीदा समस्याओं को सुलझाने के पूर्व प्रयासों की अत्यधिक असफलता को देखने के पश्चात् भी, ऐसे किसी व्यक्ति से समाज की समसामयिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए न्यायिक वितरण पद्धति को अत्यधिक प्रभावी और लचीला बनाने की दृष्टि से उसका उत्साहवर्धक समाधान पाने की अत्यधिक आशा में कार्यपालिका की ओर से मूक दर्शक या चिरकालिक आशावादी बने रहने की वह आशा नहीं की जा सकती जो आशा, जैसा अनुभव से प्रकट होता है कि कभी पूरी नहीं हो पाई है। उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों में कार्य का अत्यधिक पावती प्रवाह है और उसका निर्गमन (निपटारा) उसके अननुपात में है जिसके परिणामस्वरूप अत्यधिक मामले बकाया हैं। इसका निदान ढूंढा गया और स्थिति को सुधारने संबंधी उपचारात्मक अध्युपायों पर, वरिष्ठ न्यायालयों की न्यायाधीश संख्या के अनुभवजन्य विश्लेषण के आधार पर सावधिक ऊर्ध्वमुखी पुनरीक्षणों के संबंध में विभिन्न आयोगों द्वारा की गई सिफारिशों और मामलों के शीघ्र निपटारे के लिए तथा बढ़ते बकाया मामलों को कम करने के लिए विभिन्न रिपोर्टों में दिए गए बहुविध उपायों और निदेशों का अभी भी अनमने मन से (सांस रोककर) अवलोकन किया जा रहा है। मामलों के निपटारे में विलम्ब और बकाया मामलों में वृद्धि होने का एक मुख्य कारण है न्यायाधीश संख्या के सावधिक ऊर्ध्वमुखी पुनरीक्षण के प्रति निष्क्रियता का होना। कार्यभार की अनुवृद्धि के प्रति वास्तविक दृष्टिकोण अपनाते हुए इस न्यायालय ने अनेक पूर्व अवसरों पर अपनी गहरी चिंता व्यक्त की है और उपचारात्मक उपायों की मांग की है।

262. इस न्यायालय ने **कानूभाई ब्रह्मभट्ट बनाम गुजरात राज्य**[1] वाले मामले में मामलों के दीर्घकाल तक लंबित रहने के प्रति अपना खेद व्यक्त किया है। उस मामले में जो कहा गया है, वह इस प्रकार है :—

> "स्थिति यह है कि दस वर्ष से भी अधिक पुरानी सिविल अपीलों और दांडिक अपीलों पर अभी तक कोई ध्यान नहीं दिया जा सका है। परन्तु इस पहलू की

[1] [1987] 3 उम० नि० प० 209=[1987] 2 एस० सी० आर० 314.

गम्भीरता को पर्याप्त रूप से नहीं समझा गया तो लाखों कक्षीकार बेहद दुख और अथाह कष्ट के शिकार हो जाएंगे और वह कोई काल्पनिक भय नहीं है।"

263. तत्पश्चात् इस न्यायालय ने **पी० एन० कुमार और एक अन्य** बनाम **दिल्ली नगर निगम**[1] वाले मामले में निम्नलिखित मत अभिव्यक्त किया :—

> "इस न्यायालय के पास आज उन मामलों का निपटारा करने के लिए भी समय नहीं है जो इसी के द्वारा निपटाए जाने हैं, अन्य किसी प्राधिकरण द्वारा नहीं। 10-15 वर्षों से असंख्य मामले लम्बित हैं। यदि आज के बाद न्यायालय में कोई भी नया मामला फाइल न किया जाए तो भी समस्त लम्बित मामलों का निपटारा करने में वर्तमान न्यायाधीशों को 15 वर्ष से भी अधिक लग जाएंगे।"

264. निस्संदेह, उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के पास अत्यधिक कार्यभार है। कई मास से, कई बार तो लगातार कई वर्षों से रिक्त पड़े पदों को न भरे जाने के कारण भारी असह्य और असहनीय कार्यभार उन न्यायाधिशों पर आ पड़ता है जो पदासीन हैं। वस्तुतः मुख्य न्यायमूर्ति भगवती 26 नवम्बर, 1986 को हुए विधि दिवस के अपने भाषण में यह कहने के लिए उत्तेजित हो गए थे कि रिक्त पदों को भरे जाने में सरकार की असफलता ही विद्यमान न्यायाधीशों के प्रति क्रूरता का कार्य सिद्ध हुई है जिसके कारण उन्हें यह असह्य भार सहना पड़ रहा है।

265. इस न्यायालय ने **सुभाष शर्मा और अन्य** बनाम **भारत संघ**[2] वाले मामले में मामले के इस पहलू का स्पष्ट अनुभव करते हुए निम्नलिखित शब्दों में अपना मत अभिव्यक्त किया :—

> "अतः इसके सही कार्यकरण के लिए यह आवश्यक है कि एक दक्ष न्यायिक पद्धति हो और अपेक्षित दक्षता का उपबंध करने का एक कारक यह है कि पर्याप्त (न्यायाधीश) संख्या सुनिश्चित की जाए।"

266. एक कक्षीकार (मुकदमेबाज) विलंब के कारणों का विश्लेषण नहीं करना चाहता बल्कि अपने मतानुसार यह सोचता है कि न्यायालयों ने विलम्ब कारित किया है जिसके परिणामस्वरूप जनता के विभिन्न वर्गों द्वारा न केवल आज की न्याय प्रणाली की बल्कि उन कार्मिकों की भी जो उनकी नियुक्ति करते हैं, अत्यधिक आलोचना और कई बार तो तीखी आलोचना की जाती है। न्यायालय प्रणाली की पुनर्संरचना न्याय किए जाने की प्रणाली के सुधार का एक उत्साहजनक भाग है। ऐसी कोई भी संरचना जो आंतरिक रूप से सुदृढ़ हो और बाह्य रूप से चिरस्थायी हो उसके लिए उसकी संरचना आधारभूत होनी चाहिए। अतः, बकाया मामलों को हाथ में लेने और साथ ही मामलों के शीघ्र निपटारे की, जैसा कि अनुच्छेद 21 के अधीन अपेक्षित है, यह समस्या भारत के मुख्य न्यायमूर्ति और साथ ही उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायमूर्ति के विचार का विषय है। अतः वरिष्ठ न्यायालयों

---

[1] [1988] 1 उम० नि० प० 560=(1987) 4 एस० सी० सी० 609 पृ० 618.

[2] [1990] 2 उम० नि० प० 693=जे० टी० 1990 (4) एस० सी० 245=[1990] सप्ली० 2 एस० सी० आर० 433.

की, विशिष्टतया उच्च न्यायालयों की, न्यायाधीश संख्या का सावधिक पुनर्विलोकन करने में राष्ट्रपति को भारत के मुख्य न्यायमूर्ति और उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायमूर्तियों की राय को अधिक अधिमान देना चाहिए और यह कार्रवाई सम्यक् शीघ्रता से की जानी चाहिए।

267. उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा अपने से सम्बद्ध न्यायालय की न्यायाधीश संख्या बढ़ाने के लिए किया गया कोई भी प्रस्ताव भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के माध्यम से भेजा जाना चाहिए जो ऐसी सिफारिश पर या तो अपनी अनुमति देकर या समुचित और ठोस कारणों के आधार पर उस सिफारिश में उपांतरण करके या अन्यथा अपनी राय अभिव्यक्त करेंगे और उस प्रस्ताव को राष्ट्रपति के पास भेजेंगे। जब एक बार भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा प्रस्ताव पर अपनी सहमति प्रकट कर दी जाती है तब सरकार को वह प्रस्ताव उसमें कोई अड़चन डाले बिना या उसे अननुमोदित किए बिना स्वीकार कर लेना चाहिए। जैसा कि हमने निर्णय के प्रारंभिक टिप्पण में प्रतीकात्मक रूप से यह कहा है कि किसी प्रख्यात न्यायिक संरचनात्मक सुधारों के और साथ ही संविधान द्वारा लाए गए सुधारों के संबंध में प्रस्ताव करने का और न्यायालयों के गठन का प्राथमिक अधिकार केवल और केवल एकमात्र न्यायपालिका में निहित होना चाहिए क्योंकि वे सुधार-कार्य केवल न्यायपालिका से ही संबंधित हैं इस संदर्भ में, हम विधि आयोग की चौदहवीं रिपोर्ट में निकाले गए निष्कर्ष सं० 5 और 30 को संक्षेप में दोहराना चाहेंगे। [देखिए पृष्ठ 105 पर पैरा 82 (अंग्रेजी)]।

"(5) राज्य के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा उच्च न्यायालय की न्यायाधीश संख्या बढ़ाने के संबंध में किया गया कोई भी प्रस्ताव, यदि उस प्रस्ताव पर भारत के मुख्य न्यायमूर्ति ने अपनी सहमति व्यक्त कर दी है तो वह प्रस्ताव बिना किसी आपत्ति या विलंब के स्वीकार किया जाना चाहिए।

(30) यथानियत न्यायाधीश संख्या का दो से तीन वर्षों के अंतरालों पर पुनर्विलोकन किया जाना चाहिए।"

268. उपरोक्त तथ्यात्मक स्थिति की पृष्ठभूमि में, हम इस प्रश्न की समीक्षा करते हैं कि क्या न्यायाधीश संख्या नियत करने से संबंधित विवाद्य न्यायोचित है या नहीं। **एस० पी० गुप्त बनाम भारत संघ**[1] वाले मामले में न्या० भगवती ने इस प्रश्न की समीक्षा की थी और यह निर्णय दिया था:—

"किसी उच्च न्यायालय विशेष में नियुक्त किए जाने के लिए आवश्यक न्यायाधीशों की संख्या क्या होगी यह बात निश्चित रूप से एक ऐसा विषय है जो कि भारत सरकार के विवेक के अंतर्गत है और यदि भारत सरकार पर्याप्त संख्या में न्यायाधीशों की नियुक्ति नहीं करती तो अपील विधान-मंडल को की जानी चाहिए न कि न्यायालय को। न्यायालय तो केवल यह कह सकता है कि वह ऐसी आशा व्यक्त करे कि भारत सरकार समय-समय पर प्रत्येक उच्च न्यायालय में न्यायमूर्तियों की संख्या का पुनरीक्षण करे और इतने न्यायाधीशों की नियुक्ति करे जितने कि वह

---

[1] [1982] 4 उम० नि० प० 1=[1982] 2 एस० सी० आर० 365.

लम्बित मामलों के बढ़ते आकार को निपटाने के प्रयोजन के लिए आवश्यक समझती है।"

269. किन्तु न्या० वेंकटरामय्या (जैसे कि वे उस समय थे) ने अपना विसम्मत मत प्रकट किया और यह निष्कर्ष निकाला कि :—

"ऊपर दिए गए कारणों से मेरा यह मत है कि केन्द्रीय सरकार को, जिस पर प्रत्येक उच्च न्यायालय में पर्याप्त संख्या में न्यायाधीश नियुक्त करने का उत्तरदायित्व है, प्रत्येक उच्च न्यायालय में स्थायी न्यायाधीशों की संख्या का पुनर्विलोकन करने, उतने स्थायी न्यायाधीशों की संख्या नियत करने के लिए, जो कार्यभार के आधार पर उस उच्च न्यायालय में नियुक्त किए जाने चाहिएं, और स्थायी न्यायाधीश नियुक्त करके रिक्तियां भरने के लिए निदेश दिया जाना चाहिए। ये नियुक्तियां करते समय केन्द्रीय सरकार को प्रथमतः उन रिक्तियों में स्थायी न्यायाधीशों के रूप में नियुक्त करने के लिए ऐसे अपर न्यायाधीशों के मामलों पर विचार करना चाहिए जो अभी पद पर हैं। उपर्युक्त शब्दों में एक रिट केन्द्रीय सरकार को जारी किया जाना चाहिए।"

270. अतः विद्वान् न्यायमूर्ति ने यह निर्णय दिया कि सरकार को, प्रत्येक उच्च न्यायालय में कार्यभार के आधार पर नियुक्त किए जाने वाले स्थायी न्यायाधीशों की संख्या का पुनर्विलोकन करने के लिए परमादेश (मैंडेमस) जारी किया जा सकता है।

271. न्या० तुलजापुरकर ने यह अभिनिर्धारित करते हुए अपना मत व्यक्त किया कि :—

"दो सुसंगत अनुच्छेदों अर्थात् अनुच्छेद 216 और 224(1) पर विचार करने पर मुझे यह बात बिलकुल स्पष्ट प्रतीत होती है कि अनुच्छेद 216 राष्ट्रपति (नियुक्ति करने वाले प्राधिकारी) पर निश्चित रूप से यह आज्ञापक बाध्यता डालता है कि वह प्रत्येक उच्च न्यायालय में स्थायी न्यायाधीशों की पर्याप्त संख्या की व्यवस्था करे जिससे कि उसके प्रसामान्य काम को पूरा किया जा सके तथा उसका निपटारा किया जा सके और इसके अलावा इसलिए भी जिससे कि वह ऐसी स्थायी सदस्य संख्या का समय-समय पर विलोकन कर सके। इस अनुच्छेद में आया हुआ "बनेगा" शब्द और इसके अलावा "ऐसे अन्य न्यायाधीशों से मिलकर बनेगा जिन्हें राष्ट्रपति समय-समय पर नियुक्त करना आवश्यक समझे" शब्द उस दिशा की ओर स्पष्ट रूप से संकेत करते हैं।"

272. विद्वान् महान्यायवादी (अटर्नी जनरल) ने अपनी लिखित दलीलों में यह निवेदन किया है कि न्यायाधीश संख्या का नियतन न्यायोचित नहीं है।

273. जैसाकि हमने पाया है कि अनुच्छेद 216 के अधीन राष्ट्रपति को सौंपा गया कर्तव्य एक आज्ञापक बाध्यता है अतः इस बाध्यता का पालन करने में असफल रहने का परिणाम निश्चित रूप से विधियों के विलम्ब द्वारा विधिसम्मत शासन की अस्वीकृति में होगा जैसा कि मेरे विद्वान् बंधु न्यायमूर्ति न्या० जे० एस० वर्मा ने मत व्यक्त किया है और इसी-

लिए यह न्याय्य होनी ही चाहिए। तदनुसार, उस आज्ञापक कर्तव्य का उसके पृथक् निर्णय में उपदर्शित सीमा तक और रीति में अनुपालन बाध्यकर बनाने में उस कर्तव्य के अनुपालन में ऐसी असफलता न्याय्य है। इसके अतिरिक्त, जैसा कि न्या० जे० एस० वर्मा द्वारा बताया गया है कि न्यायालय को अपने द्वारा वास्तविक न्यायाधीश संख्या का पुनर्विलोकन करने और उसका नियतन करने में समर्थ बनाने के लिए न्यायोचितता का क्षेत्र इसके अधिक विस्तारित नहीं है, किंतु वह भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सिफारिश के अनुसार उस कार्यवाही के अनुपालन की अपेक्षा कर सकता है।

न्यायाधीशों का स्थानांतरण :

274. एक उच्च न्यायालय से दूसरे उच्च न्यायालय में न्यायाधीशों के स्थानान्तरण के संबंध में अनुच्छेद 222 के निर्वचन के बारे में, मैं अपने विद्वान् बंधु न्यायाधीश न्या० जे० एस० वर्मा के तर्कों और निष्कर्षों से पूर्णया सहमत हूं।

निष्कर्ष

275. यद्यपि, मैंने अपने कारण पृथक् रूप से दिए हैं, जैसा कि निर्णय के प्रारम्भ में ही उपदर्शित किया गया है, तथापि मैं न्यायाधीशों की नियुक्ति की प्रक्रिया के बारे में नियुक्तियों के लिए प्रस्ताव लाने की प्रक्रिया और न्यायाधीशों की नियुक्ति उच्च न्यायालय न्यायाधीशों/उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायमूर्तियों के स्थानांतरण के मामले में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय को प्राथमिकता दिए जाने के अधिकार के बारे में न्यायाधीश संख्या के नियतन के बारे में अपने बंधु न्यायाधीश न्या० जे० एस० वर्मा के निष्कर्षों से सहमत हूं, जिसका सार विषयबिंदु सं० (1) से (8), (10), (12) और (13) के अधीन दिया गया है।

276. उपरोक्त निष्कर्षों को देखते हुए **एस०पी० गुप्त बनाम भारत संघ**[1] वाले मामले में बहुमत की राय को, जहां तक वह नियुक्तियों, स्थानान्तरण के मामलों में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के मत को प्राथमिकता दिए जाने से संबंधित दृष्टिकोण और इन मामलों की न्यायोचितता और साथ ही न्यायाधीश संख्या के संबंध में के दृष्टिकोण के प्रतिकूल है, उलटा जाता है।

277. उपरोक्त के अतिरिक्त, सरकार को, जो जनता के प्रति जवाबदेह है, संबद्ध मुख्य न्यायमूर्ति के विचारार्थ अभ्यर्थियों के नामों का सुझाव देने का अधिकार होना चाहिए किन्तु सरकार को संबद्ध मुख्य न्यायमूर्ति की उपेक्षा करते हुए नियुक्तियों के लिए सीधे प्रस्ताव भेजने का कोई अधिकार नहीं है।

278. सरकार द्वारा, चाहे वह केन्द्रीय सरकार हो या राज्य की सरकार, उच्चतम न्यायालय के न्यायमूर्ति की नियुक्ति के मामले में दिए गए सुझाव भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के माध्यम से ही होकर आने चाहिएं और उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति के मामले में सुझाव संबद्ध उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति के माध्यम से ही होकर आने

---

[1] [1982] 4 उम० नि० प० 1=[1982] 2 एस० सी० आर० 365.

1993(10) eILR(PAT) SC 1

चाहिएं। सरकार द्वारा उक्त प्रस्तावित अभ्यर्थियों की स्वीकृति या अननुमोदन के बारे में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के समक्ष रखे गए तथ्यों के आधार पर उनकी राय उस मामले में निश्चायक होगी। यद्यपि, वरिष्ठ न्यायपालिका में न्यायाधीशों की नियुक्ति पूर्णतया योग्यता के आधार पर की जानी चाहिए तथापि यह सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि जनता के सभी वर्गों का सम्यक् प्रतिनिधित्व हो जिससे कि समाज के किसी वर्ग से उपेक्षा संबंधी कोई शिकायत न हो सके।

279. हमारे उपरोक्त निष्कर्ष विधि के संबंध में अल्प उपाय हो सकते हैं किन्तु वास्तविक न्याय के संबंध में वे असाधारण रूप से महत्वपूर्ण होंगे।

280. निर्दिष्ट प्रश्नों का उत्तर उपरोक्त रूप में दिया जाता है और ये मामले तदनुसार निपटाए जाते हैं। खर्चों के बारे में कोई आदेश नहीं किया जाता।

तदनुसार निपटारा किया गया।

न्या० जे० एस० वर्मा—

"मुख्य मुद्दों पर आपकी सहमति के लिए मैं आभारी हूं।"

न्या० योगेश्वर दयाल—

"मैंने नौ न्यायाधीशों की न्यायपीठ के मामले में आपकी विद्वतापूर्ण और सुविस्तृत राय का परिशीलन किया है जिसमें आपने बंधु न्यायमूर्ति वर्मा और बंधु न्यायमूर्ति रे, आनन्द, भरुचा, और स्वयं मेरी ओर से प्रश्न सं० 1 से 8, 10, 12 और 13 पर अभिलिखित निष्कर्षों पर अपनी सहमति व्यक्त की है।"

न्या० जी० एन० रे—

"मैंने नौ न्यायाधीशों की न्यायपीठ के मामले में आपके सुविचारित और विद्वतापूर्ण निर्णय का परिशीलन किया है और मैं आपको बंधु न्यायमूर्ति वर्मा की ओर से, और स्वयं मेरी ओर से तथा तीन अन्य न्यायमूर्तियों द्वारा प्रश्न सं० 1 से 8 10, 12 और 13 पर अभिलिखित निष्कर्षों पर अपनी सहमति व्यक्त करने के लिए धन्यवाद देता हूं।"

न्या० ए० एस० आनन्द—

"मैंने नौ न्यायाधीशों की न्यायपीठ के मामले में आपकी विद्वतापूर्ण और सुविस्तृत राय का ध्यानपूर्वक परिशीलन किया है जिसमें आपने बंधु न्यायमूर्ति वर्मा की ओर से और बंधु न्यायमूर्ति योगेश्वर दयाल, रे, भरुचा तथा स्वयं मेरी ओर से प्रश्न सं० 1 से 8, 10, 12 और 13 पर अभिलिखित निष्कर्षों पर अपनी सहमति व्यक्त की है।"

न्या० एस० पी० भरुचा—

"मैंने न्यायाधीशों के जिसे न्यायाधीशों से संबंधित द्वितीय मामला कहा जा सकता है, में आपके निर्णय का सम्यक् ध्यानपूर्वक परिशीलन किया है। मैं ससम्मान

1993(10) eILR(PAT) SC 1

यह कहना चाहता हूं कि मैं बंधु न्यायमूर्ति दयाल, रे और आनन्द की ओर से और स्वयं मेरी ओर से न्या० वर्मा द्वारा लिखित निर्णय से सहमत हूं। मैं यह भी कहना चाहता हूं कि मुझे इस बात से बहुत संतोष है कि आप मोटे तौर पर हमसे सहमत हैं और आपने अपनी विद्वता और वाक्पटुता से हमारे निष्कर्षों का समर्थन किया है।

न्या० अहमदी—

281. जब इस न्यायालय के 7 न्यायाधीश वाले संविधान (न्यायपीठ ने संघ के तत्समय विधि न्याय और कंपनी कार्य मंत्री द्वारा तारीख 18 मार्च, 1981 के परिपत्र (पत्र) की सांविधानिक मान्यता को प्रश्नगत करने वाली रिट याचिकाओं की सुनवाई आरम्भ की, जिसके द्वारा विभिन्न उच्च न्यायालयों में सेवारत अपर न्यायाधीशों और उन लोगों की, जिनके नामों की उच्च न्यायालयों में पदोन्नति के लिए पहले ही प्रस्थापना कर दी गई थी या भविष्य में की जा सकती थी, किसी अन्य उच्च न्यायालय में उनके स्थानान्तरण/आरम्भिक नियुक्ति के लिए सम्मति की ईप्सा की गई, तब यह समझा गया कि इस न्यायालय के प्रामाणिक निर्णय द्वारा, विवादास्पद परिपत्र द्वारा उठाया गया तूफान अंततः शांत हो जाएगा। परिपत्र के जारी किए जाने के तुरन्त पश्चात्, वह गम्भीर विवाद में फंस गया और न्यायपालिका की स्वतंत्रता को संरक्षण प्रदान करने के लिए विभिन्न क्षेत्रों से पुरजोर अपीलें की गई क्योंकि साधारणतः यह माना गया कि वह कार्यपालिका का न्यायिक स्वतंत्रता में हस्तक्षेप करने का प्रयास था। मुम्बई उच्च न्यायालय के विधि व्यवसायरत अधिवक्ता, श्री इकबाल छागला ने एक रिट याचिका फाइल करके प्रथम गोला दागा, जिसमें उन्होंने संघ के विधि मंत्री को प्रत्यर्थी सं० 1 के रूप में और भारत संघ को प्रत्यर्थी सं० 2 के रूप में, उच्च न्यायालय के 10 अन्य अपर न्यायाधीशों सहित, पक्षकार बनाया। उच्च न्यायालय के विद्वान् एकल न्यायाधीश ने रिट याचिका विचारार्थ ग्रहण की, न्यायादेश जारी किया और प्रत्यर्थी सं० 1 और 2 को उक्त परिपत्र (पत्र) को और आगे कार्यान्वित करने से अवरुद्ध करते हुए, अन्तरिम अनुतोष मंजूर किया। दिल्ली उच्च न्यायालय में विधि-व्यवसायरत दो अन्य अधिवक्ता, सर्वश्री वी० एम० तारकुण्डे और जे० एल० कालरा ने भी विवादग्रस्त परिपत्र की वैधता और विधिमान्यता को चुनौती देते हुए रिट याचिकाएं फाइल कीं और वैसे ही तथा कतिपय अन्य आनुषंगिक अनुतोषों की ईप्सा की। चौथी रिट याचिका इलाहाबाद उच्च न्यायालय में विधि व्यवसायरत अधिवक्ता, श्री एस० पी० गुप्त द्वारा फाइल की गई। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने रिट याचिका उसी दिन फाइल की, जिसको उक्त परिपत्र जारी किया गया था किन्तु परिपत्र को चुनौती देने के उद्देश्य से उसमें उपान्तरण किया। ऐसा प्रतीत होता है कि इसी बीच मद्रास उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति (न्यायमूर्ति) न्या० एम० एम० इस्माइल के केरल उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति के रूप में स्थानान्तरण से संबंधित आदेश जारी किए गए। संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन इस न्यायालय में रिट याचिका द्वारा इस आदेश को चुनौती दी गई। न्या० एम० एम० इस्माइल के स्थानान्तरण को चुनौती देते हुए, मद्रास उच्च न्यायालय में दो अन्य रिट याचिकाएं फाइल की गईं। चूंकि इसी बीच पटना उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति के० बी० एन० सिंह का मद्रास उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति के रूप में स्थानान्तरण कर दिया गया, अतः उक्त स्थानान्तरण को भी उक्त दोनों रिट याचिकाओं में चुनौती दी गई। इसी प्रकार पटना उच्च न्यायालय में विधि-व्यवसायरत दो अधिवक्ताओं ने भी न्या० एम० एम० इस्माइल और न्या० के० बी० एन०

1993(10) eILR(PAT) SC 1

सिंह से संबंधित स्थानान्तरण-आदेशों की सांविधानिक मान्यता को चुनौती दी। ये सभी आठों रिट याचिकाएं संविधान के अनुच्छेद 139-क के अधीन इस न्यायालय को अन्तरित की गईं। न्या० के० बी० एन० सिंह के स्थानान्तरण के आदेश की सांविधानिक मान्यता को चुनौती देते हुए, पटना उच्च न्यायालय द्वारा रिट याचिका की संक्षिप्त खारिजी के विरुद्ध एक विशेष अनुमति याचिका (सं० 1509/1981) भी फाइल की गई, जो इस न्यायालय के समक्ष लम्बित थी। रिट याचिकाओं के दोनों समूहों—विवादग्रस्त परिपत्र की सांविधानिक विधिमान्यता को चुनौती देने वाली याचिकाओं और स्थानान्तरण आदेशों की संवैधानिकता को चुनौती देने वाली याचिकाओं—की संविधानपीठ द्वारा एक साथ सुनवाई की गई। श्री एस० पी० गुप्त द्वारा फाइल की गई रिट याचिका मुख्य याचिका मानी गई।

282. प्रत्यर्थियों की ओर से रिट याचिकाओं के चलने योग्य होने के बारे में इस आधार पर प्रारम्भिक आक्षेप उठाया गया कि याचियों को, जो विभिन्न न्यायालयों में विधि-व्यवसायरत वकील थे, रिट याचिकाएं लाने का कोई अधिकार प्राप्त नहीं था। संविधानपीठ ने यह दलील इस आधार पर अस्वीकार कर दी कि उनका न्यायपालिका की स्वतंत्रता और उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को नियुक्त करने की शक्ति के प्रयोग से महत्वपूर्ण संबंध था। चूंकि अधिकार का प्रश्न हमारे समक्ष नहीं उठाया गया है, अतः हमें इस संबंध में कुछ और अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है।

283. संविधानपीठ के समक्ष अनेक मुद्दे उठाए गए। मुख्य मुद्दा (विवाद्यक) न्यायिक स्वतंत्रता की संकल्पना की अन्तर्वस्तु के संबंध में था। यही वह सबसे बड़ी धुरी थी, जिस पर अन्य विवाद्यकों से संबंधित निवेदन केन्द्रित थे। वे मुख्य विवाद्यक, जिनकी हमारे द्वारा अवेक्षा किया जाना आवश्यक है, ये थे—(i) क्या न्यायालय संविधान के अनुच्छेद 216 के अधीन उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या के नियतन के लिए परमादेश जारी कर सकता है, (ii) क्या अनुच्छेद 222 (1) के अन्तर्गत, उसका समुचित रूप से अर्थान्वयन किए जाने पर, केवल सम्मतिजन्य स्थानान्तरण ही आते हैं, (iii) भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से 'परामर्श' जो किए गए किसी भी स्थानान्तरण या अनुच्छेद 222 (1) के अधीन अन्तिम रूप वाली स्थानान्तरण नीति से पूर्व ही किया जाना चाहिए, की प्रकृति (iv) क्या अनुच्छेद 217 (1) के अधीन सांविधानिक परामर्शियों की रायों में से प्राथमिकता भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय को दी जानी चाहिए, और (v) क्या प्रश्नगत परिपत्र द्वारा न्यायिक स्वतंत्रता की संकल्पना को प्रत्यक्ष धमकी दी गई थी, क्योंकि उसका तात्पर्य अपर न्यायाधीशों और उन लोगों की सम्मति प्राप्त करना था, जिनके नामों की उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के रूप में नियुक्ति हेतु पहले ही प्रस्थापना की जा चुकी थी और यदि वे अपने स्थानान्तरण के बारे में सम्मति देने में असफल रहते हैं, तो उनके नाम विचार सूची से निकाल दिए जाएंगे। कतिपय अन्य आनुषंगिक विवाद्यकों पर भी विचार किया गया किन्तु उनकी अवेक्षा करना आवश्यक नहीं है क्योंकि उनका हमारे समक्ष उठाए गए मुद्दों से कोई संबंध नहीं है।

284. संविधानपीठ के समक्ष निरूपित महत्वपूर्ण विवाद्यकों पर अभिलिखित निष्कर्षों को उपवर्णित करने से पूर्व, हम संक्षेप में उस तथ्यिक पृष्ठभूमि को देना उचित समझते हैं, जिसमें ये महत्वपूर्ण विवाद्यक विनिश्चयार्थ उद्भूत हुए। यद्यपि उच्च न्यायालयों में समावेदन करने का अव्यवहित कारण विधि मंत्री का विवादग्रस्त परिपत्र (पत्र) था, तथापि दिल्ली

उच्च न्यायालय में श्री वी० एम० तारकुण्डे द्वारा फाइल की गई रिट याचिका में निरूपित कतिपय अन्य घटनाओं का उल्लेख भी आवश्यक है। उक्त याचिका में, विवादग्रस्त परिपत्र (पत्र) को चुनौती देने के अतिरिक्त, याची ने लघु (संक्षिप्त) अवधियों के लिए उच्च न्यायालयों के लिए उच्च न्यायालयों में अपर न्यायाधीशों को नियुक्त करने की पद्धति को भी चुनौती दी। दिल्ली उच्च न्यायालय के तीन अपर न्यायाधीशों को, जो आरम्भ में तारीख 7 मार्च, 1979 से दो वर्ष की अवधि के लिए नियुक्त किए गए थे और जिनकी अवधि तारीख 6 मार्च, 1981 की मध्य रात्रि को समाप्त हो रही थी, आगे तीन मास की और अवधि के लिए अपर न्यायाधीशों के रूप में नियुक्त किया गया। याची ने यह दलील दी कि ऐसी अल्पावधि की नियुक्तियां, संविधान के अनुच्छेद 224 की भाषा को देखते हुए, न्यायोचित नहीं थीं और हर हालत में उनसे न्यायपालिका की स्वतंत्रता का ध्वंस होता था। अतः याची ने केन्द्रीय सरकार को अपर न्यायाधीशों के पदों को स्थायी पदों के रूप में संपरिवर्तित करने हेतु निदेश देने के लिए परमादेश की ईप्सा की। उन्होंने यह दलील दी कि, किसी भी दशा में, (चूंकि) स्थायी पद पर रिक्ति विद्यमान थी, अतः तीनों अपर न्यायाधीशों में से ज्येष्ठतम न्यायाधीश को उक्त रिक्ति को भरने के लिए स्थायी न्यायाधीश के रूप में नियुक्त किया जाना चाहिए और अन्य दोनों अपर न्यायाधीशों की अवधि दो वर्ष के लिए और बढ़ा दी जानी चाहिए। सरकार की ओर से यह दावा किया गया कि अनुच्छेद 224 (1) द्वारा केवल एक समय पर 2 वर्ष की अधिकतम अवधि नियत की गई और उसके द्वारा सरकार का अवधि के विषय में विवेकाधिकार सीमित नहीं किया गया है, जिसके लिए अपर न्यायाधीश की नियुक्ति की जा सकती है बशर्ते कि वह दो वर्ष की अधिकतम सीमा से अधिक न हो और इस संबंध में न्यायालय के कारबार में होने वाली वृद्धि पर ध्यान नहीं दिया जाएगा। उक्त दावे में संविधान के अनुच्छेद 216, 217 (1) और 224 (1) की सही परिधि और आशय से संबंधित प्रश्न उठाया गया। इन्हीं तथ्यों की पृष्ठभूमि में संविधानपीठ ने 4:3 के बहुमत द्वारा यह निष्कर्ष निकाला कि तीनों सांविधानिक कृत्यकारियों की रायों में, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय को, न्यायाधीशों की नियुक्ति के विषय में, अन्य दोनों रायों पर प्राथमिकता प्राप्त नहीं है। 6:1 के बहुमत द्वारा न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि अनुच्छेद 222 (1) के परिशीलन मात्र से (यह स्पष्ट है कि) यह तर्क नहीं दिया जा सकता है कि स्थानान्तरित किए जाने के लिए प्रस्थापित न्यायाधीश की सम्मति राष्ट्रपति को प्रदत्त स्थानान्तरण की शक्ति के प्रयोग के लिए अनिवार्य अध्यपेक्षा (शर्त) है। तथापि, न्या० भगवती **भारत संघ** बनाम **संकल चन्द हिम्मतलाल सेठ और एक अन्य**[1] वाले मामले में अपने इस मत पर दृढ़ रहे कि न्यायपालिका की स्वतंत्रता को संरक्षित करने के लिए संबंधित न्यायाधीश की सम्मति की अध्यपेक्षा, अनुच्छेद 222 (1) में अवश्य ही पढ़ी और समझी जानी चाहिए। वहां भी बहुमत ने इस मत को स्वीकार नहीं किया क्योंकि उसके परिणामस्वरूप संबंधित न्यायाधीश को निषेधाधिकार प्राप्त हो जाता। न्या० कुमार की अवधि की समाप्ति के पश्चात् न्या० कुमार की अवधि की वृद्धि न करने और मु० न्या० के० बी० एन० सिंह के स्थानान्तरण के कार्य की पुष्टि करते हुए, न्यायालय ने बहुमत द्वारा यह अभिनिर्धारित किया कि संविधान के अनुच्छेद 216 का अवलम्ब लेते हुए, न्यायाधीशों की संख्या को नियत करने के लिए राष्ट्रपति को आदेश जारी नहीं किया जा सकता था।

[1] [1978] 3 उम० नि० प० 1129=[1978] 1 एस० सी० आर० 423.

1993(10) eILR(PAT) SC 1

इस मुद्दे पर मतैक्य था कि सरकार का यह दावा साधार नहीं था कि संविधान द्वारा उसे तीन मास या 6 मास का अल्पावधि-विस्तार (वृद्धि) मंजूर करने के लिए सशक्त किया गया था। तथापि, न्यायालय ने यह विनिर्णय किया कि ऐसी अल्पावधि-नियुक्ति का केवल उस स्थिति में ही समर्थन किया जा सकता था, यदि यह विश्वास करने के लिए सशक्त कारण हो कि दो वर्ष के लिए अपर न्यायाधीश की सेवा अपेक्षित नहीं होगी या ऐसे बाध्यकर कारण मौजूद हैं जिनकी वजह से अल्पावधि-नियुक्ति आवश्यक हो गई है। न्यायालय ने यह भी अभिनिर्धारित किया कि सामान्यतया यदि स्थायी न्यायाधीशों की मंजूरी प्राप्त संख्या में कोई रिक्ति है, तो अपर न्यायाधीश नियुक्त करने का कोई औचित्य नहीं होगा। किन्तु अधिसंख्य न्यायाधीशों ने यह मत व्यक्त किया कि अनुच्छेद 216 के अधीन कर्तव्य के निर्वहन के लिए सरकार के विवेकाधिकार को नियंत्रित करने या उसके संबंध में दिशा-निर्देश देने के लिए न्यायिक रूप से प्रबन्धनीय मानकों के अभाव में, प्रत्येक उच्च न्यायालय के लिए न्यायाधीश-संख्या के नियतन को सुनिश्चित करने के लिए परमादेश जारी नहीं किया जा सकता था। तथापि, रिक्तियों को भरने में असामान्य विलम्ब और अत्यधिक कार्यभार के संदर्भ में न्यायाधीश-संख्या की अपर्याप्तता पर न्यायालय की व्यग्रता का उल्लेख करते हुए, भारत संघ के विद्वान् काउन्सेल ने न्यायालय को यह आश्वासन दिया कि सरकार ने, कार्यभार को ध्यान में रखते हुए, विभिन्न न्यायालय में स्थायी न्यायाधीशों के पदों की संख्या में वृद्धि करने का विनिश्चय पहले ही कर लिया था। संक्षेप में **एस० पी० गुप्त आदि बनाम भारत संघ और अन्य**[1] वाले मामले में सात न्यायाधीशों वाले संविधानपीठ के विनिश्चय का, जो तारीख 28 दिसम्बर, 1981 को सुनाया गया, यही आशय है।

285. यह साधारण विश्वास कि संविधानपीठ के निर्णय से विधि मंत्री के पत्र द्वारा उठाए गए सभी भ्रम और संविवाद दूर और शांत हो जाएंगे, शीघ्र ही मिथ्या सिद्ध कर दिया गया। बहुमत की इस राय की शुद्धता के संबंध में संदेह प्रकट किए गए कि संविधान के अनुच्छेद 217(1) के अधीन परामर्श दाताओं में से एक परामर्शदाता के रूप में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय, अन्य दोनों परामर्शदाताओं के मुकाबले, प्राथमिकता प्राप्त करने के लिए हकदार थी और संविधान के अनुच्छेद 216 के अधीन न्यायाधीश-संख्या के नियतन के कार्यपालिक कृत्य के संबंध में परमादेश जारी नहीं किया जा सकता था। न्यायिक स्वतंत्रता की संकल्पना के संबंध में अधिसंख्य न्यायाधीशों द्वारा की गई कतिपय मताभिव्यक्तियों की भी आलोचना की गई। यह मत भी कि किसी अन्य उच्च न्यायालय को स्थानान्तरित किए जाने के लिए प्रस्थापित न्यायाधीश की सम्मति संविधान के अनुच्छेद 222(1) के अधीन स्थानान्तरण करने के लिए पुरोभाव्य शर्त नहीं थी, प्रश्नगत किया गया। सीरवाई कृत "कांस्टीट्यूशनल ला आफ इण्डिया" [खण्ड 2, तृतीय संस्करण (1984)] के अध्याय 25 के भाग III में, एस०पी० गुप्त वाले मामले में निकाले गए संविधान पीठ के निष्कर्षों से उद्भूत होने वाले विवाद्यकों के आलोचनात्मक विचार-विमर्श से ऐसा स्पष्ट हो जाता है। उक्त संविवाद चलता रहा और उन घटनाओं का, जो उच्चतर न्यायालयों की न्यायिक नियुक्तियों के संबंध में ऊपर निर्दिष्ट एस०पी० गुप्त वाले मामले में किए गए विनिश्चय के पश्चात् घटित हुई, बारीकी से अवलोकन किया जा रहा था। इस न्यायालय

[1] [1982] 4 उम० नि० प० 1=[1982] 2 एस० सी० आर० 365.

के एक विधि-व्यवसायरत अधिवक्ता, श्री सुभाष शर्मा, सुप्रीम कोर्ट एडवोकेट्स आन रिकार्ड एसोसिएशन और मुम्बई बार एसोसिएशन के अवैतनिक सचिव, द्वारा संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन क्रमशः रिट याचिका सं० 13003/1985, 1303/1987 और 302/1989 फाइल की गईं, जिनमें भारत संघ को उच्चतम न्यायालय और अनेक उच्च न्यायालयों में रिक्तियां भरने और कतिपय अन्य आनुषंगिक अनुतोषों के लिए आदेश करते हुए परमादेश रिट जारी किए जाने की ईप्सा की गई। इन रिट याचिकाओं को एक साथ जोड़ दिया गया, क्योंकि उनमें सामान्य अभिवाक् किए गए थे और ईप्सित अनुतोष न्यूनाधिक रूप में एक जैसे ही थे, जारी किए गए न्यायादेश के उत्तर में भारत संघ (काउंसेल) के माध्यम से हाजिर हुआ और उसने यह दलील दी कि याचिकाएं चलने योग्य नहीं थीं क्योंकि उच्चतर न्यायालयों में रिक्तियां भरने का प्रश्न न्याय्य नहीं था, जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट एस०पी० गुप्त वाले मामले में अभिनिर्धारित किया गया है। विद्वान् महान्यायवादी द्वारा उठाया गया यह आक्षेप न्यायालय द्वारा अस्वीकार कर दिया गया और उसने न्यायाधीश-संख्या या न्यायाधीश-चयन नियत करने और विद्यमान रिक्तियां भरने के बीच अन्तर किया। चूंकि दावाकृत अनुतोष पश्चात् कथित विवाद्यक के संबंध में था अतः विवादग्रस्त मामले का ऊपर निर्दिष्ट एस०पी० गुप्त वाले मामले के विनिश्चयाधार द्वारा निपटारा नहीं हुआ। किन्तु केन्द्र में सरकार में परिवर्तन होने के साथ ही, उत्तरवर्ती महान्यायवादी, श्री सोली सोराबजी ने आक्षेप वापस ले लिया और यह कहा कि उनके मतानुसार, उच्चतर न्यायालयों में मंजूर न्यायाधीश-संख्या की व्यवस्था करना भारत संघ की सांविधानिक बाध्यता थी और व्यतिक्रम का, यदि कोई हो, न्यायालय के निदेश द्वारा उपचार किया जा सकता था। दो न्यायाधीश वाले न्यायपीठ ने, जिसने निवेदनों की सुनवाई की, यह महसूस किया कि पर्याप्त (उचित) समय में रिक्तियां भरने के लिए पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया बल्कि केरल में न्यायाधीश-संख्या में किसी औचित्य के बिना वस्तुतः दो पदों की कटौती कर दी गई। माननीय न्यायाधीशों ने इस संबंध में ऊपर निर्दिष्ट एस०पी० गुप्त वाले मामले में बहुमत की राय की शुद्धता पर भी शंका व्यक्त की और यह महसूस किया कि उस पर पुनः विचार किए जाने की आवश्यकता थी। इस तथ्य के प्रति संकेत करते हुए कि एक स्वतंत्र अ-राजनीतिक न्यायपालिका हमारी उस पद्धति को, जिसका हमने चयन किया है, बनाए रखने के लिए महत्वपूर्ण है, माननीय न्यायाधीशों ने प्रथम दृष्ट्या यह महसूस किया कि ऊपर निर्दिष्ट एस०पी० गुप्त वाले मामले में बहुमत की राय न केवल भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय की प्राथमिकता को गम्भीरतापूर्वक कम करती है, जो हमारी सांविधानिक स्कीम में विवक्षित है, बल्कि उस प्राथमिकता को बिल्कुल ही समाप्त कर देती है। सांविधानिक प्रयोजन और प्रक्रिया के अनुरूप यह बात आवश्यक है कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के पद की भूमिका को निर्णायक और महत्वपूर्ण भूमिका के रूप में मान्यता प्रदान की जाए। इस प्रकार मत व्यक्त करते हुए, माननीय न्यायाधीशों ने यह निदेश किया—

> "हमारी राय में, उस मत में जो गुप्त वाले मामले में चारों विद्वान् न्यायाधीशों ने व्यक्त किया है, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के पद की विशेष और मुख्य स्थिति को मान्यता प्रदान नहीं की गई है।
>
> प्रास्थिति और परामर्श के महत्व से संबंधित, ऊपर निर्दिष्ट एस०पी० गुप्त वाले मामले में अधिसंख्य न्यायाधीशों की राय की शुद्धता, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति

की राय और इस मत की शुद्धता पर कि न्यायाधीश-संख्या का नियतन न्याय नहीं है, बृहतर न्यायपीठ द्वारा पुन: विचार किया जाना चाहिए ।"

प्रथम और तृतीय रिट याचिकाओं का विद्वान् महान्यायवादी के कथन के आधार पर निपटारा कर दिया गया किन्तु एडवोकेट्स आन रिकार्ड एसोसिएशन द्वारा फाइल की गई द्वितीय रिट याचिका लम्बित रखी गई । यह निदेश किया गया कि उक्त रिट याचिका के कागजपत्र, पूर्वोक्त दोनों प्रश्नों अर्थात् प्राथमिकता के प्रति निर्देश से भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की स्थिति और दूसरे न्यायाधीशों की संख्या के नियतन की न्याय्यता, पर नए सिरे से विचार करने के लिए 9 न्यायाधीशों का पीठ गठित करने के लिए, भारत के विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति के समक्ष रखे जाएं । तदनुसार वर्तमान 9 न्यायाधीश वाला पीठ गठित किया गया । याचियों और उनके सहयोगियों (मध्यक्षेपकों) ने पूर्वोक्त दोनों मुद्दों पर ऊपर निर्दिष्ट एस०पी० गुप्त वाले मामले में बहुमत की राय पर पुन: विचार किए जाने की दलील दी, जब कि भारत संघ और राज्यों ने यह दलील दी कि उक्त मामले में बहुमत द्वारा व्यक्त की गई राय सही थी और उस पर पुन: विचार किए जाने की आवश्यकता नहीं थी ।

286. मुकदमा लड़ने वाले दोनों समूहों के बीच लड़ाई के आधार (मुद्दे) स्पष्ट रूप से तैयार कर लिए गए हैं । याचियों और उनके सहयोगियों के तरकश का मुख्य तीर न्यायपालिका की स्वतंत्रता का संरक्षण है । उनका युद्धघोष (लड़ाई का नारा) यह है कि ऊपर निर्दिष्ट एस०पी० गुप्त वाले मामले में बहुमत की राय से न्यायपालिका की स्वतंत्रता के लिए संकट पैदा हो गया है, जिसमें वस्तुत: न्यायपालिका की स्वतंत्रता, संविधान के अनुच्छेद 50 में सन्निविष्ट स्वतंत्रता के सिद्धांत का घोर उल्लंघन करते हुए, न्यायपालिका को अभ्यर्पित कर सौंप दी गई है । एक के बाद एक, अनेक काउन्सेलों ने हमारे समक्ष इस बात पर जोर देने का प्रयास किया कि यदि ऊपर निर्दिष्ट एस०पी० गुप्त वाले मामले में बहुमत की राय प्रभावी रहने दी जाती है, तो न्यायिक स्वतंत्रता की संकल्पना के लिए जो निष्ठा का विषय है और संविधान की आधारभूत विशेषता है, वास्तविक खतरा पैदा हो जाएगा । यद्यपि उन्होंने विभिन्न साधनों का उपयोग किया, तथापि उनका स्वर यही था कि न्यायिक स्वतंत्रता खतरे में है । उन्होंने विभिन्न मार्गों से यात्रा की किन्तु उनका गन्तव्य स्थान एक ही था, अर्थात् यह कि प्राथमिकता न्यायपालिका में ही (निहित) रहनी चाहिए । उन्होंने जोर देकर यह अभिवाक् किया कि न्यायालय को ब्रिटेन में इस सिद्धांत के विकास की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखना चाहिए और उस लम्बे और कड़े संघर्ष के प्रति सजग रहना चाहिए, जो ब्रिटिश न्यायाधीशों ने सम्राट् के विरुद्ध किया था और उन बलिदानों को भी ध्यान में रखना चाहिए, जो सर एडवर्ड कोक जैसे दृढ़ संकल्प वाले न्यायाधीशों ने स्वतंत्र न्यायपालिका-कार्यपालिका और विधानमण्डल को सम्मिलित करते हुए सभी से स्वतंत्र न्यायपालिका के स्वप्न को साकार करने के लिए किए थे । उनके बलिदान व्यर्थ नहीं जाने चाहिए—हमारे समक्ष यही भावनात्मक और जोशपूर्ण अभिवाक् किया गया । काउन्सेलों ने यह निवेदन किया कि भारत में हमने ब्रिटिश लोगों से ही उक्त उदात्त संकल्पना को विरासत में प्राप्त किया है, जिन्होंने हमारे देश में अपनी न्याय-पद्धति (न्यायप्रणाली) और सामान्य विधि (कामन ला) सिद्धांतों को लागू किया और हमारे विद्वान् संविधान-निर्माताओं ने राज्य को, "राज्य की लोक सेवाओं में न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक् करने हेतु कार्रवाई करने' का निदेश करके, उसे ठोस रूप देने का विनिश्चय किया । अत: याचियों और उनके

1993(10) eILR(PAT) SC 1

सहयोगियों के काउन्सेलों ने यह तर्क दिया कि उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों और उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति और न्यायाधीशों के चयन और नियुक्ति तथा पश्चात्कथित के स्थानांतरण के संबंध में सांविधानिक स्कीम को इस संकल्पना की पृष्ठभूमि में ही देखा जाना चाहिए, जो संविधान की आत्मा है।

287. विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल, श्री एफ० एस० नरीमन ने, जिन्होंने याचियों की ओर से निवेदन आरम्भ किए, इस बात पर जोर दिया कि जहां तक राष्ट्रपति द्वारा गैर-चयनात्मक (गैर-निर्वाचनात्मक) सांविधानिक पदों पर नियुक्तियों का संबंध है, केवल उच्चतर न्यायपालिका के लिए नियुक्तियों के मामले में ही भारत के मुख्य न्यायमूर्ति सहित, कतिपय सांविधानिक कृत्यकारियों से पूर्व 'परामर्श' का उपबंध किया गया है। उन्होंने कतिपय गैर-चयनात्मक गैर-न्यायिक पदों पर राष्ट्रपति द्वारा की जाने वाली नियुक्तियों के संबंध में प्रयुक्त भाषा उपदर्शित करने के लिए, हमारा ध्यान अनुच्छेद 148, 155, 280(1), 316(1), 324(2), 338(1), 344(1) और 350(ख) के प्रति आकर्षित किया। काउंसेल ने यह निवेदन किया कि ऐसा इसलिए है कि संविधान के निर्माता न्यायपालिका की स्वतंत्रता को संरक्षण प्रदान करने के लिए न्यायपालिका को पृथक् करने की आवश्यकता के प्रति सजग थे। काउंसेल ने यह निवेदन किया कि इस धारणा के आधार पर कि परामर्शी (परामर्शदाता) नियुक्ति के लिए प्रस्थापित अभ्यर्थी की उपयुक्तता और सक्षमता का निर्धारण करने के लिए बेहतर स्थिति में होंगे, न्यायिक कुटुम्ब के सदस्यों, और विशेष रूप से भारत के मुख्य न्यायमूर्ति, से परामर्श की इस अध्यपेक्षा का, न्यायपालिका को संस्था का रूप देने और उसे उसके क्षेत्र में कार्यपालिका से पूर्णतः स्वतंत्र स्वायत्त निकाय बनाने के लिए ही, उपबंध किया गया। चूंकि न्यायिक स्वतंत्रता की संकल्पना न्यायिक पदों की नियुक्तियों से अवियोज्य रूप से जुड़ी हुई है, अतः यह आवश्यक है कि उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के लिए नियुक्ति की प्रक्रिया को न्यायिक पक्ष द्वारा दी गई राय के अनुसार अन्तिम रूप दिया जाना चाहिए। अतः यह बात अवश्य ही समझ ली जानी चाहिए कि संविधान के इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही परामर्श की प्रक्रिया आरम्भ की गई और इसलिए उक्त उपबंधों को संकीर्ण या शाब्दिक अर्थ नहीं दिया जा सकता है। ऐसा इसलिए है कि संविधान में 'परामर्श' शब्द का उच्च सांविधानिक कृत्यकारी, अर्थात् भारत के राष्ट्रपति और भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के बीच अन्तर संपर्क के सीमित अर्थ में नहीं, बल्कि नियुक्ति करने के लिए बाध्यकारी सलाह लेने के व्यापक अर्थ में प्रयोग किया गया है। पूर्व परामर्श की अध्यपेक्षा थोथी औपचारिकता (प्ररूपिकता) नहीं है, बल्कि वह राष्ट्रपति की नियुक्ति की शक्ति पर निर्बंधन या परिसीमा के रूप में प्रवर्तित होने के लिए आशयित सांविधानिक बाध्यता है। परामर्श करने के कर्तव्य और नियुक्ति करने की शक्ति के अन्तिम प्रयोग के बीच की कड़ी परामर्शदाता से प्राप्त सलाह से अवियोज्य रूप से जुड़ी हुई है; और उसके द्वारा नियुक्ति की संपूर्ण प्रक्रिया को समन्वित प्रक्रिया बनाया गया है। अतः यह कल्पना करना कठिन है कि सर्वोच्च (विधि) शब्द (संविधान) के निर्माताओं का यह आशय था कि परामर्शदाताओं की सलाह ऐसी कड़ी बनेगी, जिसे किसी भी समय तोड़ा जा सकता है। यदि शक्ति का प्रयोग केवल परामर्श के पश्चात् ही किया जा सकता है, तो परामर्श सार्थक और सप्रयोजन होना चाहिए, जो वह उस स्थिति में नहीं होगा, यदि उसे कार्यपालिका के लिए आबद्धकर नहीं बनाया जाता है। अनुच्छेद 124(2) को समग्र रूप से पढ़ने पर, परामर्श की विविधता उपदर्शित होती है और इसी

प्रकार अनुच्छेद 217(1) के पढ़ने पर भी यही बात उपदर्शित होती है; और इसलिए यदि परामर्शदाताओं के बीच मतभेद है, तो केन्द्रीय सरकार को संपूर्ण सामग्री भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के समक्ष रखनी चाहिए और उस पर उनकी राय मांगनी चाहिए। जब एक बार भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा, उनके समक्ष रखी गई सामग्री और अन्य मतदाताओं के मतों का विवेचन करने के पश्चात्, कोई राय व्यक्त कर दी जाती है, तो कार्यपालिका के लिए उस मत को स्वीकार करना और संविधान के अनुच्छेद 74(1) के अधीन राष्ट्रपति को तदनुसार सलाह देना भी आवश्यक है, जिससे कि राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय पर आधारित उक्त सलाह के आधार पर कार्य कर सकें और आवश्यक नियुक्ति कर सकें। काउंसेल ने यह निवेदन किया कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की नियुक्ति के संबंध में, संविधान में परामर्श का कोई उपबंध नहीं है और इसी कारण न्यायालय के ज्येष्ठतम न्यायाधीश को भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के रूप में नियुक्त करने की स्वस्थ परम्परा का विकास हुआ है। उनके मतानुसार, यह परम्परा न्यायपालिका की स्वतंत्रता की संकल्पना के अनुरूप है क्योंकि उसके द्वारा भारत के अगले मुख्य न्यायमूर्ति के चयन के विषय में कार्यपालिक हस्तक्षेप की संभावना अपवर्जित हो जाती है। श्री एस० के० बोस के तारीख 22 अप्रैल, 1993 के शपथ-पत्र के प्रति निर्देश करते हुए उन्होंने यह निवेदन किया कि पिछले दशक में की गई कुल 547 नियुक्तियों में से सात को छोड़ कर, सभी नियुक्तियां भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय के अनुसार की गई थीं, यह संज्ञापित होता है कि कुछ अपवादों को छोड़ कर, कार्यपालिका ने भी भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय की प्राथमिकता स्वीकार की है। अतः काउंसेल ने इस बात पर जोर दिया कि ऊपर निर्दिष्ट एस० पी० गुप्त वाले मामले में बहुमत की राय पर पुनः विचार किए जाने की आवश्यकता है, क्योंकि उनकी राय सुसंगत सांविधानिक उपबंधों के गलत निर्वचन पर आधारित थी। उन्होंने यह निवेदन भी किया कि उस स्थिति में न्यायपालिका की स्वतंत्रता कम हो जाएगी, यदि रिक्तियों को सत्वरतापूर्वक (शीघ्र ही) नहीं भरा जाता है और यदि न्यायाधीशों की संख्या का समय-समय पर पुनरीक्षण नहीं किया जाता है, जैसा कि संविधान के अनुच्छेद 216 द्वारा आदिष्ट है। अतः उन्होंने यह निवेदन किया कि यदि कार्यपालिका संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन अपने कर्तव्य या बाध्यता का निर्वहन करने में असफल रहती है, तो उसे उक्त कर्तव्य का निर्वहन करने के लिए आदेश देते हुए, निश्चय ही, परमादेश का रिट जारी किया जा सकता है क्योंकि अन्यथा अनुच्छेद 216 निरर्थक (निष्प्रभाव) हो जाएगा। अतः उन्होंने समुचित परमादेश का रिट जारी किए जाने की प्रार्थना की, जैसा कि प्रार्थना की गई थी। अन्य विद्वान् काउंसेलों—सर्वश्री कपिल सिब्बल, पी० पी० राव, आर० के० गर्ग और एस० पी० गुप्त ने स्वयं अपना तर्ककौशल और बल दर्शित करते हुए, श्री नरीमन के निवेदनों का समर्थन किया। श्री शांति भूषण और श्री राम जेठमलानी ने भिन्न मार्ग द्वारा उसी गन्तव्य तक पहुंचने का प्रयास किया।

288. श्री कपिल सिब्बल ने यह निवेदन किया कि संविधान के अनुच्छेद 50 में यथा सन्निविष्ट स्वतंत्र न्यायपालिका की संकल्पना को परिरक्षण और संरक्षण प्रदान करने के लिए यह आवश्यक है कि परामर्श इस अर्थ में संस्थागत होना चाहिए कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को अपना मत व्यक्त करने से पूर्व, अपने ज्येष्ठ साथियों में से दो या तीन से परामर्श अवश्य ही करना चाहिए, जो संबंधित राज्य के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा की गई सिफारिश

की गुणता के बारे में उसे जानकारी दे सकते हैं। इस प्रकार व्यक्त किया गया मत न केवल भारत के मुख्य न्यायमूर्ति का मत होगा बल्कि स्वयं न्यायिक कुटुम्ब का मत होगा; अतः उसका महत्त्व होना चाहिए और वह भारत के राष्ट्रपति के लिए आबद्धकर होना चाहिए। श्री पी० पी० राव ने यह उपदर्शित किया कि संविधान के अनुच्छेद 233 के अधीन किसी राज्य में जिला न्यायाधीशों के रूप में व्यक्तियों की नियुक्ति उस राज्य के राज्यपाल द्वारा, उक्त राज्य के संबंध में अधिकारिता का प्रयोग करने वाले उच्च न्यायालय से परामर्श करके की जानी होती है। 'जिला न्यायाधीश' पद को संविधान के अनुच्छेद 236(क) में परिभाषित किया गया है। उन्होंने यह निवेदन किया कि विधि की दृष्टि में नियुक्तियां उच्च न्यायालय की सिफारिश से की जाती हैं, जो सिफारिश कार्यपालिका के लिए आबद्धकर मानी जाती है। यदि संविधान के अनुच्छेद 233 के अधीन 'परामर्श' का यह अर्थ है, तो इस बात का कोई कारण नहीं है कि संविधान के अनुच्छेद 124(2) और 217(1) के अधीन परामर्श की संकल्पना को वही अर्थ या आशय क्यों नहीं दिया और समझा जाना चाहिए। अतः काउंसेल ने यह निवेदन किया कि कार्यपालिका से परामर्श केवल संबंधित व्यक्ति के चरित्र और पूर्ववृत्त की बाबत ही हो सकता है, न कि उसकी सक्षमता और उपयुक्तता के प्रति निर्देश से। यदि राज्यपाल और उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति के बीच कोई मतभेद है, तो संस्था के प्रमुख के रूप में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति का अन्तिम मत अभिभावी होना चाहिए। श्री आर० के० गर्ग ने यह शिकायत की कि ऊपर निर्दिष्ट एस० पी० गुप्त वाले मामले में बहुमत की राय की प्रवृत्ति उक्त विनिश्चय के पश्चात् नियुक्त न्यायाधीशों के लिए सम्मान में कमी करने की रही है और परिणामतः उसने उन्हें उच्चतर न्यायपालिका के सदस्य होने में विश्वास और गर्व की अनुभूति से वंचित कर दिया है; जो उनके कर्तव्यों का दक्षतापूर्वक निर्वहन करने के लिए परम आवश्यक है। उन्होंने यह निवेदन किया कि इस सम्मान और विश्वास को बहाल करने के लिए यह आवश्यक है कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की प्राथमिकता के प्रश्न पर ऊपर निर्दिष्ट एस० पी० गुप्त वाले मामले में व्यक्त बहुमत की राय को ठीक किया जाए। उन्होंने यह निवेदन भी किया कि कार्यपालिक हस्तक्षेप के कारण नियुक्तियों में हुआ विलम्ब अक्षम्य है और न्यायालय कार्यपालिक हस्तक्षेप, उदासीनता या उपेक्षा के मूकदर्शक नहीं बने रह सकते हैं और न उन्हें ऐसा होना भी नहीं चाहिए। वह विभिन्न उच्च न्यायालयों और उच्चतम न्यायालय में समय-समय पर न्यायाधीश संख्या की जांच करने के लिए स्थायी निकाय की स्थापना करने के भी पक्ष में थे, जिससे कि उक्त निकाय की सिफारिश के आधार पर न्यायाधीश-संख्या का समय-समय पर पुनरीक्षण किया जा सके। श्री एस० पी० गुप्त ने भी, जिन्होंने पूर्वतर याचिका फाइल की थी, जिसके परिणामस्वरूप सात न्यायाधीशों वाला पीठ गठित किया गया, प्राथमिकता के प्रश्न पर श्री नरीमन के निवेदनों का समर्थन किया और यह कहा कि संविधान के अनुच्छेद 216 द्वारा व्यादिष्ट कर्तव्य के निर्वहन के लिए परमादेश जारी करने की न्यायालय की शक्ति कार्यपालिका के विवेकाधिकार को नियंत्रित करने और उसका मार्गदर्शन करने के लिए न्यायिक रूप से प्रबन्धनीय मानकों के अभाव के ऊपरी तौर पर युक्तिसंगत अभिवाक् के आधार पर अस्वीकृत नहीं की जा सकती है।

289. श्री शांति भूषण ने यह उपदर्शित किया कि वर्ष 1976 में संविधान के 42वें संशोधन से पूर्व, संविधान में ऐसा कोई अभिव्यक्त उपबंध नहीं था, जिसमें यह उपबंध किया

गया हो कि राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद् की सलाह द्वारा आबद्ध होगा। अनुच्छेद 74(1) में 'करेगा' पद के अन्तःस्थापन के पश्चात् भी राष्ट्रपति केवल कार्यपालिक कृत्यों के संबंध में ही सलाह द्वारा आबद्ध है, न कि अन्य सांविधानिक बाध्यताओं या कर्तव्यों के संबंध में। निस्संदेह, अनुच्छेद 53 द्वारा संघ की कार्यपालिक शक्ति राष्ट्रप्रति में निहित है, जिसका उसे संविधान के अनुसार सीधे या उसके अधीनस्थ अधिकारियों के माध्यम से प्रयोग करना चाहिए। अनुच्छेद 73 में संघ की कार्यपालिक शक्ति की परिधि उपदर्शित की गई है, जो मोटे रूप में ऐसे मामलों को, जिनकी बाबत संसद् विधि बनाने के लिए सशक्त है, अर्थात् संविधान की 7वीं अनुसूची की सूची 1 और 3 में प्रगणित विषयों को, भी विस्तारित (लागू) होती है। चूंकि उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति से संबंधित विषय उक्त सूचियों में किसी प्रविष्टि के अधीन नहीं आते हैं, अतः राष्ट्रपति की नियुक्ति की शक्ति का प्रयोग कार्यपालिक शक्ति की परिधि के बाहर है और इसलिए राष्ट्रपति को मंत्रि-परिषद् की सलाह द्वारा आबद्ध नहीं माना जा सकता है। सूची 1 की अवशिष्टीय प्रविष्टि के प्रति हमारा ध्यान आकर्षित करते हुए, काउंसेल ने यह निवेदन किया कि उसके अन्तर्गत उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति से संबंधित क्षेत्र नहीं आ सकता है। विद्वान् काउंसेल के अनुसार, ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति उच्चतर न्यायपालिका के लिए नियुक्ति के विषय में मंत्रि-परिषद् की सलाह द्वारा आबद्ध नहीं माना जा सकता है। चूंकि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति उच्च न्यायिक पद पर नियुक्ति हेतु किसी विशेष अभ्यर्थी की योग्यता, सक्षमता और उपयुक्तता का निर्धारण करने के लिए सबसे बेहतर स्थिति में हैं, अतः सांविधानिक स्कीम में यह आदेश किया गया है कि राष्ट्रपति को भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सलाह को स्वीकार करना (मानना) चाहिए और इसी अर्थ में पश्चात् कथित की राय को इस प्रश्न पर/अन्य सांविधानिक परामर्शदाताओं की राय पर प्राथमिकता प्राप्त होनी चाहिए कि क्या रिक्तियां भरने और न्यायाधीश-संख्या के नियतन के लिए परमादेश का रिट जारी किया जा सकता है। विद्वान् काउंसेल ने श्री नरीमन द्वारा किए गए निवेदनों को अंगीकृत किया। श्री राम जेठमलानी ने इस दलील के समर्थन में 6 कारण दिए कि ऊपर निर्दिष्ट एस० पी० गुप्त वाले मामले में बहुमत की राय पर पुनः विचार किए जाने की आवश्यकता है। ये कारण निम्नलिखित हैं—

(i) अनुच्छेद 50 और 51क के प्रति कोई ध्यान (किसी भी दशा में, पर्याप्त ध्यान) नहीं दिया गया।

(ii) कानूनों के लिए विधिमान्य निर्वचन के सिद्धांत, संविधान का निर्वचन करने के लिए, लागू किए गए,

(iii) डा० अम्बेडकर सहित, संविधान सभा के सदस्यों के भाषणों के रूप में अननुज्ञेय सामग्री का उपयोग किया गया और उसका अवलम्ब लिया गया,

(iv) यह गलत धारणा की गई कि अनुच्छेद 124(2) और 217(1) में राष्ट्रपति से ऐसा राष्ट्रपति अभिप्रेत है, जिसे मंत्रि-परिषद् द्वारा सहायता और सलाह दी जाती है,

(v) इस आधार पर प्राथमिकता गलत ढंग से अस्वीकृत की गई कि भारत के

मुख्य न्यायमूर्ति का पद गैर-चयनात्मक पद था, जिसमें जवाबदेही का अभाव था; और

(vi) ऊपर निर्दिष्ट एस० पी० गुप्त वाले मामले में किया गया विनिश्चय अनवधानता से किया गया विनिश्चय है ।

इन निवेदनों के अतिरिक्त, उन्होंने श्री शांति भूषण के दृष्टिकोण का भी समर्थन किया, यद्यपि कुछ परिवर्तनों सहित । न्यायाधीश-संख्या के नियतन के लिए परमादेश जारी करने की न्यायालय की शक्ति के प्रश्न पर काउंसेल ने यह निवेदन किया कि यदि न्याय-प्रणाली (न्यायिक पद्धति) में पर्याप्त संख्या में और उच्च निष्ठा भाव और सक्षमता से युक्त न्यायाधीश नियुक्त नहीं किए जाते हैं, तो न्यायपालिका अक्षम होगी और न्याय परेशानी में डालने वाला भ्रम और मूल अधिकार मृग-मरीचिका बन कर रह जाएंगे । अतः उन्होंने श्री नरीमन के इस मत का समर्थन किया कि यदि कार्यपालिका अनुच्छेद 216 के अधीन अपने कर्त्तव्य के निर्वहन में असफल रहती है और प्रशासनिक उदासीनता या अनौचित्य दर्शित करती है, तो न्यायालय का यह भारी कर्त्तव्य है कि वह कार्यपालिका की आलोचना करे और उसे अपनी सांविधानिक बाध्यता का निर्वहन करने के लिए आदेश करे । उन्होंने यह कह कर अपना तर्क समाप्त किया कि राष्ट्रीय न्यायिक आयोग की स्थापना, जो संविधान-संशोधन द्वारा अनुध्यात की गई थी, उत्तर प्रदान कर सकती है किन्तु उसे कार्य रूप दिए जाने तक, इस न्यायालय को प्रामाणिक रूप से यह अधिकथित करना चाहिए कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय राष्ट्रपति के लिए आबद्धकर होगी ।

290. भारत संघ की ओर से श्री के० पाराशरन् ने यह निवेदन किया कि असंदिग्ध रूप से, न्यायपालिका की स्वतंत्रता संविधान के आधारभूत सिद्धांतों में से एक है, तथापि, वह एक प्रशंसनीय लक्ष्य अर्थात् न्याय प्राप्त करने का एक साधन मात्र है । सभी जनतांत्रिक देशों में न्यायपालिका की स्वतंत्रता की संकल्पना सामान्यतया इस रूप में समझी जाती है कि उससे कार्यपालिक और विधायी प्रभाव सहित, सभी प्रकार के बाह्य और आंतरिक दबावों से स्वतन्त्रता अभिप्रेत है, किन्तु उसे इस प्रकार कभी भी नहीं समझा गया है जिससे यह अभिप्रेत हो कि राज्य का प्रमुख, न्यायपालिका के प्रमुख की 'परामर्श' की अध्यपेक्षा को 'सहमति' का अर्थ पढ़ने और समझने से, उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय के लिए न्यायाधीशों की नियुक्ति के विषय में रबड़ की मोहर बन कर रह जाता है । उन्होंने यह उपदर्शित किया कि न तो अनुच्छेद 124(2) से और न अनुच्छेद 217(1) से ही इस भाव का बोध होता है कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श के संबंध में उपबंध भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय की प्राथमिकता देने के उद्देश्य से किया गया था । उनके कथनानुसार, संविधान के अधीन उच्चतर न्यायालय के लिए न्यायाधीशों की नियुक्ति एक कार्यपालिक कृत्य है और चूंकि कार्यपालिक शक्ति भारत के राष्ट्रपति में निहित है, अतः अन्तिम विनिश्चय उन्हीं का होना चाहिए, यद्यपि उन्हें मंत्रि परिषद् द्वारा सहायता और सलाह दी जाती है । इसी अनुच्छेद 163(1) के आधार पर राज्यपाल से भी अपनी मन्त्रि-परिषद् की सहायता और प्रकार, सलाह के अनुसार कार्य करने की अपेक्षा की जाती है । अनुच्छेद 217(1) में नामित परामर्श दाताओं में कोई अधिक्रम नहीं है क्योंकि यह कर्त्तव्य प्रकृति में पूर्णतः कार्यपालिक है, न कि न्यायिक या न्यायिककल्प । प्रशासनिक नियंत्रण के विषय में यह बात अवश्य ही ध्यान

में रखी जानी चाहिए कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति का उच्च न्यायालयों पर कोई प्रशासनिक नियंत्रण नहीं होता है जब कि उच्च न्यायालयों का अधीनस्थ न्यायपालिका पर प्रशासनिक नियन्त्रण रहता है। इसी कारण से जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति के संबंध में संविधान के अनुच्छेद 233 के अधीन उच्च न्यायालय द्वारा की गई सिफारिश, संविधान के अनुच्छेद 124(2) और 217(1) के अधीन उच्चतर न्यायपालिका के लिए की जाने वाली नियुक्तियों से भिन्न मानी जाती है। उक्त दोनों अनुच्छेदों में अधिक्रम के सिद्धांत के अभाव में, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय को प्राथमिकता देने का कोई प्रश्न ही उद्भूत नहीं हो सकता है। चूंकि कार्यपालिका संसद् के माध्यम से लोगों के प्रति जबावदेह है, अतः उसे नियुक्ति का उत्तरदायित्व संभालने का कर्त्तव्य व्यादिष्ट किया गया है जिससे कि यदि कोई गलत नियुक्ति की जाती है, तो वह लोगों के प्रति जवाबदेह हो सके। यदि नियुक्ति अनन्यतः भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय पर की जाती है और बाद में वह गलत पाई जाती है, तो उससे भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को परेशानी होगी, जिससे बचा जा सकता था, जैसा कि **श्री कुमार पद्म प्रसाद** बनाम **भारत संघ और अन्य**[1] वाले मामले में हुआ, जिसमें भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सहमति से की गई श्री के० एन० श्रीवास्तव की नियुक्ति इस न्यायालय द्वारा इस आधार पर विखंडित कर दी गई कि नियुक्त किए जाने वाले व्यक्ति के पास अनुच्छेद 217(2) द्वारा विहित अर्हता नहीं थी। अतः काउन्सेल ने यह निवेदन किया कि न्यायपालिका की स्वतंत्रता का प्रश्न नियुक्ति-पश्चात् गारण्टी है और वह नियुक्ति-पूर्व प्रक्रम पर उद्भूत नहीं होता है। उन्होंने यह उपदर्शित किया कि युनाइटेड किंगडम (ब्रिटेन) संयुक्त राज्य अमरीका, आस्ट्रेलिया और कनाडा सहित, सभी जनतांत्रिक देशों में, उच्चतर न्यायपालिका के लिए न्यायाधीशों की नियुक्ति कार्यपालिका के हाथ में होती है, न कि न्यायपालिका के हाथ में। जहां तक हमारे संविधान का संबंध है, उसने मध्य मार्ग अपनाया है और कार्यपालिका को यह शक्ति प्रदत्त करते हुए, उसने उसे यह सुनिश्चित करने के लिए कतिपय सांविधानिक कृत्यकारियों से पूर्व परामर्श की अध्यपेक्षा से प्रतिबद्ध कर दिया है कि चयन गुणता के आधार पर किया जाता है और गलती की गुंजाइश कम से कम रहती है। इस निवेदन के समर्थन में उन्होंने हमारा ध्यान डा० अम्बेडकर और संविधान सभा के अन्य सदस्यों के भाषण के प्रति भी आकर्षित किया और इस तथ्य पर जोर दिया कि श्री पोकर साहिब द्वारा मात्र 'परामर्श' के बजाय भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की 'सहमति' का उपबंध करने के लिए प्रस्थापित संशोधन अस्वीकृत कर दिया गया, जो उनके कथनानुसार संविधान सभा के आशय का निश्चयात्मक संकेत था और जो भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय को दी जाने वाली प्राथमिकता का समर्थन करने वाली दलील के विरुद्ध था। अतः उन्होंने यह निवेदन किया कि यह बात संविधान के पुनर्लेखन और शक्ति के हड़पने की कोटि में आएगी, यदि संविधान के अनुच्छेद 124(2), 217(1) और 222(1) में 'परामर्श' शब्द का सहमति अर्थ देने के लिए अर्थान्वयन किया जाता है। उन्होंने इस आधार पर श्री शांति भूषण और श्री राम जेठमलानी की दलीलों को अस्वीकार कर दिया कि हमारे संविधान की स्कीम के अधीन कोई शून्य नहीं है, जहां तक विधायी शक्ति का संबंध है, क्योंकि यदि संविधान की 7वीं अनुसूची में तीनों सूचियों में से किसी भी सूची में विनिर्दिष्ट प्रविष्टि नहीं है, तो उक्त शक्ति को, मूल सूची 1 की प्रविष्टि 97 के साथ पठित, अनुच्छेद 248 में,

[1] जे० टी० (1992) 2 एस० सी० 247=(1992) 2 एस० सी० सी० 428.

खोजा जा सकता है, जिसके द्वारा अवशिष्टीय शक्तियां प्रदत्त की गई है। जहां तक इस दलील का संबंध है कि काफी लम्बे समय से यह प्रथा विकसित हो चुकी है और नियम का रूप धारण कर चुकी है कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के मत के विपरीत कोई नियुक्ति नहीं की जाएगी, उन्होंने हमारा ध्यान श्री एस० के० बोस के तारीख 22 अप्रैल, 1993 के शपथपत्र के प्रति आकर्षित किया, जिससे यह प्रकट होता है कि तारीख 1 जनवरी, 1983 से तारीख 10 अप्रैल, 1993 तक गत दशक में विभिन्न न्यायालयों में कुल मिलाकर 547 नियुक्तियां की गईं, जिनमें से सात नियुक्तियां (दो रिक्तियां जनवरी, 1983 में, दो रिक्तियां जुलाई, 1983 में, एक रिक्ति अगस्त, 1983 में एक रिक्ति सितम्बर, 1985 में और एक रिक्ति मार्च, 1991 में), ऐसी कठोर प्रथा (परम्परा) को नकारते हुए, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के मत के विपरीत की गईं। उन्होंने यह निवेदन किया कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के मत के अनुसार, कार्यपालिका की ओर से किए जाने वाले प्रयास का इस प्रकार अर्थान्वयन नहीं किया जाना चाहिए कि कार्यपालिका ने भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को प्राथमिकता दिए जाने की बात स्वीकार कर ली है। उसका सही महत्त्व यह है कि कार्यपालिका भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के मत को अत्यधिक महत्त्व देती है, जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट एस० पी० गुप्त वाले मामले में बताया गया है, किन्तु कतिपय मामलों में, जिनकी संख्या अनिवार्यतः कम होनी चाहिए, उसके मत से विचलन भी किया गया है, यदि स्थिति ऐसी अपेक्षा करती है। कार्यपालिका के, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के मत को अत्यधिक महत्त्व देते हुए, पारस्परिक सहमति से नियुक्ति करने के प्रयास से उसकी यथा-संभव टकराव से बचने की इच्छा दर्शित होती है, जब तक कि वह अपरिहार्य न हो जाए। अन्त में उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि ऊपर निर्दिष्ट एस० पी० गुप्त वाले मामले में बहुमत की राय द्वारा सही विधि अधिकथित की गई है और किसी प्रकार का हस्तक्षेप अपेक्षित नहीं है। सभी महाधिवक्ताओं ने, सिवाय कर्नाटक के महाधिवक्ता के, श्री पाराशरन् के निवेदन अंगीकृत किए हैं। किन्तु कर्नाटक के महाधिवक्ता ने यह मत व्यक्त किया है कि संविधान के अधीन भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की विशिष्ट स्थिति है, जहां तक भारतीय न्यायपालिका का संबंध है और इसलिए उनकी राय अधिक महत्त्व के लिए हकदार है। अतः कार्यपालिका ऐसे व्यक्ति को नियुक्त नहीं कर सकती जिसकी नियुक्ति का भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा विरोध किया जाता है और इसी प्रकार भारत के मुख्य न्यायमूर्ति कार्यपालिका से ऐसे व्यक्ति को नियुक्त करने की आशा नहीं कर सकते हैं, जिसकी अभ्यर्थिता को कार्यपालिका का अनुमोदन प्राप्त नहीं होता है। दूसरे शब्दों में, कार्यपालिक पक्ष ठोस और विधिमान्य कारणों से, ऐसे व्यक्ति की नियुक्ति करने के लिए आबद्ध नहीं है, जिसके नाम की बाबत भारत के मुख्य न्यायमूर्ति सहित न्यायिक पक्ष द्वारा निर्बाधन (अनापत्ति) व्यक्त कर दिया जाता है किन्तु उसके द्वारा ऐसे व्यक्ति की नियुक्ति नहीं की जा सकती है, जिसके नाम की बाबत न्यायिक पक्ष द्वारा अनापत्ति व्यक्त नहीं की गई है। न्यायाधीश-संख्या के नियतन के प्रश्न पर उन्होंने यह दलील दी कि उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति और भारत के मुख्य न्यायमूर्ति इस संबंध में विनिश्चय करने और राष्ट्रपति को सिफारिश करने के लिए सर्वाधिक उपयुक्त व्यक्ति हैं, जिन्हें अनिवार्यतः उसे स्वीकार कर लेना चाहिए। अतः उनकी राय में, ऊपर निर्दिष्ट एस० पी० गुप्त वाले मामले में बहुमत की राय को उपर्युक्त रीति में उपान्तरित या स्पष्ट किए जाने की आवश्यकता है।

291. विद्वान् महान्यायवादी, श्री मिलन बनर्जी तारीख 5 मार्च, 1993 को न्यायालय में उपस्थित थे जब पूर्वोक्त दोनों याचिकाएं इस न्यायपीठ के समक्ष सुनवाई के लिए मंगाई गईं। न्यायालय के अनुरोध पर, उन्होंने ऊपर निर्दिष्ट सुभाष शर्मा वाले मामले में खंड न्यायपीठ द्वारा विरचित दोनों प्रश्नों पर सूचना स्वीकार की। बाद में उन पर तारीख 16 मार्च, 1993 की लिखित सूचना की तामील की गई, जिसमें चार प्रश्न विरचित किए गए थे। विद्वान् महान्यायवादी का यह कहना है कि तारीख 16 मार्च, 1993 की लिखित सूचना में विरचित चारों प्रश्न ऊपर निर्दिष्ट सुभाष शर्मा वाले मामले द्वारा इस न्यायपीठ को निर्देशित दोनों मुद्दों के अनुसार नहीं हैं। भारत के विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति की प्राथमिकता के प्रधान विवाद्यक पर, विद्वान् महान्यायवादी ने यह निवेदन किया कि उच्चतर न्यायालय के लिए न्यायाधीशों की नियुक्ति के संबंध में सांविधानिक उपबंधों की, इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए, परीक्षा की जानी है कि नियुक्ति-पूर्व प्रक्रम पर अनुध्यात परामर्श की वैसी तीव्रता नहीं होगी, जैसी कि नियुक्ति-पश्चात् प्रक्रम पर परामर्श की होती है। उन्होंने यह निवेदन किया कि न्यायिक कुटुम्ब में प्रवेश से पूर्व, न्यायपालिका का परामर्श की प्रक्रिया में प्रवेश-पश्चात् प्रक्रम की तुलना में काफी बड़ा हाथ रहता है और उसका सीधा-सादा कारण यह है कि प्रवेश-पश्चात् प्रक्रम पर न्यायपालिका की स्वतंत्रता पर्याप्त महत्त्व धारण कर लेती है। उन्होंने यह निवेदन भी किया कि 'परामर्श' शब्द का अनुच्छेद 124(2) और 217(1) में 'सहमति' शब्द से भिन्न रूप में प्रयोग किया गया है और इसलिए पूर्वकथित का इस प्रकार अर्थान्वयन करना कि उससे पश्चात् कथित अभिप्रेत है, और तद्द्वारा भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को निषेधाधिकार प्रदत्त करना, जो संविधान के उपबंधों द्वारा अनुध्यात नहीं है, उचित नहीं होगा। उन्होंने यह निवेदन किया कि प्रवेश-पश्चात् प्रक्रम पर परामर्श भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय को अधिक महत्व दिए जाने के लिए हकदार बना देगा, उदाहरणार्थ, संविधान के अनुच्छेद 217(3) या 222(1) के अधीन। इसी प्रकार, अनुच्छेद 233(2) में 'सिफारिश' शब्द का परामर्श से भिन्न अर्थ है। वस्तुतः अनुच्छेद 233 के दोनों खण्डों द्वारा यह अन्तर सामने लाया गया है। उन्होंने यह निवेदन भी किया कि न्यायपालिका की स्वतंत्रता केवल नियुक्ति-पश्चात् प्रक्रम पर ही गुरुतर महत्त्व धारण करती है, न कि नियुक्ति-पूर्व प्रक्रम पर। नियुक्ति-पूर्व प्रक्रम पर कार्यपालिका की भी नियुक्ति हेतु किसी अभ्यर्थी का चयन करने में, महत्वपूर्ण भूमिका होती है और इसी कारण 'परामर्श' के स्थान पर 'सहमति' शब्द को प्रतिस्थापित करने के प्रयास का संविधान-सभा द्वारा समर्थन नहीं किया गया। मात्र इस तथ्य का कि सामान्यतया कार्यपालिका की भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के मत पर अनुकूल प्रतिक्रिया रहती है, किसी अभ्यर्थी की नियुक्ति या अभ्यर्थी की नियुक्ति के इनकार के विषय में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को निषेधाधिकार देने के लिए गलत अर्थान्वयन नहीं किया जा सकता है। उन्होंने यह निवेदन किया कि राष्ट्रपति मंत्रि-परिषद् की सहायता और सलाह से कार्य करने की बाध्यता के अधीन हैं और वह उस सलाह से विचलन नहीं कर सकते हैं तथा भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सलाह स्वीकार नहीं कर सकते हैं, यदि कोई मतभेद है। उन्होंने यह निवेदन किया कि हमारी सांविधानिक स्कीम में अन्य सांविधानिक कृत्यकारियों की तुलना में प्राथमिकता का प्रश्न उद्भूत नहीं होता है, क्योंकि परामर्शदाताओं के बीच कोई अधिक्रम नहीं है और ऐसा मत परामर्श की संकल्पना से ही अन्तर्निहित रूप से असंगत होगा। तथापि, यदि प्राथमिकता से यह अभिप्रेत है कि परामर्शदाताओं के बीच मतभेद होने की दशा में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के मत को अधिक महत्त्व दिया जाना चाहिए, तो कदाचित् यह निर्वचन

स्वीकार किया जा सकता है । इस संबंध में, उन्होंने यह निवेदन किया कि ऊपर निर्दिष्ट एस० पी० गुप्त वाले मामले में न्या० पाठक का मत अंगीकृत नहीं किया जा सकता है । अन्त में, उन्होंने यह निवेदन किया कि यदि दो मत युक्तियुक्त रूप से संभव हैं और पूर्वतर विनिश्चय द्वारा एक मत के पक्ष में पसन्द व्यक्त की गई है, तो इस न्यायपीठ को केवल इस कारण पुर्नविलोकन शक्तियों के प्रयोग द्वारा उस पसन्द में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए कि दूसरा मत अधिक संतोषजनक प्रतीत होता है, जब तक कि लोक हित या इसी प्रकार की अन्य कोई चीज पुन: विचार को अनिवार्य न बनाती हो । काउन्सेल ने यह निवेदन किया कि वर्तमान मामले में, निर्देशकारी निर्णय में भी यह नहीं कहा गया है कि पुर्नविलोकन के लिए ऐसी कोई बाध्यकारी आवश्यकता उद्‌भूत हुई है ।

292. न्यायाधीश-संख्या के नियतन के प्रश्न पर, उन्होंने यह निवेदन किया (चूंकि) न्यायाधीश-संख्या के नियतन के प्रयोजन के लिए न्यायिक रूप से प्रबन्धनीय मानक नहीं है, अत: कार्यपालिका को परमादेश जारी करना उचित नहीं होगा, क्योंकि विनिश्चय करने में, अनेक अकल्पनीय बातों सहित, विभिन्न कारक सामने आते हैं और इसलिए संविधान ने अनुच्छेद 216 के अधीन कार्यपालिका पर कर्तव्य ठीक ही अधिरोपित किया है । किसी विशेष मामले में अधिक से अधिक न्यायालय कार्यपालिका का ध्यान न्यायाधीश-संख्या को पुनरीक्षित करने की आवश्यकता के प्रति आकर्षित कर सकता है और युक्तियुक्त समय के भीतर समुचित विनिश्चय करने के लिए उसे कार्यपालिका पर छोड़ सकता है । उनके कथनानुसार, न्यायालय ऐसे विषयों पर न्याय निर्णयन करने के लिए उपयुक्त स्थिति में नहीं हैं, जो अनिवार्यत: प्रकृति में कार्यपालिक हैं और इसलिए उन्हें संयम बरतना चाहिए । अन्त में उन्होंने यह दलील दी कि न्यायालय को ऊपर निर्दिष्ट सुभाष शर्मा वाले मामले में विरचित दोनों विवाद्यकों तक ही स्वयं को सीमित रखना चाहिए और अन्य प्रश्नों पर विचार करने से प्रविरत रहना चाहिए, क्योंकि अभिवचन केवल उन दो प्रश्नों तक ही सीमित हैं । चूंकि केवल इन दो प्रश्नों का उत्तर देने के लिए ही विभिन्न राज्य सरकारों, भारत संघ और विभिन्न महाधिवक्ताओं को सूचना दी गई थी, अत: अन्य प्रश्नों पर विचार करना अविवेकपूर्ण और जोखिमपूर्ण होगा, जो उन पर विनिर्दिष्ट अभिवचनों के बिना, बार में याचियों और उनके साथियों के काउन्सेल द्वारा उठाए गए थे । ऐसा कोई भी विनिश्चय, जो समुचित अभिवचनों के बिना ऐसे गम्भीर सांविधानिक विवाद्यकों पर किया जाता है, जोखिमपूर्ण होगा और वह अधिक से अधिक इतरोक्ति मात्र होगा तथा प्रज्ञा यह अपेक्षा करती है कि न्यायालय को उन प्रश्नों का उत्तर देने से प्रविरत रहना चाहिए । संक्षेप में, विद्वान् महान्यायमूर्ति ने यह दलील दी कि ऊपर निर्दिष्ट एस० पी० गुप्त वाले मामले में बहुमत की राय पर पुन: विचार किए जाने की आवश्यकता नहीं है; यह कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की प्राथमिकता की संकल्पना उच्चतर न्यायपालिका के लिए न्यायाधीशों की नियुक्ति से संबंधित सांविधानिक उपबंधों से निष्कर्षित नहीं की (नहीं निकाली) जा सकती है; और यह कि, किसी भी दशा में परामर्श से सहमति अभिप्रेत नहीं हो सकती है तथा भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को प्राथमिकता के नाम पर निषेधाधिकार प्रदत्त नहीं किया जा सकता है । उन्होंने यह निवेदन किया कि अधिक से अधिक जब अनुच्छेद 124(2) या 217(1) के अधीन परामर्शदाताओं के बीच मतभेद है, तब भारत के मुख्य न्यायमूर्ति का मत सामान्यतया अभिभावी हो सकता है, जब तक कि उसका अननुमोदन करने के लिए सशक्त, स्पष्ट और बाध्यकर कारण न हों । किन्तु वह राय कार्यपालिका के

लिए आबद्धकर नहीं मानी जा सकती है। दूसरे शब्दों में, उन्होंने यह निवेदन किया कि यदि न्यायालय उनके निवेदनों को अस्वीकार भी कर देता है, तब भी अधिक से अधिक भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की प्राथमिकता के प्रश्न पर ऊपर निर्दिष्ट एस० पी० गुप्त वाले मामले में न्या० पाठक का मत अंगीकृत किया जा सकता है।

293. हम आगे बढ़ने से पूर्व चेतावनी के रूप में कुछ शब्द कहना चाहेंगे। संविधान वह है, जिसे न्यायाधीश संविधान कहें। ऐसा इसलिए है कि संविधान का निर्वचन करने की शक्ति न्यायाधीशों में निहित है। उस समय न्यायाधीशों पर भारी उत्तरदायित्व आ जाता है, जब उनसे संविधान का निर्वचन करने की अपेक्षा की जाती है। यह उत्तरदायित्व उस समय और भारी हो जाता है, जब अर्थान्वियन किए जाने वाले उपबंध न्यायपालिका की शक्तियों के संबंध में हों। यह आवश्यक है कि अन्य सांविधानिक कृत्यकारियों में इस भावना को दूर करने के लिए कि निर्वचन की प्रक्रिया द्वारा शक्ति को हड़पा गया है, उच्चतर न्यायपालिका के लिए नियुक्तियों के विषय में कार्यपालिका के मुकाबले न्यायपालिका की शक्ति से संबंधित सांविधानिक उपबंधों का निर्वचन करते समय पूर्ण निष्पक्षता बरती जानी चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं है कि न्यायपालिका ऐसी आलोचना के बारे में असम्यक् रूप से चिंतित हो बल्कि इसका आशय केवल इस तथ्य पर जोर देना है कि ऐसे मामलों में उत्तरदायित्व गुरुतर हो जाता है। दूसरे शब्दों में, जहां संविधान की भाषा स्पष्ट है और द्वि-अर्थक शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया है, वहां इस धारणा से बचने का प्रयास किया जाना चाहिए कि उपबंधों का सुविधाजनक अर्थान्वियन करने के कार्य को संभव बनाने के उद्देश्य से काल्पनिक अस्पष्टताएं गढ़ ली गई हैं। यदि शब्द स्पष्ट और असंदिग्ध हैं, तो उन्हें अवश्य ही प्रभावी बनाया जाना चाहिए, क्योंकि संविधान-सभा का यही आशय है, चाहे आप इसे पसन्द करें या नहीं करें, और काल्पनिक अस्पष्टताओं का निर्वचन करने की आड़ में उससे प्रकट रूप में किसी भी प्रकार का विचलन न्यायपालिका की विश्वसनीयता और निष्पक्षाता पर गम्भीर शंका उत्पन्न करेगा। ऐसा प्रतीत होगा मानो न्यायाधीशों ने अपने उस कर्तव्य से विचलन किया है, जिसकी बाबत उन्होंने शपथ ग्रहण की है; ऐसी किसी भी भावना (धारणा) के होने से लोगों के विश्वास को गहरा आघात पहुंचेगा और वह उस आधार को ही हिला कर रख देगा, जिस पर न्यायिक भवन खड़ा हुआ है। न्यायपालिका का प्रयोजन (सरोकार), सांविधानिक उपबंधों का, उनकी सही परिधि और आशय के अनुसार, निष्ठापूर्वक निर्वचन करना होना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से ही लोगों का न्याय-प्रणाली में विश्वास बढ़ेगा। वह एक लोक हित, जिसे न्यायालय अपने प्रयोजन की वस्तु मानने के लिए समुचित रूप से हकदार हैं, वह अवस्थिति और सम्मान की मात्रा है, जो न्याय-प्रणाली द्वारा प्राप्त की जाती है, जैसा कि **ड्यूपोर्ट स्टील लि० बनाम सर्स और अन्य**[1] वाले मामले में लार्ड कीथ ने कहा है। हम रिपोर्टर के पृ० 551 पर इसी मामले में लार्ड स्कारमैन की सलाह को उद्धृत करना उचित समझते हैं—

> "बड़े (महान्) न्यायाधीश अपनी विभिन्न रीतियों में न्यायिक कार्यकर्ता (हुआ करते) हैं। किन्तु संविधान की शक्तियों के पृथक्करण या, सही-सही कहें तो, कृत्यों के पृथक्करण को माना जाना चाहिए, ताकि न्यायिक स्वतंत्रता को कोई जोखिम न

---

[1] (1980) 1 आल इंग्लैण्ड रिपोर्टर 529 पृ० 550.

1993(10) eILR(PAT) SC 1

हो, क्योंकि यदि लोग और संसद् यह समझने लगे कि न्यायिक शक्ति को न्यायालय की सही चीज की समझ (सेल्डन के शब्दों में 'बाई दि लैंग्थ आफ दि चांसलर्स फुट') से भिन्न किसी अन्य चीज द्वारा सीमित नहीं किया जाना है तो न्याय प्रणाली में विश्वास के स्थान पर की भावना आ जाएगी और उसके लागू किए जाने में अनिश्चितता और मनमानेपन का भय आ जाएगा। तब समाज संसद् द्वारा न्यायाधीशों की शक्ति के सीमित किए जाने के लिए तैयार रहेगा। न्याय करने की उनकी शक्ति विधि द्वारा, आवश्यकता से अधिक, या जैसी कि वह इस समय है, उससे भी अधिक निर्बन्धित हो जाएगी।"

स्वयं चेतावनी के शब्द कहने के पश्चात्, बल्कि अपने विशेष उत्तरदायित्व के बारे में स्वयं को सजग (जागरूक) बनाने के पश्चात्, अब हम, हमारे अवधारणार्थ उठाए गए प्रश्नों पर विचार करने के लिए अग्रसर होते हैं।

294. शक्तियों के पृथक्करण की संकल्पना, सुविदित आधारभूत राजनीतिक उक्ति है, जो अनेक आधुनिक जनतंत्रों द्वारा अंगीकृत की गई है। हमारे संविधान ने कठोरतापूर्वक उक्त सिद्धांत को अंगीकृत नहीं किया है किन्तु उसमें यह सुनिश्चित करने के लिए शक्तियों के वितरण का उपबंध किया गया है कि सरकार का एक अंग अन्य अंगों की सांविधानिक शक्तियों का अतिक्रमण नहीं करता है। यह बात संविधान के भाग 5 और भाग 6 से स्पष्ट है। इस बात के बारे में कोई विवाद नहीं है और हो भी नहीं सकता है कि शक्तियों के वितरण की संकल्पना, बाह्य और आन्तरिक दबावों से मुक्त न्यायिक पद्धति (न्याय-प्रणाली) के अस्तित्व की धारणा करती है। हमारी सांविधानिक स्कीम के अधीन, न्यायपालिका को हमारे नागरिकों के मूल अधिकारों को रक्षोपाय प्रदान करने और विधि के नियम (विधि-सम्मत शासन) को बनाए रखने का दुर्भर कार्य सौंपा गया है। चूंकि न्यायालयों को संविधान और विधि की गरिमा कायम रखने का कर्तव्य सौंपा गया है, अतः प्रायः उसका राज्य से संघर्ष (टकराव) हो जाता है, जब वह उपेक्षाकारी (अनिच्छुक) या उदासीन राज्य-अभिकरणों से अनुपालन कराके अपने आदेशों को प्रवृत्त करने का प्रयास करता है। अतः गुणी और चरित्रवान्, साहसी और दृढ़-संकल्प तथा निष्पक्ष और स्वतंत्र व्यक्तियों से युक्त स्वतंत्र और निष्पक्ष न्यायपालिका की आवश्यकता (उद्भूत होती) है। भय या पक्षपात, द्वेष या राग के बिना न्याय (की व्यवस्था) हमारे संविधान का मुख्य सिद्धांत है और इस महान् देश के लोगों को प्रत्येक न्यायाधीश का निष्ठापूर्ण आश्वासन है। बार में इस बात के बारे में दो राय नहीं हो सकती हैं कि स्वतंत्र और निष्पक्ष न्यायपालिका किसी भी स्वतंत्र समाज की सर्वाधिक आवश्यक विशेषता (लक्षण) है। यद्यपि इस प्रश्न पर कि हमारी न्यायपालिका कार्यपालिका और विधायिका से स्वतंत्र होनी चाहिए, बार में कोई मतभेद नहीं है, तथापि उक्त संकल्पना की वास्तविक अन्तर्वस्तु के विषय में कुछ मतभेद था। अतः हमारे देश में इस संकल्पना के विकास की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर संक्षिप्त रूप से दृष्टि डालना उचित होगा।

295. यह सुविदित है कि इस देश में न्यायिक स्वतंत्रता की संकल्पना का मूल इंग्लैंड में इस संकल्पना के विकास से जुड़ा हुआ है। इंग्लैंड में शताब्दियों तक सम्राट् सभी शक्तियों का आधान था और उसके द्वारा स्थापित न्यायालय उसे छोड़ कर किसी अन्य के प्रति जवाब-देह नहीं थे, क्योंकि वह न्याय-प्रशासन की पद्धति का अभिन्न अंग था। यह पूर्णतः कार्य-

पालिक व्यवस्था थी । किन्तु 17वीं शताब्दी के दौरान, सम्राट् और संसद् के बीच टकराव के परिणामस्वरूप वस्तु-स्थिति में परिवर्तन आने लगा, क्योंकि दोनों में एक-दूसरे पर आधिपत्य के लिए प्रतिस्पर्धा होने लगी । सर्वोच्चता के इस संघर्ष में दोनों ने विधि के आवरण का अवलम्ब लेने का प्रयास किया, जिससे न्यायपालिका केन्द्र-बिन्दु बन गई क्योंकि केवल वही सम्राट् और संसद् के विशेषाधिकारों के बीच कृत्यात्मक परिधि को सीमांकित करने के लिए सक्षम थी । इसी स्थिति ने न्यायिक स्वतंत्रता के सिद्धांत को जन्म दिया । सम्राट् और संसद्, दोनों ही ने स्वतंत्र न्यायपालिका के महत्त्व को महसूस किया । तथापि, आंग्ल संसद् न्यायपालिका पर अपने नियंत्रण को ढीला करने के लिए तैयार नहीं थी और न्यायपालिका की कृत्यात्मक स्वतंत्रता पर जोर देने का काम मु० न्या० कोक के जिम्मे आया। जब संसद् ने यह महसूस किया कि सम्राट् प्रसाद सिद्धांत के कारण अपनी उच्च स्थिति पर जोर देने में समर्थ था, तो उसने 1700 ई० का सैटलमेंट ऐक्ट अधिनियमित किया, जिसके द्वारा सद्व्यवहार और संसद् के दोनों सदनों द्वारा संबोधन पर हटाए जाने की शर्त के अधीन रख कर, उसकी अवधि की सुरक्षा का उपबंध किया गया । न्यायाधीशों के वेतनों को अभिनिश्चित और स्थिर किया जाना था । इस प्रकार इंग्लैण्ड में न्यायपालिका सम्राट् और संसद्, दोनों ही, से स्वतंत्र हो गई । किन्तु ब्रिटिश उपनिवेशों में स्थिति भिन्न थी । यद्यपि आंग्ल न्यायपालिका ने स्वतंत्रता प्राप्त कर ली, तथापि न तो सम्राट् और न संसद् ही उसे उपनिवेशों को न्यायिक स्वतंत्रता देने के लिए तैयार थी । वर्ष 1759 में जब पैनसिलवानिया असेम्बली द्वारा एक विधि अधिनियमित की गई, जिसके द्वारा न्यायाधीश के हटाए जाने के लिए सभा (असेम्बली) के संबोधन की अपेक्षा की गई, तब प्रिवी कौंसिल ने औपनिवेशिक सभा पर न्यायपालिका को आश्रित बनाने के प्रयास के रूप में उक्त अध्युपाय का अनुमोदन नहीं किया । चूंकि ब्रिटिश संसद् सर्वोच्च थी और वह उपनिवेशों से संबंधित विधि अधिनियमित कर सकती थी, जो न्यायालय की संवीक्षा के अधीन नहीं होती, अत: अमेरिकी उपनिवेशवादियों ने, जिनका कोई प्रतिनिधित्व नहीं था, ब्रिटेन के आशय पर शंका व्यक्त की । अत: जब उन्होंने स्वतंत्रता प्राप्त की, तब उन्होंने सरकार की तीनों शाखाओं के पूर्ण पृथक्करण का पक्ष लिया, जिससे कि प्रत्येक शाखा अन्य शाखा द्वारा शक्ति के प्रयोग पर नियंत्रण के रूप में कार्य करेगी । अत: न्यायिक स्वतंत्रता की अमरीकी संकल्पना ब्रिटिश संकल्पना से कुछ भिन्न है । हमारे संविधान-निर्माता इन घटनाओं से अवगत थे और जैसा कि हम अभी दर्शित करेंगे, उन्होंने मध्यम मार्ग अपनाया ।

296. उच्चतर न्यायपालिका के लिए नियुक्तियों से संबंधित हमारी सांविधानिक स्कीम पर विचार करने से पूर्व, हमारे लिए ब्रिटेन में अपनाई जाने वाली पद्धति और अन्य सामान्य विधि पद्धतियों (कॉमन लॉ सिस्टम्स) तथा संयुक्त राज्य अमरीका में अपनाई जाने वाली पद्धति को ध्यान में रखना उपयोगी होगा । ब्रिटेन में लार्ड चांसलर को "एक-में-तीन" की विशिष्ट (अनूठी) स्थिति प्राप्त है । वह एक ही समय में न्यायपालिका का प्रमुख, हाउस आफ लार्ड्स का पीठासीन अधिकारी (सभापति) और मंत्रिमण्डल का सदस्य (होता) है । इस विशिष्ट स्थिति द्वारा यह व्यादिष्ट है कि वह शक्तियों का पृथक्करण और न्यायपालिका की स्वतंत्रता सुनिश्चित करे । उसके उत्तरदायित्वों में से एक उत्तरदायित्व न्यायाधीशों और अन्य न्यायिक अधिकारियों का चयन और नियुक्ति करना है । यह सुनिश्चित करने के लिए कि नियुक्त किए जाने वाले व्यक्ति उच्चतम वृत्तिक क्षमता, निष्ठा और न्यायिक गुणवत्ता

1993(10) eILR(

वाले व्यक्ति हैं, लार्ड चांसलर के कार्यालय द्वारा अधिकथित कतिपय दिशा-निर्देशों का अनुसरण किया जाता है। चूंकि उच्च न्यायालय और उससे ऊपर के स्तर के लिए नियुक्तियां आमंत्रण द्वारा की जाती है, अतः व्यापक परामर्श के सिद्धांत का अनुसरण किया जाता है। इस प्रकार अभिप्राप्त मतों को एकत्र और लेखबद्ध किया जाता है और उन पर विचार करने के पश्चात् नियुक्ति हेतु प्रस्थापना प्रस्तुत की जाती है। इंग्लैण्ड और वेल्स के 'लार्ड्स जस्टिस आफ अपील' और न्यायाधीशों को प्रधान मंत्री की सिफारिश पर साम्राज्ञी द्वारा नियुक्त किया जाता है। इस प्रकार यह देखा जाएगा कि नियुक्ति की प्रक्रिया अनिवार्यतः कार्यपालिक प्रक्रिया है, तथापि कोई भी यह नहीं कहता है कि आंग्ल न्यायपालिका स्वतंत्र नहीं है, वस्तुतः उसे अत्यधिक स्वतंत्र न्यायपालिका के रूप में मान्यता प्रदान की गई है।

297. अमरीकी पद्धति के अधीन अनेक राज्य न्यायाधीशों को निर्वाचित किया जाता है; उन न्यायाधीशों की, जिन्हें निर्वाचित नहीं किया जाता है, नियुक्तियां विधायी सहमति के अधीन होती हैं। किन्तु उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों के मामले में, राष्ट्रपति नाम-निर्देशन करता है। योग्यता, विशेषज्ञता, स्वतंत्रता और सार्वजनिक (लोक) विश्वास की अध्यपेक्षाएं सामान्य हैं, फिर भी इस बात को स्वीकार किया गया है कि विचारधारा, राजनीतिक उपयुक्तता आदि जैसे अन्य कारक भी चयन-प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। 1984 के राष्ट्रपतीय (निर्वाचन) अभियान के दौरान, जब न्यायिक नियुक्तियों पर बहस छिड़ी, न्यायाधीश विलियम रेहंक्विस्ट ने अभिकथित रूप से यह कहा—"इस बात का कोई भी कारण नहीं है कि राष्ट्रपति को ऐसे लोगों को नियुक्त क्यों नहीं करना चाहिए...... जिनका उसके राजनीतिक या दार्शनिक सिद्धांतों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण है" और उसका यह उल्लेख करके समर्थन किया कि राष्ट्रपति "एक ऐसा पदधारी है, जो संपूर्ण राष्ट्र द्वारा निर्वाचित किया जाता है" और इसलिए जनता का "न्यायालय की सदस्यता के बारे में कुछ दखल होता है" (वाशिंगटन पोस्ट, अक्तूबर 10, 1984 पृ० 6)। राजनीतिक और वैचारिक उपयुक्तता के अतिरिक्त, जाति, लिंग आदि पर आधारित "प्रतिनिधित्व" अभ्यर्थियों के चयन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। ऐसा प्रतीत होगा कि अन्तिम लक्ष्य न्यायालय को अमरीका की विविध जातीयता को परिलक्षित करने वाला रूप देना और तद्द्वारा लोगों की दृष्टि में न्याय संस्था की विधिसम्मतता और विश्वसनीयता बढ़ाना है। अतः यह स्पष्ट है कि उच्चतम न्यायालय के लिए नामनिर्देशन हेतु अभ्यर्थी का चयन करने में अभ्यर्थी के राजनीतिक और विचारधारा संबंधी मत सुसंगत समझे जाते हैं और न्यायालय को प्रतिनिधि रूप देने का प्रयास किया जाता है, जिससे कि न्यायालय लोगों की दृष्टि में विधिसम्मतता व्युत्पन्न (प्राप्त) कर सके। निस्संदेह, राष्ट्रपति द्वारा किए गए नामनिर्देशन की सीनेट द्वारा पुष्टि अवश्य ही की जानी चाहिए। सीनेट भी, नामनिर्देशन का अनुमोदन या अननुमोदन करने से पूर्व, अपने विचार-विमर्श के दौरान नामनिर्देशिती की वैचारिक और राजनीतिक उपयुक्तता, उसकी योग्यता, सक्षमता, अनुभव और पात्रता अभिनिश्चित करने का प्रयास करती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संयुक्त राज्य अमरीका के उच्चतम न्यायालय के लिए नियुक्ति हेतु अभ्यर्थी का चयन करने की प्रक्रिया अनन्यतः कार्यपालिक कृत्य है, जिसे सीनेट का समर्थन प्राप्त है। निश्चय ही, यह तर्क नहीं दिया जा सकता है और वस्तुतः दिया भी नहीं गया कि अमरीका के लोग, जो न्यायपालिका की पूर्ण स्वतंत्रता को सुनिश्चित करने के उद्देश्य से शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत को प्रवृत्त कराने में अति उत्साही थे, उसके साथ

1993(10) eILR(PAT) SC 1

ही उसे क्षीण करने के इच्छुक होंगे। न्यायिक स्वतंत्रता की उनकी संकल्पना स्पष्टतया नियुक्ति-पश्चात्-उपयोज्यता की संकल्पना है। जब एक बार नामनिर्देशन पूरा हो जाता है और अभ्यर्थी न्यायिक कुटुम्ब में प्रवेश कर लेता है, तो उसे संस्थागत और व्यष्टिगत, दोनों ही, स्तरों पर पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त होनी चाहिए और उसके न्यायिक कृत्यों के निर्वहन में किसी भी स्रोत से किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए।

298. आस्ट्रेलिया में न्यायाधीश कानून के अनुसार कार्यपालिका द्वारा नियुक्त किए जाते हैं। उच्च न्यायालय और अन्य परिसंघीय न्यायालयों (फैडरल कोर्ट) के लिए नियुक्ति परिसंघीय सरकार द्वारा की जाती है, जब कि राज्य न्यायालयों के लिए नियुक्ति राज्य सरकारों द्वारा की जाती है। नियुक्तियां गवर्नर जनरल या सपरिषद् गवर्नर (गवर्नर-इन-कौंसिल) के नाम में की जाती हैं। वस्तुतः वे मंत्रिमण्डल के विनिश्चयों पर निर्भर हैं। जब एक बार उन्हें नियुक्त कर दिया जाता है, वे कार्यपालिका से स्वतंत्र हो जाते हैं। इस प्रकार नियुक्तियों की आस्ट्रेलियाई पद्धति यूनाइटेड किंगड्म (ब्रिटेन) और संयुक्त राज्य अमरीका में प्रचलित पद्धति से भिन्न है।

299. कनाडा में दो प्रान्तों को छोड़ कर, प्रत्येक प्रांत में उच्चतर, जिला और काउंटी न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्तियां गवर्नर जनरल द्वारा की जाती हैं। इसके अतिरिक्त, दसों प्रांतों में से प्रत्येक प्रांत में प्रान्तीय न्यायालयों में प्रान्तीय न्यायाधीशों की नियुक्ति की स्वयं अपनी प्रक्रिया है। इस संबंध में कोई एकरूपता नहीं है किन्तु नियुक्तियां अनिवार्यतः कार्यपालिका द्वारा की जाती हैं।

300. न्यूजीलैण्ड में न्यायाधीशों के चयन में न्यायपालिका की भूमिका काफी सक्रिय है। न्यूजीलैण्ड के मुख्य न्यायमूर्ति को प्रधान मंत्री की सिफारिश पर गवर्नर जनरल द्वारा नियुक्त किया जाता है, जो सामान्यतया इस विषय में महान्यायवादी से चर्चा करता है। महान्यायवादी कोर्ट आफ अपील के प्रेसीडेंट की और अप्ररूपिकतः (अनौपचारिक रूप से) कुछ अन्य न्यायाधीशों की राय लेता है। जहां उच्च न्यायालय के लिए नियुक्तियां की जानी होती हैं, वहां मुख्य न्यायमूर्ति अन्य न्यायाधीशों से परामर्श करने के पश्चात् एक सूची तैयार करता है और सिफारिश करता है, जिसकी महान्यायवादी संवीक्षा करता है। अपनी ओर से जांच करने के पश्चात्, वह न्यूजीलैण्ड लॉ सोसाइटी से परामर्श करता है और सकारात्मक उत्तर मिलने पर वह अभ्यर्थी को सूचित करता है और उसके सहमत हो जाने पर मंत्रिमण्डल को उसकी जानकारी दी जाती है। उसके पश्चात् मंत्रिमण्डल गवर्नर जनरल को प्ररूपिक सिफारिश करता है, जो नियुक्ति करता है।

301. भारत में अंग्रेजों के आने के पश्चात्, न्याय-प्रणाली (न्यायिक पद्धति) में अनेक परिवर्तन आए। ईस्ट इण्डिया कंपनी द्वारा स्थापित न्यायालय अनन्यतः कार्यपालिक थे। तत्पश्चात् मुम्बई, कलकत्ता और मद्रास के प्रेसीडेंसी नगरों में एक नई न्यायिक पद्धति आरम्भ की गई, जिसमें तीन प्रकार के न्यायालय समाविष्ट थे। इस प्रकार गठित न्यायालयों को उक्त तीनों प्रेसीडेंसी नगरों में उच्चतम न्यायालयों की स्थापना द्वारा प्रतिस्थापित किया गया। मुख्य न्यायमूर्ति और अन्य न्यायाधीश क्राउन (सम्राट्) के प्रसादपर्यन्त अपना पद धारित करते थे, यद्यपि उनके वेतन अभिनिश्चित थे। उच्च न्यायालय अधिनियम (हाई

कोर्ट्स ऐक्ट), 1861 (के) अधिनियमित जिए जाने पर, वर्ष 1862 में इन न्यायालयों का स्थान उच्च न्यायालयों ने ले लिया। 1919 और 1935 के भारत शासन अधिनियमों के अधीन नियुक्ति की शक्ति अनन्यतः क्राउन के पास थी किन्तु पश्चात् कथित अधिनियम के अधीन अधिवर्षिता की आयु, क्राउन की प्रिवी कौंसिल की न्यायिक समिति की रिपोर्ट पर कदाचार या मानसिक अथवा शारीरिक दौर्बल्य के कारण किसी न्यायाधीश को हटाने की शक्ति के अधीन रहते हुए, 60 वर्ष नियत की गई। इस प्रकार न्यायाधीशों को कार्यपालिका से स्वतंत्रता प्राप्त थी किन्तु वे क्राउन के प्रसाद के अधीन सेवा करते रहे। तथापि, न्यायिक स्वतंत्रता की ब्रिटिश संस्कृति के कारण, उच्च न्यायालय के न्यायाधीश किसी कार्यपालिक हस्तक्षेप या हस्तक्षेप के भय के बिना कृत्य करते थे। बाद में परिसंघीय न्यायालय (फैडरल कोर्ट) ने न्यायिक स्वतंत्रता की इस महान् परम्परा को सुदृढ़ किया। इस संक्षिप्त ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को उपवर्णित करने का प्रयोजन यह उपदर्शित करना है कि संपूर्ण कार्यपालिक नियंत्रण से प्रायः संपूर्ण न्यायिक स्वतंत्रता तक पैण्डुलम किस प्रकार इधर से उधर (स्थिति में उलट-फेर) होता रहा, सिवाय प्रसाद सिद्धांत की सीमित परिधि के। हमारे संविधान-निर्माता इंग्लैण्ड, अमरीका और ब्रिटिश भारत में इन घटनाओं से अवगत थे, जब उन्होंने स्वतंत्र भारत के लिए संविधान का प्रारूप तैयार करने का कार्य अपने हाथ में लिया। यह देखा जाएगा कि उस समय भी नियुक्ति की शक्ति पूर्णतः कार्यपालिका के हाथ में थी।

302. हमारे संविधान में, तल-स्तर पर अधीनस्थ न्यायालय, राज्य-स्तर पर उच्च न्यायालय और संघ स्तर पर उच्चतम न्यायालय सहित, त्रि-स्तरीय न्यायपालिका परिकल्पित की गई है। संघ कार्यपालिका, अर्थात् उच्चतम न्यायालय से सम्बन्धित उपबंध अध्याय 4 में हैं, राज्यों में उच्च न्यायालयों से संबंधित उपबंध अध्याय 5 में हैं और अधीनस्थ न्यायालयों से संबंधित उपबंध संविधान के भाग 6 के अध्याय 6 में हैं। हम सर्वप्रथम अधीनस्थ न्यायालयों से संबंधित उपबंधों पर विचार करना उचित समझते हैं, जो अनुच्छेद 233 से 237 में हैं। अनुच्छेद 233 में 'जिला न्यायाधीश' की नियुक्ति का उपबंध किया गया है, जो पद अनुच्छेद 236(क) में परिभाषित किया गया है। अनुच्छेद 233(1) में यह उपबंध किया गया है कि किसी राज्य में जिला न्यायाधीश नियुक्त होने वाले व्यक्तियों की नियुक्ति तथा जिला न्यायाधीश की तैनाती और प्रोन्नति में राज्य का राज्यपाल ऐसे राज्य के संबंध में अधिकारिता का प्रयोग करने वाले उच्च न्यायालय से परामर्श करके करेगा। यहां यह अवेक्षा करना उचित होगा कि परामर्श उच्च न्यायालय गठित करने वाले न्यायाधीशों के संपूर्ण निकाय से है, न कि उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति जैसे किसी एक व्यष्टि से। अनुच्छेद 233(2) में यह कहा गया है कि वह व्यक्ति जो संघ की या राज्य की सेवा में पहले से नहीं है, जिला न्यायाधीश नियुक्त होने के लिए केवल तभी पात्र होगा जब वह कम से कम 7 वर्ष तक अधिवक्ता या प्लीडर रहा हो और उसकी नियुक्ति के लिए उच्च न्यायालय ने सिफारिश की हो। अनुच्छेद 235 के अधीन, जिला न्यायालयों और उनके अधीनस्थ न्यायालयों का नियंत्रण, जिसके अन्तर्गत राज्य की न्यायिक सेवा के व्यक्तियों और जिला न्यायाधीश के पद से अवर किसी पद को धारण करने वाले व्यक्तियों की तैनाती, प्रोन्नति और उनको छुट्टी देना है, उच्च न्यायालय में निहित होगा। अनुच्छेद 237 द्वारा राज्यपाल को यह निदेश करने के लिए सशक्त किया गया है कि इस अध्याय और तद्धीन बनाए गए किन्हीं भी नियमों के उपबंध ऐसे अपवादों और उपान्तरणों के अधीन रहते हुए, जो ऐसी अधिसूचना

में विनिर्दिष्ट किए जाएं, राज्य में किसी वर्ग या वर्गों के मजिस्ट्रेटों के संबंध में वैसे ही लागू होंगे, जैसे वे राज्य की न्यायिक सेवा में नियुक्त व्यक्तियों के संबंध में लागू होते हैं। "न्यायिक सेवा" पद को अनुच्छेद 236(ख) में इस प्रकार परिभाषित किया गया है कि उससे ऐसी सेवा अभिप्रेत है जो अनन्यतः ऐसे व्यक्तियों से मिल कर बनती है, जिनके द्वारा जिला न्यायाधीश के पद का और जिला न्यायाधीश के पद से अवर अन्य सिविल न्यायिक पदों का भरा जाना आशयित है। अनुच्छेद 233 के परिशीलन मात्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिला न्यायाधीश नियुक्त करने की शक्ति राज्य के राज्यपाल में निहित है, जिसका प्रयोग उसे संबंधित उच्च न्यायालय से परामर्श करके या उसकी सिफारिश पर करना चाहिए। इस प्रकार उच्च न्यायालय से परामर्श या उसकी सिफारिश राज्य के राज्यपाल द्वारा शक्ति के प्रयोग के लिए पुरोभाव्य शर्त है।

303. अब हम राज्यों में उच्च न्यायालयों से संबंधित उपबंधों पर आते हैं। अनुच्छेद 214 द्वारा यह आदेश किया गया है कि प्रत्येक राज्य के लिए एक उच्च न्यायालय होगा। अनुच्छेद 216 के अधीन, प्रत्येक उच्च न्यायालय मुख्य न्यायमूर्ति और ऐसे अन्य न्यायाधीशों से मिल कर बनेगा जिन्हें राष्ट्रपति समय-समय पर नियुक्त करना आवश्यक समझे। हम इस प्रक्रम पर यह उपदर्शित करना उचित समझते हैं कि प्रत्येक उच्च न्यायालय में नियुक्त किए जाने वाले न्यायाधीश संख्या में उतने होंगे, जितनी कि राष्ट्रपति समय-समय पर नियुक्त करना आवश्यक समझें। अतः इस उपबंध द्वारा राष्ट्रपति पर समय-समय पर न्यायाधीशों की संख्या का पुनर्विलोकन करने का कर्तव्य अधिरोपित किया गया है और यदि वह उच्च न्यायालय में अधिक न्यायाधीश नियुक्त करना आवश्यक समझते हैं, तो उन्हें न्यायाधीशों की संख्या में वृद्धि सुनिश्चित करनी चाहिए। इस संबंध में अनुच्छेद 217(1) महत्वपूर्ण है और उसे उद्धृत करना उचित होगा—

> "217. उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति और उसके पद की शर्तें—(1) भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से, उस राज्य के राज्यपाल से और मुख्य न्यायमूर्ति से भिन्न किसी न्यायाधीश की नियुक्ति की दशा में उस उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श करने के पश्चात्, राष्ट्रपति अपने हस्ताक्षर और मुद्रा सहित अधिपत्र द्वारा उच्च न्यायालय के प्रत्येक न्यायाधीश को नियुक्त करेगा और वह न्यायाधीश अपर या कार्यकारी न्यायाधीश की दशा में अनुच्छेद 224 में उपबंधित रूप में और किसी अन्य दशा में तब तक पद धारण करेगा जब तक वह बासठ वर्ष की आयु प्राप्त नहीं कर लेता है :
>
> परन्तु—
>
> (क) कोई न्यायाधीश, राष्ट्रपति को संबोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा अपना पद त्याग सकेगा ;
>
> (ख) किसी न्यायाधीश को उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश को हटाने के लिए अनुच्छेद 124 के खण्ड (4) में उपबंधित रीति से उसके पद से राष्ट्रपति द्वारा हटाया जा सकेगा ;

(ग) किसी न्यायाधीश का पद, राष्ट्रपति द्वारा उसे उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त किए जाने पर या राष्ट्रपति द्वारा उसे भारत के राज्य क्षेत्र में किसी अन्य उच्च न्यायालय को अन्तरित किए जाने पर रिक्त हो जाएगा।"

उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति हेतु अर्हताएं अनुच्छेद 217 के खण्ड (2) में विनिर्दिष्ट की गई हैं। उसमें यह उपबन्ध किया गया है कि कोई व्यक्ति किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति के लिए तभी अर्हित होगा जब वह भारत का नागरिक हो और भारत के राज्यक्षेत्र में कम से कम 10 वर्ष तक न्यायिक पद धारण कर चुका हो या किसी उच्च न्यायालय का या ऐसे दो या अधिक न्यायालयों का लगातार कम से कम 10 वर्ष तक अधिवक्ता रहा हो। उस उपबन्ध का, जो नियुक्ति हेतु किसी विशिष्ट (ख्यातिप्राप्त) न्यायविद् को विचार की परिधि में रखते हुए, संविधान के 42वें संशोधन द्वारा खण्ड (ग) में जोड़ा गया, संविधान के 44वें संशोधन द्वारा लोप कर दिया गया। इस प्रकार अनुच्छेद 217(2) के अधीन, ऐसा व्यक्ति, जिसके पास खण्ड (क) या (ख) में उपवर्णित अर्हताएं नहीं हैं, नियुक्ति के लिए पात्र नहीं होगा। खण्ड (3) संविधान के 15वें संशोधन द्वारा भूतलक्षी प्रभाव से अन्तःस्थापित किया गया। उसमें यह कहा गया है कि यदि किसी न्यायाधीश की आयु के बारे में कोई प्रश्न उठता है तो उस प्रश्न का विनिश्चय भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श करने के पश्चात् राष्ट्रपति द्वारा किया जाएगा और राष्ट्रपति का विनिश्चय अन्तिम होगा। अनुच्छेद 217(1) के परिशीलन मात्र से यह बात पर्याप्त रूप से स्पष्ट हो जाती है कि उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति करने की शक्ति राष्ट्रपति में निहित है और उसका प्रयोग उसके हस्ताक्षर और मुद्रा के अधीन उस निमित्त जारी किए जाने वाले अधिपत्र (वारण्ट) द्वारा किया जाना चाहिए। तथापि, इस शक्ति का प्रयोग (i) भारत के मुख्य न्यायमूर्ति, (ii) राज्य के राज्यपाल; और (iii) मुख्य न्यायमूर्ति से भिन्न न्यायाधीश की नियुक्ति के मामले में उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श 'के पश्चात्' किया जाना है। जब एक बार इस अनुच्छेद के अधीन अनुध्यात परामर्श प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है, तब उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति करने की शक्ति राष्ट्रपति को प्राप्त हो जाती है। एक बार नियुक्त हो जाने पर, वह तब तक पद धारण करेगा, जब तक कि वह 62 वर्ष की आयु अभिप्राप्त नहीं कर लेता है, और जैसा कि अनुच्छेद 121 और 211 में उपबन्ध किया गया है, उसके कर्तव्यों के निर्वहन में उसके आचरण पर संसद् या किसी राज्य विधान मण्डल द्वारा चर्चा (बहस) नहीं की जाएगी, सिवाय उसके हटाए जाने के लिए लाए गए प्रस्ताव पर। उसे, उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के हटाए जाने के लिए संविधान के अनुच्छेद 124(4) द्वारा उपबंधित रीति में ही, उसके पद से हटाया जा सकता है। तथापि, वह, उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किए जाने पर या राष्ट्रपति द्वारा संविधान के अनुच्छेद 222(1) के अधीन भारत राज्यक्षेत्र के अन्दर किसी अन्य उच्च न्यायालय को स्थानांतरित किए जाने पर अपना पद रिक्त कर देगा। अनुच्छेद 219 में यह उपबंध किया गया है कि उच्च न्यायालय का न्यायाधीश होने के लिए नियुक्त प्रत्येक व्यक्ति, अपना पद ग्रहण करने से पहले, उस राज्य के राज्यपाल या उसके द्वारा इस निमित्त नियुक्त व्यक्ति के समक्ष, तीसरी अनुसूची में इस प्रयोजन के लिए दिए गए प्ररूप 8 के अनुसार शपथ लेगा या प्रतिज्ञान करेगा और उस पर हस्ताक्षर करेगा। यह प्ररूप इस प्रकार है—

> "मैं, अमुक, जो ...उच्च न्यायालय का मुख्य न्यायमूर्ति (या न्यायाधीश) नियुक्त हुआ हूं, $\frac{\text{ईश्वर की शपथ लेता हूं}}{\text{सत्यनिष्ठा से प्रतिज्ञान करता हूं}}$ कि मैं विधि द्वारा स्थापित भारत के संविधान के प्रति सच्ची श्रद्धा और निष्ठा रखूंगा, मैं भारत की प्रभुता और अखंडता अक्षुण रखूंगा तथा मैं सम्यक् प्रकार से और श्रद्धापूर्वक तथा अपनी पूरी योग्यता, ज्ञान और विवेक से अपने पद के कार्यों का भय या पक्षपात, अनुराग या द्वेष के बिना पालन करूंगा तथा मैं संविधान और विधियों की मर्यादा बनाए रखूंगा।"

अनुच्छेद 221 में उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को संदत किया जाने वाला वेतन अधिकथित किया गया है। वेतन द्वितीय अनुसूची की मद सं० 10 पर विनिर्दिष्ट किया गया है। उसके पश्चात् अनुच्छेद 221(2) में यह उपबंध किया गया है कि प्रत्येक न्यायाधीश ऐसे भत्तों का तथा अनुपस्थिति, छुट्टी और पेंशन के संबंध में ऐसे अधिकारों का जो संसद् द्वारा बनाई गई विधि द्वारा या उसके अधीन समय-समय पर अवधारित किए जाएं और जब तक इस प्रकार अवधारित नहीं किए जाते हैं तब तक ऐसे भत्तों और अधिकारों का जो दूसरी अनुसूची में विनिर्दिष्ट हैं, हकदार होगा। परन्तुक में यह कहा गया है कि किसी न्यायाधीश के भत्तों में और अनुपस्थिति, छुट्टी या पेंशन के संबंध में उसके अधिकारों में उसकी नियुक्ति के पश्चात् उसके लिए अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जाएगा इस उपबन्ध से यह स्पष्ट है कि न्यायाधीश के वेतन को संविधान द्वारा संरक्षण प्रदान किया गया है और उच्च न्यायालय न्यायाधीश (सेवा की शर्तें) अधिनियम, 1954 द्वारा उसे प्रदत्त भत्तों और पेंशन तथा अन्य प्रसुविधाओं को भी उक्त परन्तुक द्वारा इस अर्थ में संरक्षण प्रदान किया गया है कि उनमें उसकी नियुक्ति के पश्चात् उसके लिए अलाभकर परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। अनुच्छेद 202(3) (घ) के आधार पर, उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन और भत्तों की बाबत व्यय प्रत्येक राज्य की संचित निधि पर प्रभारित किया गया है। इसके पश्चात् अब हम अनुच्छेद 222(1) पर आते हैं, जो इस प्रकार है—

> "किसी न्यायाधीश का एक उच्च न्यायालय से दूसरे उच्च न्यायालय को अन्तरण—(1) राष्ट्रपति, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श करने के पश्चात् किसी न्यायाधीश का एक उच्च न्यायालय से दूसरे उच्च न्यायालय को अन्तरण कर सकेगा।"

उक्त उपबन्ध के उप-खण्ड (2) में स्थानांतरित न्यायाधीश को प्रतिकर-भत्ते के संदाय का उपबंध किया गया है। इस प्रकार राष्ट्रपति को किसी न्यायाधीश को एक उच्च न्यायालय से दूसरे उच्च न्यायालय को स्थानांतरित करने की शक्ति प्रदत्त की गई है, जिसका प्रयोग उसे भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श करने के पश्चात् ही करना चाहिए। इस बात के बारे में कोई विवाद नहीं है कि परामर्श प्रभावी, सार्थक और सप्रयोजन होना चाहिए। अनुच्छेद 224 में अपर और कार्यकारी न्यायाधीशों की नियुक्ति का उपबंध किया गया है और अनुच्छेद 224-क द्वारा सेवा-निवृत्त न्यायाधीशों की नियुक्ति अनुज्ञात की गई है। अपर और कार्यकारी न्यायाधीश नियुक्त करने की शक्ति राष्ट्रपति को प्रदत्त की गई है। तथापि, सेवा-निवृत्त न्यायाधीशों की सेवा की अध्यपेक्षा करने की शक्ति का प्रयोग उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा राष्ट्रपति की पूर्व सहमति (अनुमति) से किया जाना है। अनुच्छेद 229 के अधीन, उच्च न्यायालय के अधिकारियों और सेवकों की नियुक्ति की शक्ति न्यायालय के

मुख्य न्यायमूर्ति या न्यायालय के ऐसे अन्य न्यायाधीश या अधिकारी में निहित की गई है, जिसे वह निदिष्ट करे। संविधान के इन उपबंधों से यह स्पष्ट है कि नियुक्ति की शक्ति राष्ट्रपति में निहित की गई है और उसका प्रयोग इसमें इससे पूर्व वर्णित विभिन्न उपबंधों में उपवर्णित रीति में किया जाना है। आद्योपांत, संपूर्ण स्कीम यह है कि उक्त शक्ति का प्रयोग राष्ट्रपति द्वारा किया जाना है या जहां यह शक्ति मुख्य न्यायमूर्ति को प्रदत्त की गई है, वहां उसे उसका प्रयोग राष्ट्रपति की सहमति (अनुमति) से करना है। इस अध्याय की स्कीम से यह प्रकट होता है कि अनुच्छेद 217(1) के अधीन राष्ट्रपति द्वारा की जाने वाली नियुक्ति भारत के मुख्य न्यायमूर्ति, राज्य के राज्यपाल से और न्यायाधीश की नियुक्ति के मामले में, उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श करने के पश्चात् की जानी चाहिए। किंतु यदि उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की आयु के संबंध में कोई प्रश्न उत्पन्न होता है, तो राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श करने के पश्चात् उसका विनिश्चय करने के लिए सशक्त है। यहां राज्य के राज्यपाल या उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श करने की कोई अध्यपेक्षा नहीं है। जब अपर या कार्यकारी न्यायाधीशों की नियुक्ति की बात आती है, तब अनुच्छेद 224 द्वारा राष्ट्रपति को परामर्श की अध्यपेक्षा के बिना नियुक्ति करने के लिए सशक्त किया गया है। किन्तु अनुच्छेद 224-क के अधीन सेवा-निवृत्त न्यायाधीशों की नियुक्ति उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा राष्ट्रपति की सहमति (अनुमति) से की जा सकती है। इस प्रकार इस अध्याय में 'परामर्श' ओर 'सम्मति' दोनों ही, पदों का प्रयोग किया गया है।

304. अब हम संघ न्यायपालिका से संबंधित उपबंध की अवेक्षा करना उचित समझते हैं। अनुच्छेद 124(1) में यह उपबंध किया गया है कि भारत का एक उच्चतम न्यायालय होगा जो भारत के मुख्य न्यायमूर्ति और, जब तक संसद् विधि द्वारा अधिक संख्या विहित नहीं करती है तब तक, 25 से अनधिक अन्य न्यायाधीशों से मिल कर बनेगा। अनुच्छेद 124(2) को, जो हमारे प्रयोजन के लिए सुसंगत है, इस प्रक्रम पर उद्धृत करना उचित होगा—

> "124(2) उच्चतम न्यायालय के और राज्यों के उच्च न्यायालयों के ऐसे न्यायाधीशों से परामर्श करने के पश्चात्, जिनसे राष्ट्रपति इस प्रयोजन के लिए परामर्श करना आवश्यक समझे, राष्ट्रपति अपने हस्ताक्षर और मुद्रा सहित अधिपत्र द्वारा उच्चतम न्यायालय के प्रत्येक न्यायाधीश को नियुक्त करेगा और वह न्यायाधीश तब तक पद धारण करेगा जब तक वह पैंसठ वर्ष की आयु प्राप्त नहीं कर लेता है :
>
> परन्तु मुख्य न्यायमूर्ति से भिन्न किसी न्यायाधीश की नियुक्ति की दशा में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से सदैव परामर्श किया जाएगा।"

उक्त खण्ड के द्वितीय परन्तुक में यह कहा गया है कि कोई भी न्यायाधीश अपने पद से त्याग पत्र दे सकता है या उसे खण्ड 4 में उपबंधित रीति में उसके पद से हटाया जा सकता है। खण्ड (2क) को संविधान के 15वें संशोधन द्वारा यह उपबंध करने के लिए अन्तःस्थापित किया गया कि उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश की आयु ऐसे प्राधिकारी द्वारा और ऐसी रीति से अवधारित की जाएगी जिसका संसद विधि द्वारा उपबंध करे। अनुच्छेद 124 के खण्ड (3) में उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति हेतु अर्हताएं उपवर्णित की

गई हैं। भारत का नागरिक होने के अतिरिक्त, वह किसी उच्च न्यायालय का या ऐसे दो या अधिक न्यायालयों का लगातार कम से कम 5 वर्ष तक न्यायाधीश रहा हो या किसी उच्च न्यायालय का या ऐसे दो या अधिक न्यायालयों का लगातार कम से कम दस वर्ष तक अधिवक्ता रहा हो या वह राष्ट्रपति की राय में पारंगत विधिवेत्ता हो। अनुच्छेद 124(4) में यह उपबंध किया गया है कि उच्चतम न्यायालय के किसी न्यायाधीश को उसके पद से तब तक नहीं हटाया जाएगा जब तक साबित कदाचार या असमर्थता के आधार पर ऐसे हटाए जाने के लिए संसद् के प्रत्येक सदन द्वारा, उस सदन की कुल सदस्य संख्या के बहुमत द्वारा तथा उस सदन के उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के कम से कम दो तिहाई बहुमत द्वारा समर्थित समावेदन, राष्ट्रपति के समक्ष उसी सत्र में रखे जाने पर राष्ट्रपति ने आदेश नहीं दे दिया है। उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में नियुक्त प्रत्येक व्यक्ति से राष्ट्रपति के समक्ष या उसके द्वारा नियुक्त किए गए किसी व्यक्ति के समक्ष शपथ लेने या प्रतिज्ञान करने की अपेक्षा की जाती है, जो तृतीय अनुसूची के प्ररूप 4 में विहित की गई है, जो इस प्रकार है—

> "मैं, अमुक, जो भारत के उच्चतम न्यायालय का मुख्य न्यायमूर्ति (या न्यायाधीश) (या भारत का नियंत्रक महालेखा परीक्षक) नियुक्त हुआ हूं, ईश्वर की शपथ लेता हूं / सत्यनिष्ठा से प्रतिज्ञान करता हूं कि मैं विधि द्वारा स्थापित भारत के संविधान के प्रति सच्ची श्रद्धा और निष्ठा रखूंगा, मैं भारत की प्रभुता और अखण्डता अक्षुण्ण रखूंगा तथा मैं सम्यक् प्रकार से श्रद्धापूर्वक तथा अपनी पूरी योग्यता, ज्ञान और विवेक से अपने पद के कर्तव्यों का भय या पक्षपात, अनुराग या द्वेष के बिना पालन करूंगा तथा मैं संविधान और विधियों की मर्यादा बनाए रखूंगा।"

कोई व्यक्ति, जिसने उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में पद धारण किया है, भारत के राज्यक्षेत्र के भीतर किसी न्यायालय में या किसी प्राधिकारी के समक्ष अधिवचन या कार्य नहीं करेगा [देखें अनुच्छेद 124 का खण्ड (7)]। जैसी कि स्थिति उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की है, उसी प्रकार उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों के मामले में भी, वेतन भत्तों, पेंशन आदि को अनुच्छेद 112 (3) (घ) के अधीन संरक्षण प्रदान किया गया है और वे भारत के संचित निधि पर प्रभारित हैं। उसके कर्तव्यों के निर्वहन में उसके आचरण के विषय में राज्य विधानमण्डल में कोई चर्चा (बहस) नहीं की जाएगी (अनुच्छेद 211) या संसद में चर्चा नहीं की जाएगी (अनुच्छेद 121), सिवाय अनुच्छेद 124 (4) के अधीन उसके हटाए जाने के लिए लाए गए समावेदन (प्रस्ताव) पर। अनुच्छेद 127 और 128 में राष्ट्रपति की पूर्व सम्मति से तदर्थ न्यायाधीशों की नियुक्ति और सेवा-निवृत्त न्यायाधीशों की उपस्थिति का उपबंध किया गया है। अनुच्छेद 146 में यह उपबंध किया गया है कि उच्चतम न्यायालय के अधिकारियों और सेवकों की नियुक्तियां भारत का मुख्य न्यायमूर्ति या उस उच्च न्यायालय का ऐसा अन्य न्यायाधीश या अधिकारी करेगा जिसे वह निर्दिष्ट करे। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अध्याय के अधीन भी राष्ट्रपति की नियुक्ति करने की शक्ति पूर्व परामर्श की अध्यपेक्षा द्वारा सीमित की गई है। अनुच्छेद 127 और 128 द्वारा भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को प्रदत्त शक्ति राष्ट्रपति की पूर्व सहमति की अध्यपेक्षा द्वारा सीमित की गई है।

305. यह सुनिश्चित करने की कि संविधान की उद्देशिका में आश्वस्त न्याय शुद्ध है और वह कार्यपालिक या राजनीतिक हस्तक्षेप द्वारा किसी भी रीति में दूषित नहीं किया जाता है, हमारे संविधान निर्माताओं की व्यग्रता संविधान को देखने से ही स्पष्ट हो जाती है। अनुच्छेद 32 और 226 के अधीन क्रमशः उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों को असाधारण शक्तियां प्रदत्त की गई हैं, जिनसे न्यायालय की न्याय करने की क्षमता में लोगों का विश्वास प्रकट हो। अनुच्छेद 50 द्वारा राज्य की लोक सेवाओं में कार्यपालिका से न्यायपालिका को पृथक् करने के लिए कार्रवाई करने हेतु निदेश दिया गया है। महान्यायवादी और महाधिकता के पदों को, संघ और राज्यों को कानूनी सलाह उपलब्ध कराने के उद्देश्य से सांविधानिक प्रास्थिति प्रदत्त की गई है, जिससे कि वे विधि के नियम के अनुसार कार्य कर सकें और लोक हित को रक्षोपाय प्रदान कर सकें। लोक अभियोजक और सरकारी प्लीडर की भूमिका यह सुनिश्चित करने के लिए ऋजुतापूर्वक कार्य करने की है कि न्याय, विधि के अनुसार, किया जाता है। उसके पश्चात् जिला न्यायाधीशों से निम्न स्तर पर न्यायपालिका के लिए भर्ती राज्य लोक सेवा आयोग के स्वतंत्र अभिकरण के माध्यम से है या उच्च न्यायालय द्वारा आयोजित प्रवेश परीक्षा के माध्यम से। जहां तक जिला न्यायाधीशों के स्तर पर नियुक्तियों का संबंध है, हम पहले ही यह अवेक्षा कर चुके हैं कि अनुच्छेद 233 के अधीन राज्यपाल को नियुक्ति करनी होती है। अनुच्छेद 233 दो भागों में है, प्रथम भाग में संघ या राज्य की सेवा में किसी व्यक्ति की नियुक्ति का उपबंध किया गया है, जो उच्च न्यायालय के परामर्श से राज्यपाल द्वारा की जाएगी और द्वितीय भाग में उच्च न्यायालय की सिफारिश पर 7 वर्ष की अवस्थिति वाले अधिवक्ता या प्लीडर की नियुक्ति का उपबंध किया गया है। राज्यपाल की नियुक्ति की शक्ति को उच्च न्यायालय से परामर्श करने की बाध्यता द्वारा सीमित किया गया है और ऐसा परामर्श सार्थक और सप्रयोजन होना चाहिए और वह थोथी औपचारिकता मात्र नहीं है। परामर्श तब तक पूर्ण सप्रयोजन और प्रभावी नहीं हो सकता है जब तक कि उच्च न्यायालय का, जो किसी न्यायाधीश की योग्यता और उपयुक्तता का निर्धारण करने के लिए सर्वाधिक उपयुक्त निकाय है, परामर्श नहीं किया जाता है और नियुक्त किए जाने से पूर्व उसकी राय नहीं ली जाती है (देखें **चन्द्रमौलीश्वर प्रसाद** बनाम **पटना उच्च न्यायालय और अन्य**[1]) जब एक बार उच्च न्यायालय से परामर्श करने के पश्चात् या उसकी सिफारिश पर राज्यपाल द्वारा नियुक्ति कर ली जाती है और नियुक्त व्यक्ति जिला न्यायाधीशों के संवर्ग में प्रवेश करता है, तब वह संविधान के अनुच्छेद 235 के अधीन उच्च न्यायालय के नियंत्रण के अन्तर्गत आ जाता है। उसकी स्वतंत्रता तब सुरक्षित हो जाती है क्योंकि यह सुस्थापित विधि है कि अनुच्छेद 235 के अधीन उच्च न्यायालय का नियंत्रण अनुशासनिक मामलों और स्थानान्तरण के मामलों को भी लागू हो जाता है (देखें **पश्चिमी बंगाल राज्य** बनाम **नृपेन्द्र नाथ**[2] और **असम राज्य** बनाम **रंग मोहम्मद और अन्य**[3] वाले मामले)। पदच्युति या सेवा से हटाए जाने या निम्नतर संवर्ग में पंक्ति में अवनति के मामलों में ही उच्च न्यायालय को राज्यपाल के आदेश की ईप्सा करनी होती है, क्योंकि वह नियुक्ति

---

[1] [1970] 3 उम० नि० प० 863=[1970] 2 एस० सी० आर० 666

[2] [1966] 1 एस० सी० आर० 771.

[3] [1967] 1 एस० सी० आर० 454

प्राधिकारी है किन्तु यह सुस्थापित विधि है कि सामान्यतया उसे उच्च न्यायालय की सिफारिश पर ही कार्य करना चाहिए।

306. जहां तक उच्च न्यायालय के लिए नियुक्ति का संबंध है, पहले ही उद्धृत अनुच्छेद 217 (1) द्वारा स्पष्टत: राष्ट्रपति पर भारत के मुख्य न्यायमूर्ति, राज्य के राज्यपाल और उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श करने के पश्चात् ही नियुक्ति करने की बाध्यता अधिरोपित की गई है। उक्त अनुच्छेद में तीनों परामर्शियों के बीच किसी अधिक्रम का उपबंध नहीं किया गया है, यद्यपि प्रक्रिया के अनुसार उक्त प्रस्थापना सामान्यतया राज्य के मुख्य न्यायमूर्ति से उद्भूत होती है और तत्पश्चात् वह कार्यपालिका के पास जाती है। राज्यपाल द्वारा उसे अनुमोदित किए जाने के पश्चात् ही भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श किया जाता है। अतः भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा उक्त प्रस्थापना पर राय व्यक्त किए जाने से पूर्व, उसे फाइल की सामग्री की छानबीन करने और अन्य परामर्शियों का दृष्टिकोण समझने का अवसर प्राप्त होता है। वे स्थितियां, जो इससे उत्पन्न हो सकती हैं, संख्या में चार हो सकती हैं, अर्थात्—

(i) तीनों परामर्शी प्रस्थापना पर सहमति व्यक्त करते हैं;

(ii) उच्च न्यायालय का मुख्य न्यायमूर्ति और राज्यपाल सहमति व्यक्त नहीं करते हैं और भारत का मुख्य न्यायमूर्ति पूर्वकथित से सहमत होता है;

(iii) उच्च न्यायालय का मुख्य न्यायमूर्ति और राज्यपाल सहमति व्यक्त नहीं करते हैं और भारत का मुख्य न्यायमूर्ति पश्चात्कथित से सहमति व्यक्त करता है; और

(iv) उच्च न्यायालय का मुख्य न्यायमूर्ति और राज्यपाल सहमति व्यक्त करते हैं किन्तु भारत का मुख्य न्यायमूर्ति सहमति व्यक्त नहीं करता है।

प्रथम स्थिति में, यदि राष्ट्रपति सहमत हो जाते हैं, तो कोई समस्या नहीं हो सकती है किन्तु अन्य तीनों स्थितियों में राष्ट्रपति की क्या प्रतिक्रिया होनी चाहिए? क्या वह तीनों स्थितियों में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय को स्वीकार करने के लिए आबद्ध है? क्या, जब भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के मत को प्राथमिकता दिए जाने की बात कही जाती है, तो उससे यही अभिप्रेत है।

307. अब हम अनुच्छेद 124 (2) पर आते हैं, जिसमें उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति का उपबंध किया गया है। हम उक्त अनुच्छेद पहले ही उद्धृत कर चुके हैं। उसके द्वारा राष्ट्रपति को उच्चतम न्यायालय के ऐसे न्यायाधीशों और राज्यों में उच्च न्यायालयों के ऐसे न्यायाधीशों से परामर्श करने के पश्चात् उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश को नियुक्त करने के लिए सशक्त किया गया है, जिन्हें वह उक्त प्रयोजन के लिए आवश्यक समझे। परामर्श की परिधि बहुत ही व्यापक है, वह उच्चतम न्यायालय के एक या अन्य न्यायाधीश से और देश के अनेक उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के कितने ही न्यायाधीशों से परामर्श कर सकता है। उसके पश्चात् परन्तुक में यह कहा गया है कि मुख्य न्यायमूर्ति से भिन्न न्यायाधीश की नियुक्ति की दशा में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से सदैव परामर्श

1993(10) eILR(PAT) SC 1

किया जाएगा। इस प्रश्न पर कुछ बहस हुई कि क्या उसमें विनिर्दिष्ट किसी एक या अधिक परामर्शियों से परामर्श 'अनिवार्य' (मस्ट) है और 'मे' (कर सकेगा) शब्द द्वारा केवल परामर्शियों में से ही चयन करने के संबंध में विकल्प प्रदान किया गया है या क्या उक्त खण्ड समग्रतः वैकल्पिक है। किन्तु इस बारे में कोई विवाद नहीं था कि परन्तुक द्वारा भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श आदिष्ट किया गया है। हम इस प्रश्न पर समुचित समय पर विचार करेंगे, जब हम संविधान के अनुच्छेद 124 के खण्ड (2) की अन्तर्वस्तु पर विचार करेंगे किन्तु इस प्रक्रम पर यह उपदर्शित करना ही पर्याप्त होगा कि ऊपर निर्दिष्ट एस० पी० गुप्त वाले मामले में न्या० भगवती के अनुसार (पृ० 547), अभी तक केवल भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श करने की ही पद्धति रही है। यह पद्धति इस उपधारणा पर हो सकती है कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श द्वारा खण्ड (2) और उसके परन्तुक की अध्यपेक्षा की पूर्ति हो जाती है। जो भी हो, वे संभव स्थितियां, जो उद्भूत हो सकती हैं, इस प्रकार हैं—

(i) राष्ट्रपति केवल भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श करते हैं;

(ii) राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायमूर्ति और उच्चतम न्यायालय के एक या दो या अधिक न्यायाधीशों से परामर्श करते हैं और उनके मत एक जैसे नहीं हैं;

(iii) राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायमूर्ति और राज्यों के तीनों मुख्य न्यायमूर्तियों से परामर्श करते हैं और उनके मत एक जैसे नहीं है; और

(iv) राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायमूर्ति और एक या अधिक परामर्शियों से परामर्श करते हैं और उन सबके एक जैसे मत हैं

यदि राष्ट्रपति स्थिति सं० (i) और (iv) पर सहमत हैं, तो कोई कठिनाई नहीं होती है किन्तु उस स्थिति में क्या होगा, यदि राष्ट्रपति उक्त मतों से सहमति व्यक्त नहीं करते हैं? तब भी, क्या वह भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के मत से आबद्ध हैं? किन्तु स्थिति सं० (ii) और (iii) में उनकी क्या प्रतिक्रिया होनी चाहिए? क्या वह भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के मत से आबद्ध हैं। क्या प्राथमिकता सिद्धांत का यही अर्थ है? यदि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति का मत आबद्धकर माना जाता है, तो क्या उससे अनुच्छेद 124 के खण्ड (2) में परामर्श से संबंधित उपबंध निरर्थक हो जाएगा? पुनश्च, यदि उनके मत को प्राथमिकता सिद्धांत के आधार पर आबद्धकर माना जाता है, तो क्या राष्ट्रपति उस सलाह को मानने के लिए विवश नहीं होंगे, भले ही वह खण्ड (2) के अधीन परामर्श किए गए अन्य व्यक्तियों के मत के विरुद्ध जाता है? यदि ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है, तो क्या राष्ट्रपति को अन्य परामर्शियों की राय को मानने का विकल्प प्राप्त होगा या नहीं, यदि वह उसे अधिक ठोस और स्वीकार्य पाते हैं? इस प्रकार यह देखा जाएगा कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के मत को प्राथमिकता प्रदान करने के प्रश्न से अनेक स्थितियां उत्पन्न हो सकती हैं, जिन्हें, संविधान का निर्वचन करते समय, अवश्य ही ध्यान में रखा जाना चाहिए।

308. पूर्वगामी विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में न्यायपालिका अन्य देशों की तुलना में, सभी स्तरों पर न्यायाधीशों का चयन करने में अधिक सक्रिय भूमिका

निभाती है । अधीनस्थ न्यायपालिका के लिए नियुक्तियां राज्यपाल द्वारा उच्च न्यायालय से परामर्श करके या उसकी सिफारिश पर की जानी चाहिए, जैसा कि संविधान के अनुच्छेद 233 में उपबंध किया गया है । अनुच्छेद 233 जिला न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति के लिए आत्मनिर्भर उपबंध है और वह दो भागों में है; प्रथम खण्ड में उच्च न्यायालय के परामर्श से ऐसे व्यक्ति की नियुक्ति का उपबंध किया गया है, जो पहले से ही संघ या राज्य की सेवा में है; जब कि द्वितीय खण्ड में उच्च न्यायालय की सिफारिश पर ऐसे व्यक्ति की नियुक्ति का उपबंध किया गया है, जो कम से कम 7 वर्ष तक अधिवक्ता या प्लीडर रहा है । उच्च न्यायालय से परामर्श या उसकी सिफारिश की अध्यपेक्षा अनिवार्य है और विनिश्चय उच्च न्यायालय गठित करने वाले न्यायाधीशों के समग्र निकाय द्वारा किया जाना है । न्यायिक सेवा में जिला न्यायाधीश से भिन्न व्यक्तियों की नियुक्ति के मामले (की दशा) में, अनुच्छेद 234 में यह अपेक्षा की गई है कि उनकी नियुक्तियां राज्य के लोक सेवा आयोग और उच्च न्यायालय से परामर्श करके राज्यपाल द्वारा उस सम्बन्ध में विरचित नियमों के अनुसार की जाएंगी । अतः यद्यपि जिला न्यायाधीश के रूप में किसी व्यक्ति की अन्तिम नियुक्ति की शक्ति राज्यपाल के हाथ में रहती है, तथापि वह तब तक नियुक्ति नहीं कर सकता है जब तक कि, यथास्थिति, उच्च न्यायालय से प्रभावी और सार्थक परामर्श नहीं किया गया है या उच्च न्यायालय ने नियुक्ति की सिफारिश नहीं की है । परामर्श तब तक पूर्ण, सार्थक और प्रभावी नहीं होगा, जब तक कि मत का आदान-प्रदान नहीं हुआ है और असहमति की दशा में, कार्यपालिका ने उच्च न्यायालय को अपनी असहमति के कारण उपदर्शित नहीं कर दिए हैं और वह सामग्री प्रकट नहीं कर दी है, जिस पर असहमति आधारित है । अतः उच्च न्यायालय से परामर्श करने की बाध्यता राज्यपाल द्वारा शक्ति के प्रयोग से इस प्रकार जुड़ी हुई है कि उक्त शक्ति का प्रयोग अनुच्छेद 233(1) द्वारा उपबंधित रीति में ही किया जाना चाहिए, अन्यथा किया ही नहीं जाना चाहिए। यह सुनिश्चित करने के लिए कि परामर्श की अध्यपेक्षा मात्र थोथी प्ररूपिकता (औपचारिकता) बनकर नहीं रह जाती है, यह आवश्यक है कि मतभेद की दशा में, दोनों कृत्यकारियों के बीच मतों का प्रभावी आदान-प्रदान हो, जिससे कि प्रत्येक दूसरे के मत को समझने में समर्थ हो और अन्तिम विनिश्चय किए जाने से पूर्व मतभेद दूर किए जाने का वास्तविक (सद्भाविक) प्रयास किया जाता है । ऐसे मामलों में, जिन्हें अनुच्छेद 233(2) लागू होता है, सामान्यतया, नियम (के विषय) के रूप में, उच्च न्यायालय की सिफारिश स्वीकार की ही जानी चाहिए, जब तक कि 'ठोस और वजनदार कारण' मौजूद न हों, जिस स्थिति में कार्यपालिका को अपना मत उच्च न्यायालय को संसूचित कर देना चाहिए और पश्चात्कथित को उस पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने का अवसर देना चाहिए । (देखें **केरल राज्य** बनाम **ए० लक्ष्मीकुट्टी**[1]) जब एक बार राज्यपाल नियुक्ति कर देता है और नियुक्त व्यक्ति कुटुम्ब का अंग (भाग) बन जाता है, तो उसे अनुच्छेद 235 के अधीन उच्च न्यायालय का संरक्षणात्मक आवरण प्राप्त हो जाता है और उच्च न्यायालय के सिवाय कोई भी उसके विरुद्ध अनुशासनिक कार्रवाई नहीं कर सकता है (देखें **पश्चिमी बंगाल राज्य** बनाम **नृपेन्द्र नाथ बागची**[2]) । पदच्युति या हटाए जाने का अन्तिम आदेश राज्यपाल द्वारा, आन्तरिक

---

1 [1987] 1 उम० नि० प० 485=(1986) 4 एस० सी० सी० 632.

2 [1966] 1 एस० सी० आर० 771 पृ० 789-90.

1993(10) eILR(PAT) SC 1

जांच के परिणाम पर आधारित उच्च न्यायालय द्वारा की गई सिफारिश पर, पारित किया जा सकेगा। अल्पतर दण्ड, अर्थात् पदच्युति, सेवा से हटाए जाने या पंक्ति में अवनति से भिन्न दण्ड स्वयं उच्च न्यायालय द्वारा अधिरोपित किया जा सकता है किन्तु यदि सिफारिश-कृत दण्ड अनुच्छेद 311 के अन्तर्गत आने वाला दण्ड है, तो आदेश राज्यपाल द्वारा ही किया जाना चाहिए। **तेजपाल सिंह** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य**[1] वाले मामले में इस स्थिति को स्पष्ट कर दिया गया है। अतः यह स्पष्ट है कि जिला न्यायाधीशों के चयन के मामले में, उच्च न्यायालय ही इस कारण मुख्य भूमिका निभाता है कि उच्च न्यायालय गठित करने वाले न्यायाधीशों के संपूर्ण निकाय के मत को अत्यधिक महत्व दिया जाता है। अतः यह स्वाभाविक ही है कि इस जानकार निकाय की, जिस निकाय से परामर्श किए जाने की संविधान द्वारा अपेक्षा की गई है, राय से विचलन एक विरल घटना ही हो सकता है, और वह भी अत्यधिक सशक्त, स्पष्ट और बाध्यकर कारणों से ही। ऐसी स्थिति में भी कार्यपालिका द्वारा अन्तिम विनिश्चय किए जाने से पूर्व उच्च न्यायालय से प्रभावी, सप्रयोजन और सार्थक संवाद होना चाहिए। यह महसूस करना आवश्यक है कि संविधान निर्माताओं ने उच्च न्यायालय गठित करने वाले न्यायाधीशों के संपूर्ण निकाय से परामर्श का विमर्शित (जान-बूझकर) उपबंध किया है और उनकी सामूहिक प्रज्ञा ही कार्यपालिका को प्रेषित मत (राय) को महत्व प्रदान करती है और इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि विरल मामलों के सिवाय, जहां ऐसी किसी सामग्री के अभाव में उन्होंने गलती की हो, कार्यपालिका भिन्न दृष्टिकोण अपना सकेगी और उच्च न्यायालय से उक्त सामग्री, अर्थात् आई०बी० रिपोर्ट या वैसी ही किसी अन्य रिपोर्ट के प्रकाश में अपनी राय को पुनरीक्षित करने का अनुरोध कर सकेगी। यह उल्लेख करना महत्वपूर्ण है कि परामर्श उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति तक ही सीमित नहीं है, संभवतः इस कारण कि केवल एक व्यक्ति तक परामर्श सीमित करना बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य नहीं समझा गया। संविधान-निर्माताओं ने एक निकाय के रूप में उच्च न्यायालय की सामूहिक प्रज्ञा का अवलम्ब लेना उचित समझा है, न कि किसी एक व्यक्ति का, चाहे वह कितनी ही ऊंची स्थिति में स्थित क्यों न हो।

309. जहां तक उच्च न्यायालय के लिए नियुक्ति का संबंध है, उसे अनुच्छेद 217(1) लागू होता है। हम इस अनुच्छेद (के पाठ) को पहले ही उद्धृत कर चुके हैं। नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा, उनके हस्ताक्षर और मुद्रा के अधीन अधिपत्र द्वारा की जानी होती है। किन्तु उससे पूर्व भारत के मुख्य न्यायमूर्ति, राज्य के मुख्य न्यायमूर्ति और राज्य के राज्यपाल से परामर्श अवश्य ही किया जाना चाहिए। इन तीनों कृत्यकारियों से परामर्श नियुक्ति की पुरोभाव्य शर्त और अनिवार्य अध्यपेक्षा है। यह सामान्य जानकारी का विषय है कि प्रस्थापना सामान्यतया उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति से उद्भूत होती है, जो उसे मुख्य मंत्री को अग्रेषित करता है। मुख्य मंत्री प्रस्थापना की संवीक्षा करता है और यदि वह कोई स्पष्टीकरण आवश्यक समझता है, तो उसे मुख्य न्यायमूर्ति से अवश्य ही संपर्क करना चाहिए। यदि उसे या राज्यपाल को कोई सुझाव देना हो या किन्हीं नामों को प्रस्थापित करना हो, तो वे ऐसा कर सकेंगे और उसे मुख्य न्यायमूर्ति को अग्रेषित कर सकेंगे, जो सुझावों पर विचार करेगा और अपनी प्रतिक्रिया भेजेगा। उसके पश्चात् मुख्य मंत्री को केन्द्रीय सरकार के विधि और न्याय मंत्रालय को, राज्यपाल से परामर्श करने के पश्चात्, मुख्य न्यायमूर्ति की टिप्पणियों

[1] [1986] 4 उम० नि० प० 1018=(1986) 3 एस० सी० सी० 604 पृ० 610-611.

सहित, यदि कोई हों, प्रस्थापना अग्रेषित करनी चाहिए । तत्पश्चात् विधि और न्याय मंत्री भारत के मुख्य न्यायमूर्ति और प्रधान मंत्री से परामर्श करेंगे और उसके पश्चात्, सलाह सहित, कागजपत्र राष्ट्रपति को अग्रेषित करेंगे, तो तदुपरि नियुक्ति का अधिपत्र (वारण्ट) जारी करेंगे । अनुच्छेद 217(1) के परिशीलन मात्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्रपति तीनों सांविधानिक कृत्यकारियों से 'परामर्श करने के पश्चात्' नियुक्ति करने के लिए सशक्त हैं ; उक्त अनुच्छेद द्वारा तीनों परामर्शियों के बीच किसी अधिक्रम का कोई संकेत नहीं दिया गया है । ये तीनों कृत्यकारी ऐसे लोग हैं, जिनसे परामर्श किया जाता है, उन्हें उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति में परामर्श-भूमिका निभानी होती है, किन्तु नियुक्ति की अन्तिम शक्ति राष्ट्रपति में निहित है, जिन्हें संविधान के अनुच्छेद 74(1) के अनुसार कार्य करना चाहिए । राष्ट्रपति को प्रदत्त शक्ति आत्यंतिक या मनमानी शक्ति नहीं है बल्कि वह तीनों सांविधानिक कृत्यकारियों से पूर्व परामर्श की अध्यपेक्षा द्वारा नियंत्रित, सीमित और प्रतिबद्ध है । परामर्श पूर्ण, सप्रयोजन और सार्थक होना चाहिए और उसे मात्र थोथी औपचारिकता नहीं माना जा सकता है । यदि परामर्श, मत के प्रभावी आदान प्रदान के बिना मात्र थोथी औपचारिकता पाया जाता हैं, तो नियुक्ति दूषित हो जाएगी और संपूर्ण कार्य अन्ततः निरर्थक हो जाएगा । उक्त तीनों सांविधानिक कृत्यकारियों में से प्रत्येक कृत्यकारी उच्च सांविधानिक स्थिति धारण करता है और यह समझना कठिन है कि अभिव्यक्त शब्दों के अभाव में यह किस प्रकार कहा जा सकता है कि उक्त उपबंध द्वारा कोई अधिक्रम परिकल्पित किया गया है । यहां यह बात अवश्य ही ध्यान में रखी जानी चाहिए कि उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति को, नियुक्ति हेतु उसके द्वारा चयनित बार के सदस्यों की विधिक प्रवीणता की गुणवत्ता के संबंध में, गहन जानकारी होनी चाहिए । चूंकि उसे बार के सदस्यों के कार्य को निकटता से देखने का अवसर प्राप्त होता है, अतः उसकी विधिक जानकारी, प्रवीणता और वैसी ही अन्य विशेषताओं के संबंध में अभ्यर्थी की योग्यता का निर्धारण करने के लिए वही सबसे अधिक उपयुक्त व्यक्ति है, जिन विशेषताओं में कार्य करने की उसकी इच्छा और न्यायिक कृत्यों का निर्वहन करने के लिए उसकी उपयुक्तता और प्रकृति भी सम्मिलित है । उस दृष्टिकोण से उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति की राय को अत्यधिक महत्व दिया जाना चाहिए । व्यक्ति के पूर्ववृत्त, उसके राजनीतिक झुकाव, यदि कोई हो, जीवन में उसकी अन्य रुचियों, साथ-सम्बन्ध आदि अन्य विषयों पर कार्यपालिका ही उचित जानकारी प्रदान कर सकती है । इसी प्रकार, कार्यपालिका व्यक्ति की ईमानदारी और निष्ठा तथा कतिपय अन्य सम्बद्ध विषयों के संबंध में जानकारी संगृहीत करने में समर्थ होगी, जिनका उसकी नियुक्ति से संबंध हो सकता है । इस प्रकार, इस क्षेत्र में कार्यपालिका की राय भी उतनी ही महत्वपूर्ण होगी । इन दोनों रायों से, नियुक्ति हेतु प्रस्थापित अभ्यर्थी का व्यक्तित्व प्रकट होगा । चूंकि भारत का मुख्य न्यायमूर्ति भारत में न्यायपालिका का 'कुलपिता' है, अतः उसे इन दोनों परामर्शियों के मत का लाभ प्राप्त होगा और, जहां आवश्यक हो, यदि कोई हो मामले में अन्तिम रूप से अपनी राय बनाने से पूर्व वह उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति और उच्चतम न्यायालय के पीठ पर उक्त न्यायालय के न्यायाधीशों से, यदि कोई हों, संपर्क भी करने में समर्थ हो सकेगा, इस प्रकार बनाई गई उसकी राय निश्चय ही अत्यधिक महत्त्व प्राप्त करने के लिए हकदार होगी क्योंकि उसे प्रस्थापित अभ्यर्थी की उपयुक्तता के प्रश्न पर अन्य दोनों परामर्शियों के मत की छानबीन करने का लाभ प्राप्त हुआ था, किन्तु ऐसी स्थिति में क्या यह कहा जा सकता है कि उसका मत राष्ट्रपति को दिए जाने के लिए अपनी सलाह बनाने

1993(10) eILR(PAT) SC 1

से पूर्व उसका मूल्यांकन करने के लिए कार्यपालिका को प्रतिषिद्ध करते हुए, अन्य लोगों का मत पूर्णतः आच्छादित कर (दबा) देगा। हम इस समय इस प्रश्न को छोड़ रहे हैं और संविधान के अनुच्छेद 124(2) के अधीन नियुक्ति की प्रक्रिया पर विचार करने के लिए अग्रसर हो रहे हैं।

310. हम अनुच्छेद 124(2) पहले ही उद्धृत कर चुके हैं। उक्त अनुच्छेद के खंड (1) में भारत के उच्चतम न्यायालय के गठन का उपबंध किया गया है, जो भारत के मुख्य न्यायमूर्ति और 25 से अनधिक अन्य न्यायाधीशों से मिलकर बनेगा। खण्ड (2) में यह उपबंध किया गया है कि उच्चतम न्यायालय के प्रत्येक न्यायाधीश को राष्ट्रपति अपने हस्ताक्षर और मुद्रा सहित अधिपत्र द्वारा नियुक्त करेगा। नियुक्ति की पद्धति वैसी ही है, जैसी कि उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के मामले में है, अर्थात् राष्ट्रपति के हस्ताक्षर और मुद्रा सहित अधिपत्र द्वारा। किन्तु यहां भी शक्ति का प्रयोग उच्चतम न्यायालय के ऐसे न्यायाधीशों और राज्यों में उच्च न्यायालयों के ऐसे न्यायाधीशों से पूर्व परामर्श की आवश्यकता द्वारा नियन्त्रित और सीमित किया गया है, जैसे राष्ट्रपति आवश्यक समझे। 'ऐसे न्यायाधीश' पद के प्रति निर्देश के अन्तर्गत पूर्वकथित के मामले में भारत का मुख्य न्यायमूर्ति और पश्चात्कथित के मामले में उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायमूर्ति भी आने चाहिए। यदि ऐसा अर्थान्वयन नहीं किया जाता है, तो उससे विभिन्न उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायमूर्तियों के परामर्श की परिधि से अपवर्जित किए जाने की हास्यास्पद स्थिति उत्पन्न हो जाएगी। किसी भी दशा में, उक्त खण्ड के परन्तुक के आधार पर, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श किया ही जाना है क्योंकि उसमें यह आदेश किया गया है कि मुख्य न्यायमूर्ति से भिन्न न्यायाधीश की नियुक्ति के मामले में, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से 'सदैव' परामर्श किया जाएगा। अतः यह स्पष्ट है कि उक्त परन्तुक द्वारा भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श बाध्यकर बनाया गया है, जबकि खंड (2) द्वारा परामर्शियों की परिधि को विस्तृत किया गया है और परामर्शियों के उक्त व्यापक समूह में से एक या अधिक से परामर्श करने का काम राष्ट्रपति के लिए छोड़ दिया गया है। किन्तु नियुक्ति करने से पूर्व उन्हें परामर्श अवश्य ही करना चाहिए। व्यवहार में, जब कभी भी उच्चतम न्यायालय में कोई स्थायी रिक्ति प्रत्याशित हो या उद्भूत हो, तब भारत का मुख्य न्यायमूर्ति उक्त तथ्य विधि और न्याय मंत्री को संसूचित करेगा और उसके साथ ही उस रिक्ति को, जिसके उद्भूत होने की संभावना है या जो पहले ही उद्भूत हो चुकी है, भरने के लिए अपनी सिफारिश अग्रेषित करेगा। सिफारिश की प्राप्ति पर, उसे तुरन्त स्वीकार किया जा सकेगा, जिस स्थिति में राष्ट्रपति से नियुक्ति करने का अनुरोध किया जा सकता है या संविधान के अनुच्छेद 124(2) के अधीन परामर्श की परिधि के अन्तर्गत आने वाले न्यायाधीशों में से एक या अधिक न्यायाधीशों से परामर्श किया जा सकेगा। यदि ऐसे परामर्श के पश्चात्, मंत्री ऐसे परामर्श से उद्भूत होने वाले किसी मामले को भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की जानकारी में लाना वांछनीय समझता है या ऐसे किसी अन्य व्यक्ति के दावे का सुझाव देना वांछनीय समझता है, जिसकी पश्चात्कथित द्वारा सिफारिश नहीं की गई है, तो वह भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को अपने मत/सुझावों को प्रेषित कर सकता है। अन्ततः भारत के मुख्य न्यायमूर्ति का मत अभिप्राप्त कर लेने पर, मंत्री से यह आशा की जाती है कि वह प्रधान-मंत्री को उससे अवगत कराए और उसकी सहमति से राष्ट्रपति को चयन के बारे में सलाह दे। राष्ट्रपति उक्त सलाह पर

कार्य करेगा और नियुक्ति का अधिपत्र जारी करेगा। इस पद्धति से, जो अब तक अपनाई जाती रही है, यह प्रकट होता है कि केन्द्रीय सरकार की अनुच्छेद 124(2) के बारे में समझ यह है कि सरकार के लिए उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश से, जिसमें उच्च न्यायालय का कोई मुख्य न्यायमूर्ति भी सम्मिलित है, परामर्श करना आवश्यक नहीं है, यदि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श पर्याप्त समझा जाता है और आगे कोई परामर्श आवश्यक नहीं समझा जाता है। यदि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के मत को प्राथमिकता दी जानी है, तो अन्य परामर्शियों के मत निरर्थक हो जाएंगे और अधिक से अधिक उनसे भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को अपने मत में परिवर्तन करने के लिए अनुरोध करने के प्रयोजन की ही पूर्ति होगी। किन्तु यदि वह अपनी राय नहीं बदलता है, तो अन्य परामर्शियों की राय निरर्थक हो जाएगी। क्या संविधान का यही आशय है?

311. प्राथमिकता के प्रश्न पर विचार करने के लिए अग्रसर होने से पूर्व, हम एक संलग्न परिस्थिति के प्रति निर्देश करना उचित समझेंगे, जिसका याची के विद्वान् काउन्सेल और उनके सहयोगियों (साक्षियों) द्वारा अपने इस निवेदन का समर्थन करने के लिए उपयोग किया गया कि भारत सरकार ने भी उक्त उपबंध का इस प्रकार अर्थान्वियन किया है कि उसके द्वारा भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को प्राथमिकता प्रदत्त की गई है। उक्त परिस्थिति यह तथ्य है कि पिछले एक दशक से भी अधिक समय में, विभिन्न न्यायालयों को तारीख 1 जनवरी, 1983 से 10 अप्रैल, 1993 तक की गई कुल 547 नियुक्तियों में से, केवल 7 नियुक्तियां (1983 में 5, 1985 में एक और 1991 में एक) भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के मत के विरुद्ध की गई, जो विद्वान् काउन्सेल के अनुसार, इस तथ्य का स्पष्ट साक्ष्य है कि कार्यपालिका ने भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की प्राथमिकता स्वीकार की है। यह निवेदन किया गया कि संसद् के अन्दर और उसके बाहर भी संघ मंत्रियों द्वारा बार-बार दिए गए भाषणों से यह धारणा उत्पन्न हुई है कि केन्द्रीय सरकार भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सहमति के बिना उच्चतम न्यायालयों के लिए नियुक्तियां न करने की नीति का अनुसरण करती रही है। काउन्सेल ने यह निवेदन किया कि ऊपर निर्दिष्ट एस० पी० गुप्त वाले मामले में प्राथमिकता के प्रश्न पर बहुमत के विनिश्चय के होते हुए भी वास्तविक व्यवहार में केन्द्रीय सरकार ने सदा यह माना कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सहमति नियुक्ति करने के लिए आवश्यक थी। अतः यदि अब तक अपनाई जाती रही पद्धति को ध्यान में रखा जाता है, तो यह अभिनिर्धारित करने में कोई कठिनाई नहीं है कि ऊपर निर्दिष्ट एस० पी० गुप्त वाले मामले में बहुमत की राय पर पुनः विचार किए जाने की आवश्यकता है। हमारे मतानुसार, यह तर्काधार पूर्णतः अस्वीकार्य है। यहां यह बात अवश्य ही ध्यान में रखी जानी चाहिए कि देश की उच्चतर न्यायपालिका के लिए नियुक्ति हेतु अभ्यर्थियों के चयन की प्रक्रिया में, कार्यपालिक और न्यायिक दोनों ही पक्षों द्वारा मतैक्य, अर्थात् सामान्य समझ, प्राप्त करने का हर संभव प्रयास किया जाना चाहिए और अधिकांश मामलों में इस बात का कोई कारण नहीं होता है कि ऐसा संभव क्यों नहीं हो सकता। कार्यपालिका और न्यायपालिका विपरीत (परस्पर विरोधी) प्रयोजनों के लिए कार्य नहीं करती हैं; वस्तुतः उनका उद्देश्य सामान्य है और इसलिए वास्तव में यह बात बड़ी ही आश्चर्यजनक होगी, यदि उनके बीच विभिन्न श्रेणी के मामलों में आपसी समझबूझ का अभाव रहता है। कार्यपालिका और न्यायपालिका एक दूसरे की विरोधी नहीं हैं और उनसे यह आशा नहीं की जाती है कि वे विपरीत प्रयोजन

के लिए कार्य करेंगी, तब, यदि सात को छोड़कर अधिकांश मामलों में उनमें नियुक्ति हेतु अभ्यर्थियों के चयन के विषय में सहमति हुई है, तो उसमें क्या आश्चर्य है और सांख्यिकीय (आंकड़ों-संबंधी) जानकारी के अभाव में यह विश्वास करने का क्या औचित्य है कि इन सभी मामलों में कार्यपालिका ने भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के मत को स्वीकार किया है? क्या ऐसा नहीं हो सकता है कि कुछ मामलों में कार्यपालिका भारत के मुख्य न्यायमूर्ति का अपने दृष्टिकोण के बारे में समाधान कराने में समर्थ रही और कुछ अन्य मामलों में भारत का मुख्य न्यायमूर्ति कार्यपालिका से अपना दृष्टिकोण मनवाने में समर्थ रहा? यदि कार्यपालिका का दृष्टिकोण मतभेद को कम करने के लिए मतैक्य प्राप्त करना है, तो वस्तुतः यह एक स्वस्थ दृष्टिकोण है, जिसके बारे में यह नहीं समझा जाना चाहिए कि उसके द्वारा प्राथमिकता संकल्पना को स्वीकार कर लिया गया है। वस्तुतः, यदि मतभेद अत्यधिक होते हैं, तो हर कोई यह विश्वास करेगा कि उच्चतर न्यायपालिका के न्यायाधीशों का चयन करने की सांविधानिक मशीनरी का भंग हो गया है। वस्तुतः सात मामलों में अन्तर, जो निस्संदेह एक नगण्य प्रतिशतता है, प्राथमिकता संकल्पना की अस्वीकृति का स्पष्ट (प्रामाणिक) साक्ष्य है; बल्कि उससे यह दर्शित होता है कि कार्यपालिका संयम और भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के मत के प्रति सम्यक् सम्मान दर्शित करते हुए कार्य करती है। समायोजन (तालमेल) के दृष्टिकोण को संपूर्ण अधीनता के दृष्टिकोण के रूप में समझना उचित नहीं होगा। वस्तुतः भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के मत से विचलन के सातों उदाहरण प्राख्यान (पुष्टोक्ति) के मामले हैं, जो प्राथमिकता के सिद्धांत की स्वीकृति के निष्कर्ष को नकारते हैं और कृपया आप इस तथ्य पर ध्यान दें कि ये सभी एस० पी० गुप्त वाले मामले में किए गए निर्णय के बाद के उदाहरण हैं, जो व्यक्तिगत रूप से और सामूहिक रूप से कार्यपालिका के भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा व्यक्त मत से विचलन करते हुए, नियुक्ति करने के अधिकार के प्राख्यान और पश्चात्कथित के मत से संलग्न प्राथमिकता की संकल्पना की अस्वीकृति का साक्ष्य प्रदान करते हैं। ऐसी स्थिति में, इस निवेदन को स्वीकार करना कठिन है कि कार्यपालिका ने भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सहमति से 547 में से 540 नियुक्तियां करके भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के मत की प्राथमिकता स्वीकार कर ली थी। अन्यथा भी, अत्यधिक महत्व के सांविधानिक प्रश्नों को समझने और उनका निर्वचन करने के लिए ऐसी छोटी-मोटी परिस्थिति का अवलम्ब लेना, तिनके को पकड़ने जैसा निराशापूर्ण प्रयास ही प्रतीत होगा।

312. न्यायपालिका से संबंधित संविधान के सुसंगत उपबंधों से, जिनके प्रति हम पहले निर्देश कर चुके हैं और जिन्हें हम इसमें इससे पूर्व उद्धृत कर चुके हैं, यह स्पष्ट है कि संविधान ने विभिन्न स्थितियों से निपटने के लिए विभिन्न पदों का प्रयोग किया है। 'परामर्श' शब्द का प्रयोग संविधान के अनुच्छेद 124(2), 217(1) और (3) और 233(1) में किया गया है, 'पूर्व सहमति' पद का प्रयोग अनुच्छेद 127, 128 और 224-क में किया गया है, 'सिफारिश की हो' पद का प्रयोग अनुच्छेद 233(2) में किया गया है और 'अनुमोदन' शब्द का प्रयोग संविधान के अनुच्छेद 145 और अनुच्छेद 229(2) के परन्तुक में किया गया है। इन उपबंधों के प्रति निर्देश दृष्टांत-स्वरूप है, न कि निश्शेषकारी। अतः उपर्युक्त बातों से यह प्रकट हो जाएगा कि उच्चतर न्यायपालिका के लिए नियुक्ति के मामले में राष्ट्रपति कतिपय सांविधानिक कृत्यकारियों से परामर्श करने की प्रक्रिया को पूरा करने के पश्चात् ही नियुक्ति

की अपनी शक्ति का प्रयोग कर सकते हैं, न्यायपीठ में कार्य करने के लिए तदर्थ न्यायाधीशों या सेवा-निवृत्त न्यायाधीशों की नियुक्ति की प्रक्रिया में उस शक्ति का प्रयोग राष्ट्रपति की 'पूर्व सहमति (सम्मति)' से किया जा सकता है, नियम विरचित करने के मामले में राष्ट्रपति/राज्यपाल का 'अनुमोदन' आवश्यक है और जिला न्यायाधीश के पद पर नियुक्ति के मामले में उच्च न्यायालय की सिफारिश परिकल्पित की गई है। इसी प्रकार स्थानान्तरण या आयु के अवधारण के मामले में भी भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श आवश्यक है। इस प्रकार यह देखा जाएगा कि विभिन्न अर्थ देने के लिए विभिन्न पदों का प्रयोग किया गया है। हम पहले ही यह उपदर्शित कर चुके हैं कि अनुच्छेद 124(2) और 217(1) की स्पष्ट भाषा से यह द्योतित नहीं होता है कि परामर्श की प्रक्रिया से भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के मत से सहमति अभिप्रेत है। तथापि, याचियों और उनके साथियों के काउन्सेलों ने यह निवेदन किया कि उक्त पद को ऐसा अर्थ दिया जाना चाहिए, जो अनुच्छेद 50 में यथा-सन्निहित, न्यायपालिका की स्वतंत्रता के सांविधानिक दर्शन और संविधान द्वारा आदिष्ट मूल कर्तव्य के निर्वहन और उसके आदर्शों तथा संस्थाओं के लिए सम्मान की भावना से संगत हो [अनुच्छेद 51क(क)]। उनके अनुसार, न्यायिक स्वतंत्रता को रक्षोपाय प्रदान करने के संदर्भ में, भारतीय न्यायपालिका के प्रमुख से परामर्श से मात्र उसकी राय मांगना ही अभिप्रेत नहीं हो सकता है, बल्कि उसे इस प्रकार समझा जाना चाहिए जिससे यह अभिप्रेत हो कि उच्चतर न्यायपालिका के लिए नियुक्ति के मामले में उसका निर्णय अन्तिम होगा और वह सलाह, जो प्रधानमन्त्री को देनी चाहिए, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय के अनुरूप हो, जिससे कि राष्ट्रपति उस सलाह के आधार पर कार्य कर सकें; जैसी कि संविधान के अनुच्छेद 74(1) द्वारा अपेक्षा की गई है। भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के मत को कार्यपालिका की मनमर्जी के अनुसार निष्प्रभाव नहीं किया जा सकता है। अतः यह आवश्यक है कि उक्त पद को संकीर्ण या शाब्दिक अर्थ नहीं दिया जाना चाहिए बल्कि उक्त संदर्भ में उसे इस प्रकार समझा जाना चाहिए कि उससे 'सम्मति' या 'सहमति' अभिप्रेत हो। काउन्सेल ने इस बात पर जोर दिया कि अनुच्छेद 124(2) और 217(1), दोनों ही, में परामर्श की विविधता अनुध्यात की गई है और इस बात को तभी पूरा किया जा सकता है, जब भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा, अपना मत व्यक्त करने से पूर्व, अपने दो या दो से अधिक साथियों से परामर्श किया जाता है, जिस मत से न्यायपालिका का सामूहिक मत परिलक्षित होगा। इस प्रकार नियुक्ति हेतु अभ्यर्थी का चयन भारत के मुख्य न्यायमूर्ति और उसके साथियों की सामूहिक प्रज्ञा पर आधारित होगा और व्यक्त मत का स्वरूप सहभागितापूर्ण होगा तथा अन्तिम विश्लेषण में उससे न्यायपालिका की स्वतंत्रता, और सही प्रकार के व्यक्ति का चयन करने के, उद्देश्य की पूर्ति होगी। इस प्रकार न्यायपालिका की राय भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय में परिलक्षित होगी और इसलिए यह आवश्यक है कि ऐसे मत को प्राथमिकता प्राप्त होनी चाहिए। अन्त में, यह कहा गया कि किसी भी दशा में, कार्यपालिका को ऐसे व्यक्ति की नियुक्ति करने के लिए अनुज्ञात नहीं किया जा सकता है, जिसका चयन भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा उपयुक्त नहीं समझा जाता है। अतः काउंसेल ने यह निवेदन किया कि इस न्यायालय के समक्ष व्यक्त मतों में से न्यायालय को उस मत को स्वीकार करना चाहिए, जो न्यायिक स्वतंत्रता को रक्षोपाय प्रदान करता है और उच्चतर न्यायपालिका के लिए सही प्रकार के व्यक्तियों के चयन को संभव बनाता है।

313. हम पहले ही यह उपदर्शित कर चुके हैं कि यूनाइटेड किंगडम (ब्रिटेन) और अन्य सामान्य विधि (कामन ला) अधिकारिताओं, यथा आस्ट्रेलिया, कनाडा और न्यूजीलैंड और संयुक्त राज्य अमरीका, में उच्चतर न्यायपालिका में नियुक्तियां, नियंत्रण की विभिन्न मात्राओं सहित, अनन्यतः कार्यपालिका द्वारा की जाती हैं। युनाइटेड किंगडम (ब्रिटेन) में, उस स्तर पर निर्भर करते हुए, जिस पर नियुक्तियां की जानी हैं, लार्ड चांसलर या प्रधान मंत्री की सिफारिश पर नियुक्तियां की जाती हैं। आस्ट्रेलिया में, नियुक्तियां गवर्नर जनरल या गवर्नर-इन-कौंसिल के नाम से कार्यपालिका द्वारा की जाती हैं, जो इस बात पर निर्भर करेगा कि नियुक्तियां उच्च न्यायालय के लिए की जानी हैं या अन्य परिसंघीय न्यायालयों के लिए या राज्य स्तरों पर। कनाडा में नियुक्तियां अनिवार्यतः कार्यपालिका द्वारा की जाती हैं, जबकि न्यूजीलैण्ड में, न्यायपालिका (नियुक्तियों के मामले में) सक्रिय भूमिका तो निभाती है, किन्तु नियुक्तियां मंत्रिमंडल की सिफारिश पर गवर्नर-जनरल द्वारा की जाती हैं। संयुक्त राज्य अमरीका में, उच्चतम न्यायालय के लिए नियुक्तियां, सीनेट द्वारा पुष्टि किए जाने के अध्यधीन, राष्ट्रपति द्वारा नाम-निर्देशन पर की जाती हैं। इस प्रकार यह देखा जाएगा कि इन विकसित देशों में, जिनके लोग न्यायिक स्वतंत्रता को परिरक्षित रखने के लिए कोई कम उत्साह नहीं रखते हैं, प्रवेश-प्रक्रम पर आरम्भिक नियुक्ति कार्यपालिका द्वारा की जाती है।

314 ब्रिटिश भारत में, भारत शासन अधिनियम, 1915 की धारा 101 और 102 के अधीन, उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति और न्यायाधीशों की नियुक्ति सम्राट् (क्राउन) के पूर्ण विवेकाधिकार में थी और उनकी पदावधि को "प्रसाद सिद्धांत" लागू होता था। भारत शासन अधिनियम, 1935 की धारा 200 और 220 के अधीन परिसंघीय न्यायालय (फैडरल कोर्ट) और उच्च न्यायालय के लिए नियुक्तियां कार्यपालिक विशेषाधिकार बनी रहीं किन्तु उनका (पद से) हटाया जाना क्राउन की प्रिवी कौंसिल की जुडीशियल कमिटी (न्यायिक समिति) की रिपोर्ट पर आश्रित (निर्भर) था। हम ब्रिटिश भारत में न्यायिक स्वतंत्रता की संकल्पना के विकास को पहले ही उपदर्शित कर चुके हैं और उसे दोहराने का कोई कारण (औचित्य) नहीं पाते हैं। चूंकि हमारे संविधान-निर्माता न्यायपालिका को बाह्य दबावों से पृथक् (मुक्त) रखना चाहते थे, अतः उन्होंने उच्चतर न्यायपालिका के लिए नियुक्तियों के विषय में कार्यपालिका के आत्यन्तिक विवेकाधिकार को सीमित और नियंत्रित करने के लिए न्यायिक पक्ष से परामर्श की संकल्पना जोड़ी। इस लक्ष्य को उन्होंने, उच्चतर न्यायपालिका के लिए नियुक्तियां किए जाने से पूर्व, न्यायपालिका से अनिवार्य परामर्श की संकल्पना जोड़कर प्राप्त किया। इसी कारण अनुच्छेद 124(2) और 217(1) में यह उपबंध किया गया है कि उक्त उपबन्धों के अधीन नियुक्तियां भारत के मुख्य न्यायमूर्ति और अन्यों से "परामर्श करने के पश्चात्" की जाएंगी। किन्तु यह कहना कठिन है कि संविधान-निर्माताओं का, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति और अन्यों से परामर्श का उपबन्ध करके, कार्य-पालिका को नियुक्ति की उसकी सम्पूर्ण शक्ति से वंचित करने का आशय था। जैसा कि हम अभी दर्शित करेंगे, हम नहीं समझते कि संविधान की स्पष्ट भाषा को देखते हुए, ऐसा मत अनुज्ञेय है, भले ही "परामर्श" शब्द को न्यायिक स्वतंत्रता की न्यायिक संकल्पना को दृढ़ करने की आवश्यकता की पृष्ठभूमि में समझा जाता है।

315. सुसंगत अनुच्छेदों पर विचार करने के लिए अग्रसर होने से पूर्व, हम यह बताना उचित समझते हैं कि ऊपर उद्धृत सुभाष शर्मा वाले मामले में विरचित दोनों प्रश्नों में से उसमें निर्दिष्ट प्राथमिकता की संकल्पना में तीन तत्त्व (होते) हैं अर्थात् (i) भारतीय न्यायपालिका के "कुल पिता" के रूप में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की प्राथमिकता, (ii) अनुच्छेद 124(2) और 217(1) में निर्दिष्ट परामर्शदाताओं में से उसके मत को दी जाने वाली प्राथमिकता; और (iii) भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के मत के राष्ट्रपति, अर्थात् कार्यपालिका के लिए आवद्धकर होने के अर्थ में प्राथमिकता। हम सर्वप्रथम प्राथमिकता के प्रथम पहलू पर विचार करेंगे।

316. अनुच्छेद 124(1) में भारत के उच्चतम न्यायालय के गठन का उल्लेख है, जिसमें भारत के मुख्य न्यायमूर्ति और इतनी संख्या में न्यायाधीश होंगे, जितनी समय-समय पर विहित की जाए। संविधान के अधीन भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की स्थिति विशिष्ट है, न्यायिक पक्ष (साइड) में वह समान लोगों में प्रथम (प्राइमस इण्टर पेरेस) है, जब कि प्रशासनिक पक्ष में, न्यायालय के कारबार की व्यवस्था करने का उत्तरदायित्व अनन्यतः उसका है; न्यायपीठ गठित करना और उन्हें न्यायिक कार्य आवंटित करना उसका विशेषाधिकार है। वह इस बात का भी विनिश्चय करता है कि प्रावकाश-न्यायाधीश कौन होगा। इस तथ्य के अतिरिक्त कि वह अपने साथियों की तुलना कुछ अधिक वेतन लेता है, उसे अनुच्छेद 127 और 128 द्वारा, न्यायिक कृत्य करने के लिए राष्ट्रपति की पूर्व सहमति से तदर्थ न्यायाधीश या सेवा-निवृत न्यायाधीश नियुक्त करने के लिए सशक्त किया गया है—जबकि अनुच्छेद 130 द्वारा उसे राष्ट्रपति के अनुमोदन से दिल्ली से बाहर किसी स्थान पर उच्चतम न्यायालय की बैठकें (अधिवेशन) आयोजित करने के लिए सशक्त किया गया है। अनुच्छेद 146(1) द्वारा उसे उच्चतम न्यायालय के अधिकारियों और सेवकों की नियुक्ति करने के लिए सशक्त किया गया है। वह अपने न्यायालय के न्यायाधीशों की बैठकों की अध्यक्षता करता है और मुख्य न्यायमूर्ति-सम्मेलन की अध्यक्षता करता भी है। उसकी स्थिति रोमन विधि में "पेट्रिया पोटेस्टाज" (पितृ-प्राधिकार) जैसी है। "ये उत्तरदायित्व शासकीय पदनाम "भारत का मुख्य न्यायमूर्ति" में प्रतीकात्मक रूप से प्रकट किए गए हैं, और उस सीमा तक, उसे प्राथमिकता प्रदान की जाती है। (देखें लारेंसबामकृत "दि सुप्रीम कोर्ट" (चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ 16)।

317. निस्सन्देह, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के पद को अनुच्छेद 124(2), 217(1), 217(3) और 222 (1) के अधीन इस अर्थ में विशेष मान्यता प्रदान की गई है कि उक्त उपबंधों के अधीन अनुध्यात किसी विनिश्चय को अन्तिम रूप दिए जाने से पूर्व, उससे परामर्श अनिवार्य है। चूंकि उच्चतर न्यायपालिका के लिए की जाने वाली नियुक्तियों के सम्बन्ध में राय व्यक्त करना गैर-न्यायिक कृत्य है, अतः वस्तुतः वह उच्चतर न्यायपालिका के लिए नियुक्ति हेतु अभ्यर्थियों का चयन करने के लिए राष्ट्रपति, अर्थात् कार्यपालिका की सहायता हेतु कृत्य है और इसलिए संविधान द्वारा उससे और संविधान के अनुच्छेद 217(1) में वर्णित अन्य लोगों से परामर्श किए जाने का आदेश किया गया है। यह ऐसा विषय है, जो प्राथमिकता के अन्य दोनों पहलुओं से सम्बद्ध है, और उस पर हम तुरन्त ही व्यापक रूप से विचार करेंगे।

1993(10) eILR(PAT) SC 1

318 संविधान के अधीन "परामर्श" की स्कीम अलग-अलग है। अनुच्छेद 233 के अधीन परामर्श उच्च न्यायालय, अर्थात् उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के सम्पूर्ण निकाय के साथ है। उसके पश्चात्, अनुच्छेद 217(1) के अधीन, परामर्श तीन सांविधानिक कृत्य कारियों, अर्थात् भारत के मुख्य न्यायमूर्ति राज्यपाल और संबंधित उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति के साथ है। अनुच्छेद 124(2) के अधीन, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के अतिरिक्त, उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय के न्यायाधीश-परामर्श की परिधि के अन्तर्गत आते हैं। उसके पश्चात् ऐसे उपबन्ध (आते) हैं, जिनमें केवल भारत के मुख्य न्यायाधीश से परामर्श अनुध्यात किया गया है, अर्थात् अनुच्छेद 217(3), 222(1) आदि। ऐसे उपबन्ध भी हैं, जिसके अनुसार भारत का मुख्य न्यायमूर्ति राष्ट्रपति की "पूर्व सहमति" से कार्य कर सकता है (अनुच्छेद 127-128) और उच्च न्यायालयों के लिए अनुच्छेद 224क है। "परामर्श" शब्द से, जैसा कि वह सामान्य बातचीत में समझा जाता है, किसी विशेष विषय पर किसी व्यक्ति की सलाह या राय लेना अर्थात् किसी अन्य (व्यक्ति) से परामर्श लेना अभिप्रेत है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि परामर्श लेने वाला (व्यक्ति) सलाह से आबद्ध है। कुछ परिस्थितियों में, सम्बन्धित क्षेत्र के विशेषज्ञ से परामर्श किया जा सकता है किन्तु वह अन्तिम विनिश्चय करने में परामर्श लेने वाले व्यक्ति की सहायता करने के लिए ही है। विशेषज्ञ से भी परामर्श करके, परामर्श लेने वाला व्यक्ति अपने विनिश्चय को बन्धक नहीं बना लेता है; दी गई राय उन विभिन्न कारकों में से, जो विनिश्चय करने में सम्मिलित होते हैं, एक निवेश मात्र है। वह एक या अधिक विशेषज्ञों से परामर्श कर सकता है और वह उस राय को स्वीकार कर भी सकता है, जिसे वह सर्वाधिक स्वीकार्य या युक्तिसंगत समझता है, किन्तु वह स्वयं अपना निष्कर्ष निकालने के लिए सदा स्वतन्त्र है। ठीक विनिश्चय करना अन्ततः उसका उत्तरदायित्व है और वह उसके लिए जबाबदेह होता है। परामर्श कम-से-कम दो व्यक्तियों की अपेक्षा करता है; वे पत्र-व्यवहार द्वारा या आमने-सामने बैठ कर एक दूसरे से परामर्श कर सकते हैं। 'क' किसी विशेष विषय पर 'ख' से परामर्श कर सकता है, 'ख' की राय ले सकता है और उसके आधार पर कार्य कर सकता है या वह, यदि सन्तुष्ट न हो, उसके साथ मुद्दे पर चर्चा कर सकता है या लिखित रूप में अपने सन्देह व्यक्त कर सकता है, उससे स्पष्टीकरण की ईप्सा कर सकता है, और सन्तुष्ट होने पर, सलाह स्वीकार कर सकता है या उससे विचलन कर सकता है। **फ्लैचर बनाम मिनिस्टर आफ टाउन प्लानिंग**[1] वाले मामले में प्रस्थापित नए नगर के लिए स्थल के रूप में भूमि के एक क्षेत्र को अभिहित करने वाले मन्त्री के आदेश को इस आधार पर चुनौती दी गई कि विधि की अध्यपेक्षाओं का इस अर्थ में उल्लंघन हुआ था कि न्यू टाउंस ऐक्ट (नव नगर अधिनियम), 1946 की धारा 1(1) के अर्थान्तर्गत कोई "परामर्श" नहीं किया गया था। विद्वान् न्यायाधीश ने इस संबंध में यह मत व्यक्त किया—

> "परामर्श" शब्द ऐसा है, जो साधारण प्रयोग में है और सब उसे भलीभांति समझते हैं। मेरे मतानुसार, परिभाषा के शब्द विरचित करने से किसी उपयोगी प्रयोजन की पूर्ति नहीं होगी। और न उस रीति को अधिकथित करने का प्रयास करना ही उचित होगा, जिसमें परामर्श किया जाना चाहिए। अधिनियम द्वारा किसी

[1] (1947) 2 आल इंग्लैण्ड रिपोर्टर 496.

विशेष रूप में परामर्श विहित नहीं किया गया है। यदि परामर्श करने में असफलता की शिकायत की जाती है, तो किसी विशेष मामले के तथ्यों और परिस्थितियों पर विचार करना और इस बात के बारे में विनिश्चय करना कि क्या वस्तुतः परामर्श किया गया था, न्यायालय का काम होगा। प्रायः परामर्श कुछ सतत प्रक्रिया हो सकता है और एक अधिवेशन की घटनाएं पश्चात्वर्ती अधिवेशन की पृष्ठभूमि गठित कर सकती हैं। यह विनिश्चय करने में कि परामर्श किया गया है या नहीं, मेरे निर्णयानुसार, घटनाओं के तत्त्व को अवश्य ही ध्यान में रखा जाना चाहिए'''।

319. इस अंश का न्या० सुब्बा राव (जैसे कि वे उस समय थे) द्वारा **आर० पुष्पम् बनाम मद्रास राज्य**[1] वाले मामले में अवलम्ब लिया गया। विद्वान् न्यायाधीश ने उक्त अंश को उद्धृत करने के पश्चात् यह मत व्यक्त किया—

"पूर्वोक्त मताभिव्यक्तियों से यह स्पष्ट है कि न्यायालय को प्रत्येक मामले में यह संवीक्षा करनी होगी कि क्या घटनाओं के सार-तत्त्व को ध्यान में रखते हुए, अपेक्षित परामर्श किया गया है। "परामर्श" शब्द में, सही या कम-से-कम सन्तोषजनक समाधान निकालने हेतु (उन्हें) समर्थ बनाने के लिए किसी विषय की बाबत दो या अधिक व्यक्तियों का सम्मेलन अथवा दो या अधिक मस्तिष्कों का संघट्ट (टकराव) विवक्षित है। ऐसा परामर्श आमने-सामने सम्मेलन में किया जा सकता है या पत्रव्यवहार द्वारा भी किया जा सकता है। रूप तात्त्विक नहीं है, बल्कि तत्त्व महत्त्वपूर्ण हैं। यह आवश्यक है कि परामर्श आवश्यक मुद्दों और विचार-विमर्श में अन्तर्वलित विषय के मर्म के प्रति निदिष्ट होगा। परामर्श द्वारा परामर्श लेने वाला व्यक्ति कोई विनिश्चय करने से पूर्व सम्बन्धित प्रश्न के पक्ष और विपक्ष की बातों पर विचार करने में समर्थ होना चाहिए। कोई व्यक्ति परामर्श की विषय-वस्तु के स्पष्ट किए जाने के लिए परामर्श करता है। परामर्श, जानकारी न रखने वाले व्यक्ति और विशेषज्ञ के बीच या दो विशेषज्ञों के बीच हो सकता है। रोगी डाक्टर से परामर्श करता है; मुवक्किल अपने वकील से परामर्श करता है; दो वकील या दो डाक्टर आपस में परामर्श कर सकते हैं। इनमें से किसी भी स्थिति में, अन्तिम विनिश्चय परामर्श करने वाले व्यक्ति को करना होता है, किन्तु वह सिवाय ठोस कारणों के, साधारणतः, सलाह की उपेक्षा नहीं करेगा। लोक प्राधिकारी के मामले में भी यही स्थिति है। कानूनों में ऐसे अनेक उदाहरण मिल सकते हैं, जब किसी प्राधिकारी को, जिसे कोई कर्तव्य सौंपा गया हो, किसी अन्य प्राधिकारी से परामर्श करके उसका निर्वहन करने के लिए निदेश किया जाता है, जो उस कर्तव्य की बाबत सलाह देने के लिए अर्हित है। यह सच है कि अन्तिम उत्तरदायित्व पूर्ववर्ती प्राधिकारी का होता है। किन्तु यह कर्तव्य का निर्वहन नहीं होगा और न हो सकता है, यदि कोई परामर्श नहीं किया जाता है, और यदि किया भी जाता है, तो वह केवल उपबंधों के प्ररूपिक अनुपालन में ही होता है। किसी भी स्थिति में, आदेश अधिनियम के उपबन्धों के अनुपालन में नहीं किया जाता (होता) है।

[1] ए० आई० आर० 1953 मद्रास 392, पृ० 393.

परामर्श की अन्तर्वस्तु पर ऊपरनिर्दिष्ट **फ्लैचर** वाले मामले में व्यक्त मत की, **रौलो और एक अन्य** बनाम **मिनिस्टर आफ टाउन एण्ड कण्ट्री प्लानिंग**[1] वाले मामले में, पुष्टि की गई। **पोर्ट लुई कार्पोरेशन** बनाम **एटर्नी जनरल, मारीशस**[2] वाले मामले में, प्रिवी कौंसिल की जुडिशियल कमेटी (न्यायिक समिति) ने यह मत व्यक्त किया : "परामर्श से विचारों, जानकारी और मतों के आदान-प्रदान का बोध होता है, जिसमें प्रत्येक पक्षकार को ऐसे आदान-प्रदान में योगदान करने का पूर्ण अवसर प्राप्त होता है, यह एक मार्ग प्रक्रिया नहीं, बल्कि द्वि-मार्ग प्रक्रिया है। माननीय न्यायाधीशों के अनुसार, कार्यपालिका के लिए यह आवश्यक है कि वह खुले, अर्थात् समझाए जाने के लिए खुले, और दी गई सलाह का विवेचन करने के लिए खुले मन से सलाह दे और अपने दृष्टिकोण को दबा ले, यदि उसका उसकी दुर्बलता के बारे में समाधान हो जाता है। परामर्श की अध्यपेक्षा को कभी भी उदासीनतापूर्वक या मात्र प्ररूपिकता (औपचारिकता) के रूप में नहीं समझा जाना है। पुनः, **सम्राट्** बनाम **सेक्रेटरी आफ स्टेट फार सोशल सर्विसिज, एक्स पार्टी एसोशिएशन आफ मेट्रोपोलिटन एथोरिटीज**[3] वाले मामले में, न्या० वेब्स्टर ने पृष्ठ 167 पर यह मत व्यक्त किया —

> "ऐसा कोई साधारण सिद्धांत नहीं है, जो इस सम्बन्ध में निर्णयज विधि से अन्तिम निष्कर्ष के रूप में निकाला जा सके कि प्रत्यायोजित विधान से पूर्व किस प्रकार का या कितने परिमाण में परामर्श अपेक्षित है, जिस प्रत्यायोजित विधान की पुरोभाव्य शर्त परामर्श है। किन्तु किसी भी सन्दर्भ में परामर्श का सार-तत्त्व (मर्म) सलाह देने के लिए सद्भाविक (वास्तविक) आमन्त्रण और उस सलाह पर सद्भाविक विचार का संप्रेषण है। मेरे मतानुसार, यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि परामर्श प्राप्त करने के लिए, परामर्श लेने वाले पक्षकार द्वारा परामर्श देने वाले पक्षकार को पर्याप्त जानकारी प्रदान करनी चाहिए—जिससे कि वह सहायक सलाह देने में समर्थ हो सके। इस सन्दर्भ में, सहायक सलाह से, मेरी राय में, प्रस्थापनाओं के रूप या सारतत्त्व के पहलुओं के बारे में या परामर्श देने वाले पक्षकार के लिए उनकी विवक्षाओं के बारे में पर्याप्त रूप से जानकारी, पूर्ण और सुविचारित सूचना या सलाह अभिप्रेत हैं, जो प्रस्थापना के क्रियान्वयन के लिए तात्त्विक पहलू हैं, जिसके (प्रस्थापना) सम्बन्ध में सेक्रेटरी आफ स्टेट (राज्य सचिव) को पूर्ण जानकारी या सूचना न हो और जिसके सम्बन्ध में परामर्श देने वाले पक्षकार को, देने हेतु सुसंगत जानकारी या सूचना हो सकती है।"

320. यह सुस्थापित है कि संविधान सदा विकासमान जीवन्त दस्तावेज है, जिसे संकीर्ण, पण्डिताऊ (शास्त्रीय) या तर्कक्रमपूर्ण रूप में पढ़ा या समझा नहीं जा सकता है, बल्कि उसका व्यापक निर्वचन किया जाना चाहिए। चूंकि संविधान एक विकासशील दस्तावेज है, उसके उपबंध कभी भी स्थैतिक (एक ही स्थिति में) नहीं रह सकते हैं, और न्यायालय का उसकी शब्दावली का इतने व्यापक रूप में निर्वचन करने का प्रयास होना चाहिए, जिससे कि वह सदा परिवर्तनशील समाज की अध्यपेक्षाओं को पूरा करने में समर्थ हो सके। संविधान-

[1] (1948) 1 आल इंग्लैण्ड रिपोर्टर 13.

[2] (1965) अपील केसेज 111.

[3] (1986] 1 आल इंग्लैण्ड रिपोर्टर 164.

निर्माताओं द्वारा प्रयुक्त शब्दावली को विस्तृत और व्यापक अर्थ देना अनुज्ञेय हो सकता है, समाज की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उपबंधों को तदनुसार ढालना अनुज्ञेय हो सकता है, कतिपय आत्यधिक (अतिवादी) परिस्थितियों में अर्थ का विस्तार करना और, यदि आवश्यक हो, उसे आगे मोड़ना अनुज्ञेय हो सकता है, किन्तु, निश्चय ही, उसे तोड़ना या निर्वचन की आड़ में उपबन्धों को प्रतिस्थापित करने या उनका पुनर्लेखन करना अनुज्ञेय नहीं हो सकता है। "परामर्शी" शब्द को व्यापकतम अर्थ देते हुए, उसका लगभग टूटने की सीमा तक विस्तार करते हुए, सांविधानिक सन्दर्भ में और संविधान की स्कीम को देखते हुए और इसमें इससे पूर्व हमने जो कुछ विचार-विमर्श किया है, उसे ध्यान में रखते हुए, उसे "सहमति" या सम्मति" का अर्थ देना संभव नहीं होगा। यदि इस सम्बन्ध में कोई संकेत आवश्यक हो, तो अनुच्छेद 323 के साथ पठित, अनुच्छेद 320(3) के प्रति निर्देश किया जा सकता है, अनुच्छेद 320(3) द्वारा उसकी मद सं० (क) से (ङ) तक में प्रगणित विषयों पर लोक सेवा आयोग से परामर्श करने का उपबंध किया गया है, जब कि अनुच्छेद 323 में यह परिकल्पित किया गया है कि आयोग की सलाह को स्वीकार न किए जाने की स्थिति में कौन सी प्रक्रिया अपनाई जाएगी। इस प्रकार स्वयं संविधान में परामर्श देने वाले, अर्थात् आयोग की सलाह के, परामर्श लेने वाले (व्यक्ति) द्वारा स्वीकार न किए जाने की संभावना को मान्यता प्रदान की गई है। उस स्थिति में अनुच्छेद 323 में केवल यही अपेक्षा की गई है कि इस बात को कि आयोग की सलाह स्वीकार क्यों नहीं की गई, स्पष्ट करने वाले ज्ञापन सहित, आयोग की वार्षिक रिपोर्ट संसद् के समक्ष रखी जाएगी। वस्तुतः **उत्तर प्रदेश राज्य** बनाम **मन बोधन लाल श्रीवास्तव**[1] वाले मामले में, इस न्यायालय के संविधानपीठ ने यह अभिनिर्धारित किया कि "आयोग से परामर्श की अध्यपेक्षा उन विषयों पर आयोग की सलाह को सरकार के लिए आबद्धकर बनाने की सीमा तक विस्तारित नहीं है"। अतः यह अभिनिर्धारित किया गया कि (यद्यपि) आयोग से परामर्श समुचित सहायता प्राप्त करने के उद्देश्य से किया जाता है और वह प्ररूपिकता (औपचारिकता) मात्र नहीं है, (तथापि) उसका आबद्धकर स्वरूप नहीं है। अतः यह अभिनिर्धारित करना कठिन है कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सलाह का आबद्धकर स्वरूप की सलाह होना आशयित था और कार्यपालिका के पास उसे मानने के सिवाय कोई विकल्प नहीं था; इस प्रकार अभिनिर्धारित करना भारत के मुख्य न्यायाधिपति को निषेधाधिकार देना होगा, जो सांविधानिक स्कीम के अनुरूप नहीं है। यह कहा गया कि परामर्श का उपबन्ध करने का उद्देश्य न्यायपालिका के लिए नियुक्तियों के विषय में वस्तुतः कार्यपालिका में निहित विवेकाधिकार को नियंत्रित और सीमित करना था, किन्तु उसका अर्थ यह नहीं हो सकता है कि संविधान-निर्माता भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को नियुक्ति की शक्ति अन्तरित करना चाहते थे। यदि ऐसा होता, तो "सहमति" या "सम्मति" पद का प्रयोग करना सबसे सरल होता, जो पद जानबूझ कर प्रयुक्त नहीं किए गए हैं क्योंकि संविधान-निर्माताओं का भारत के मुख्य न्यायमूर्ति में में "अन्तिम निर्णय" का अधिकार निहित करने का आशय नहीं था। इस मत की पुष्टि हो जाती है, यदि हम इस तथ्य का स्मरण करें कि श्री बाकर साहब ने उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के लिए नियुक्तियों के विषय में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की "सहमति" की अध्यपेक्षा जोड़ने के लिए संशोधन संविधान-सभा के पटल पर रखे थे, जो संविधान सभा द्वारा अस्वीकार कर दिए गए। इस ताथ्यिक इतिहास से भी

[1] (1958) एस० सी० आर० 533.

इस मत का समर्थन होता है कि संविधान-निर्माताओं ने संशोधनों पर बहस की थी और उन्हें अस्वीकार कर दिया था।

321. यहां यह उल्लेख करना भी उचित होगा कि **भारत संघ** बनाम **सॉकल चन्द हिम्मत लाल शेठ और एक अन्य**[1] वाले मामले में, संविधान पीठ गठित करने वाले विद्वान् न्यायाधीशों में इस प्रश्न पर मतभेद था कि (क्या) उच्च न्यायालय के न्यायाधीश को उसकी सम्मति के बिना स्थानान्तरित किया जा सकता था या नहीं किया जा सकता था किन्तु भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श की प्रकृति के सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं था। सभी विद्वान न्यायाधीश इस बात पर सहमत थे कि परामर्श सारभूत और प्रभावी होना चाहिए और वह सामग्री के पूर्ण और समुचित प्रकटीकरण पर आधारित होना चाहिए किन्तु विद्वान् न्यायाधीशों में से किसी ने भी यह नहीं कहा कि स्थानान्तरण करने के लिए भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सहमति आवश्यक थी। माननीय न्यायाधीशों ने केवल यही कहा कि स्थानान्तरण लोक हित में होना चाहिए। न्या० भगवती और ऊंटवालिया का यह मत था कि स्थानान्तरित किए जाने के लिए प्रस्थापित न्यायाधीश की सम्मति न्यायिक स्वतन्त्रता बनाए रखने के लिए आवश्यक थी, जब कि अन्य तीन विद्वान् न्यायाधीशों का यह मत था कि लोक हित की विचारणाएं शक्ति के किसी भी दुरुपयोग के विरुद्ध रक्षोपाय का कार्य करेंगी। इस प्रकार यह देखा जाएगा कि विद्वान् न्यायाधीश, जो न्यायपालिका की स्वतन्त्रता परिरक्षित रखने के प्रति पूर्णतः सजग थे, "परामर्श" का इस प्रकार अर्थान्वयन करने के लिए तैयार नहीं थे कि उससे भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की "सहमति" अभिप्रेत है। वस्तुतः न्या० कृष्ण अय्यर ने चेतावनी के रूप में पृष्ठ 501 पर यह कहा—

> "ऐसी स्थिति में, उसकी सम्मति कभी भी उक्त अनुच्छेद के स्पष्ट शब्दों में परिलक्षित उसके स्पष्ट आशय (अर्थान्वयन) को नियन्त्रित करने के लिए मार्गदर्शक के रूप में नहीं हो सकती है।- समसामयिक घटनाओं द्वारा आवेश में प्रेरित होकर, अर्थान्वयन की कला द्वारा, संविधान का पुनर्लेखन करना, अनजाने में, न्याय-योजना (व्यवस्था) को विकृत करना है, जिसकी हमारे संविधान-निर्माताओं ने चिन्तनपूर्ण सावधानी से योजना बनाई और शब्दों के ऐसे अर्थ की इच्छा करना, जो स्पष्ट अंग्रेजी और स्पष्टतर सन्दर्भ को स्वीकार्य नहीं हो सकता है। चूंकि न्यायिक शक्तियां पर्याप्त रूप से प्रचुर हैं, अतः उनका प्रयोग शमनकारी चिन्तन के साथ किया जाना चाहिए [जिस डाइसियर एट नॉन जस डेयर (विधि की घोषणा करना, न कि उसे बनाना)]।

विशेष न्यायालय विधेयक, 1978 वाले मामले में, इस न्यायालय के सात न्यायाधीशों वाले संविधान-पीठ ने यह उपदर्शित किया कि परामर्श की प्रक्रिया की अपनी सीमाएं होती हैं, जो सुविदित हैं, और यह मत व्यक्त किया कि प्रथा (परम्परा) के विषय के रूप में, विरलतम मामलों में ही सरकार द्वारा भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सलाह स्वीकार नहीं की जाती है। किन्तु इस तथ्य का उल्लेख करना महत्वपूर्ण है कि माननीय न्यायाधीशों ने भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सहमति की संकल्पना जोड़े जाने का समर्थन नहीं किया। **एस० पी० सम्पत**

[1] [1978] 3 उम० नि० प० 1129=[1978] 1 एस० सी० आर० 423.

कुमार आदि बनाम **भारत संघ और अन्य**[1] वाले मामले में किए गए पश्चात्वर्ती विनिश्चय में भी जो सुझाव दिया गया, वह भारत के मुख्य न्यायमूर्ति या उसके नाम-निर्देशिती के परामर्श का उपबन्ध करने के लिए था, न कि सहमति का। अतः यह स्पष्ट है कि इस न्यायालय ने हमारे संविधान में अति सावधानीपूर्वक परिकल्पित न्याय-व्यवस्था में हस्तक्षेप करने में संयम दर्शित किया है। उच्चतर न्यायपालिका के लिए की जाने वाली नियुक्तियों हेतु राष्ट्रीय न्यायिक आयोग के गठन का उपबन्ध करने के लिए संविधान 67वां संशोधन अधिनियम के रूप में विधेयक सं० 93/1990 संसद् में तारीख 18 मई, 1990 को पुरःस्थापित किया गया। विधेयक के उद्देश्यों और कारणों के कथन से यह दर्शित होगा कि प्रस्थापित परिवर्तन उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति में कार्यपालिका की ओर से मनमानेपन की आलोचना को समाप्त करने और विलम्ब के बिना ऐसी नियुक्तियां करने के लिए था। विधेयक में उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के लिए नियुक्तियों के सम्बन्ध में सिफारिश करने के लिए राष्ट्रीय न्यायिक आयोग का गठन परिकल्पित किया गया था। पश्चात्कथित के लिए आयोग का गठन अध्यक्ष के रूप में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति और उसके दो ज्येष्ठतम साथियों से होना था। उच्च न्यायालय के लिए नियुक्तियों की बाबत सिफारिश करने के लिए आयोग, उसके अध्यक्ष के रूप में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति, राज्य के मुख्य मन्त्री, उच्चतम न्यायालय के एक अन्य ज्येष्ठतम न्यायाधीश उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति और उच्च न्यायालय के एक अन्य ज्येष्ठतम न्यायाधीश से मिल कर बनना था। इस प्रकार यह देखा जाएगा कि इस विधेयक के अधीन भी, उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय के लिए नियुक्ति हेतु चयन के मामले में "अन्तिम निर्णय" भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के लिए (पर) नहीं छोड़ा गया। इसके विपरीत, संविधान के अनुच्छेद 124(2) के प्रस्थापित परन्तुक में राष्ट्रीय न्यायिक आयोग की सिफारिश की अस्वीकृति अनुध्यात की गई। अतः इस विधेयक के अधीन भी, उच्च न्यायालय के लिए नियुक्ति के विषय में अन्तिम निर्णय न्यायिक पक्ष के लिए नहीं छोड़ा गया। यहां तक कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा चयनित उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति भी अनुच्छेद 124(2) के प्रस्थापित परन्तुक के अधीन अस्वीकृत की जा सकेगी और उस सीमा तक कार्यपालिका का नियन्त्रण बना रहा। अतः इन पश्चात्वर्ती बातों (घटनाओं) से भी इस प्रतिपादना का समर्थन नहीं होता कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को देश की उच्चतर न्यायपालिका के लिए नियुक्तियों के विषय में प्राथमिकता प्राप्त होनी चाहिए।

322. चूंकि न्यायाधीशों की केन्द्रीय भूमिका होती है, जहां (तक) न्याय-प्रशासन का सम्बन्ध है, अतः इस बारे में कोई शंका नहीं हो सकती है कि न्यायाधीश के पद के लिए कार्मिक के चयन में अत्यधिक सावधानी बरती जानी चाहिए। न्यायिक नियुक्तियों की पद्धति का न्यायपालिका की गुणवत्ता और उसकी संरचना पर अत्यधिक प्रभाव पड़ेगा। नियुक्ति की पद्धति में यह सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि सर्वाधिक अर्हित अभ्यर्थी की नियुक्ति की जाती है। हम, विभिन्न देशों द्वारा अपनाए गए न्यायिक चयन के माडल (नमूने) पहले ही उपदर्शित कर चुके हैं। इन सभी माडलों में कार्यपालिका को महत्वपूर्ण भूमिका निभानी होती है। हमने मिश्रित पद्धति अपनाई है, जिसके अधीन कार्यपालिका और न्यायपालिका

[1] [1987] 1 एस० सी० आर० 435.

1993(10) eILR(PAT) SC 1

अपनी-अपनी भूमिका निभाती हैं। चूंकि हमारा संविधान नियन्त्रणों और सन्तुलनों का संविधान है, अतः उच्चतर न्यायपालिका के सदस्यों के चयन में कार्यपालिका की आत्यन्तिक शक्ति न्यायिक पक्ष से पूर्व परामर्श की आवश्यकता द्वारा नियन्त्रित है। किन्तु, जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, संविधान के सुसंगत उपबन्धों की स्पष्ट भाषा से भारत के मुख्य न्यायमूर्ति में निषेधाधिकार के निहित होने के सिद्धांत का समर्थन नहीं होता है, अर्थात् इस तर्क का समर्थन करने के लिए कोई संकेत नहीं हैं कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति का, अन्य संविधानिक कृत्यकारियों—परामर्श देने वालों द्वारा सुझाए गए अभ्यर्थी के नियुक्ति हेतु चयन या अस्वीकृति के विषय में, निर्णय अन्तिम होना चाहिए। इस बात को अवश्य ही अनुभूत (महसूस) किया जाना चाहिए कि इस सन्दर्भ में प्राथमिकता की संकल्पना के, जिसकी हमारे समक्ष जोरदार पैरवी की गई है, दो पहलू हैं, अर्थात् (1) भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय की इस अर्थ में प्राथमिकता कि वह उस स्थिति में अन्य परामर्श देने वालों की राय पर अभिभावी होगी, यदि उनमें मतभेद है। हम इस प्रथम तत्व पर पहले ही विस्तार से विचार कर चुके हैं। जहां तक द्वितीय तत्व का सम्बन्ध है, हम इसमें इससे पूर्व उसके विभिन्न पहलुओं को सविवरण उपवर्णित कर चुके हैं और उन विभिन्न स्थितियों को उपदर्शित कर चुके हैं, जिनका हमें सामना करना पड़ सकता है। प्रथमतः अनुच्छेद 124(2) और 217(1) की स्पष्ट भाषा से उक्त दलील का समर्थन नहीं होता है। सांविधानिक स्कीम में यह अभिनिर्धारित करने का कोई आधार नहीं है कि परामर्श देने वाले व्यक्तियों के बीच किसी प्रकार का अधिक्रम आशयित था। उदाहरणार्थ, जैसा कि पहले ही उपदर्शित किया जा चुका है, अनुच्छेद 124(2) के अधीन प्रक्रिया के प्रवर्तन में, चार स्थितियां उत्पन्न होती हैं। स्थिति (ii) को लें, जिसमें राष्ट्रपति ने भारत के मुख्य न्यायमूर्ति और उच्चतम न्यायालय के दो या अधिक न्यायाधीशों से सम्पर्क किया है, और उनकी राय एक जैसी नहीं हैं। तो क्या यह कहा जा सकता है कि अन्य न्यायाधीशों की राय का सामूहिक महत्व केवल इस कारण निरर्थक हो जाएगा कि भारत का मुख्य न्यायमूर्ति उससे सहमत नहीं है। निस्संदेह, भारत का मुख्य न्यायमूर्ति भारतीय न्यायपालिका का "कुलपिता" है किन्तु संविधान द्वारा उसे अपने समकक्ष लोगों के मत को आच्छादित करने की शक्ति कहीं भी प्रदत्त नहीं की गई है। यदि ऐसा दृष्टिकोण अपनाया जाता है, तो अनुच्छेद 124(2) में वर्णित अन्य लोगों से परामर्श का उपबन्ध निरर्थक हो जाएगा, क्योंकि उक्त उपबन्ध के अधीन भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से सदैव परामर्श किया जाना होता है। पुनः, स्थिति (iii) को लें, जिसमें राष्ट्रपति राज्यों के तीनों मुख्य न्यायमूर्तियों से परामर्श करता है, और उनकी सामूहिक राय भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय से भिन्न रहती है। यदि तीनों मुख्य न्यायमूर्तियों की राय को दबाया ही जाना है, तो उनसे परामर्श ही क्यों किया जाए। उच्च न्यायालयों के सम्बन्ध में भी अनुच्छेद 217(1) में तीनों कृत्यकारियों से परामर्श का उपबन्ध किया गया है। जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, राज्य का मुख्य न्यायमूर्ति वृत्ति के सदस्यों से घनिष्ट सम्पर्क में रहने के कारण, उसके द्वारा चयनित अभ्यर्थी की गुणवत्ता के बारे में राय व्यक्त करने के लिए बेहतर स्थिति में होगा। किन्तु वकील की विधिक कुशाग्रता (कुशलता) और उन गुणों में अन्तर है, जिनसे (कोई व्यक्ति) अच्छा न्यायाधीश बनता है। प्रथम के सम्बन्ध में, राज्य का मुख्य न्यायमूर्ति राय देने के लिए बेहतर स्थिति में होगा किन्तु द्वितीय के सम्बन्ध में, कार्यपालिका को, निश्चय ही, एक विशेष भूमिका निभानी है। इन दोनों भूमिकाओं के मिश्रण से ही अभ्यर्थी का पूर्ण व्यक्तित्व सामने आता है। यह सच है कि दोनों मामलों में भारत

के मुख्य न्यायमूर्ति को, राय व्यक्त करने से पूर्व, सामग्री की छानबीन करने का अवसर प्राप्त होता है और इसलिए उसका मत, वस्तुतः, अधिक महत्व प्राप्त करने के लिए हकदार है किंतु यह बात ऐसा कहने से बिल्कुल भिन्न है कि उसका मत अन्य परामर्श देने वाले व्यक्तियों के मत को अस्तित्वहीन बना देगा। चूंकि अनुच्छेद 217(1) द्वारा कोई अधिक्रम अनुध्यात नहीं किया गया है, अतः प्रत्येक परामर्श देने वाले (व्यक्ति) का एक निश्चित योगदान होता है, जिसकी उपेक्षा अपेक्षित (उचित) नहीं हैं। अनुच्छेद 124(2) और अनुच्छेद 217(1), दोनों ही, के अधीन, परामर्श देने वाले व्यक्तियों की राय कार्यपालिका द्वारा विवेकाधिकार के प्रयोग पर नियन्त्रण रखने के लिए आशयित है, जो (कार्यपालिका) लोगों के प्रति जबाबदेह होगी। केवल आपवादिक मामलों में ही, कार्यपालिका सभी परामर्श देने वालों की सामूहिक एकरूप सलाह से विचलन करेगी। (उदाहरणार्थ) ऐसा मामला भी ले सकते हैं, जिसमें भारत का मुख्य न्यायमूर्ति, अपने दो साथियों से परामर्श करने के पश्चात् राय व्यक्त करता है। उस स्थिति में क्या होगा, यदि उसके साथी मतभेद व्यक्त करते हैं। क्या फिर भी उसकी राय अभिभावी होगी। उसके पश्चात्, राष्ट्रपति उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के कुछ न्यायाधीशों से परामर्श करता है और उनकी एकरूप राय भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय के विपरीत है। यह उचित नहीं होगा कि अन्य परामर्श देने वालों की राय इस कारण निरर्थक हो जाए कि वह भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय से मेल नहीं खाती है। यह कहना एक बात है कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय को अधिक महत्व दिया जाना चाहिए, और यह कहना बिल्कुल ही भिन्न बात है कि परामर्श देने वालों में से उसका निर्णय अन्तिम होगा। अतः हम यह अभिनिर्धारित करना कठिन समझते हैं कि सम्पूर्ण न्यायपालिका की राय प्रतीक रूप में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय में परिलक्षित होती है और राष्ट्रपति संविधान के अनुच्छेद 74(1) के अधीन उसके अनुसार कार्य करने के लिए आबद्ध हैं। ऐसा मत भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को अन्य परामर्श देने वालों के मत के प्रति असंवेदनशील बनाने के लिए प्रवृत्त हो सकता है और उसे परिहार्य मुकदमेबाजी में फंसा (उलझा) सकता है। यदि राष्ट्रपति को मन्त्रिपरिषद् की सहायता और सलाह से कार्य करना है, तो यह अभिनिर्धारित करना कठिन है कि वह भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय से आबद्ध है, जब तक कि हम यह अभिनिर्धारित नहीं करते हैं कि प्रधान मंत्री सहित, सम्पूर्ण मन्त्रिपरिषद् भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय से आबद्ध होगी, जो ऐसा निर्वचन है, जो, हमारी राय में इतना कृत्रिम और विकृत (अस्वाभाविक) है कि उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता है। हम समझते हैं कि सांविधानिक उपबन्धों के ऐसा निर्वचन करने का अर्थ, निर्वचन की आड़ में, संविधान का पुनर्लेखन करना होगा, जिससे न्याय-व्यवस्था का ताना-बाना ही विकृत हो जाएगा, जो संविधान में बुना हुआ है। अतः न्यायिक स्वतन्त्रता के आदर्श के लिए यह बात कितनी ही विश्वसनीय (सन्तोषजनक) प्रतीत क्यों न हो कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के मत को अपने दो ज्येष्ठतम साथियों के मत की तुलना में प्राथमिकता प्राप्त होनी चाहिए, क्योंकि अपने दो ज्येष्ठतम साथियों से परामर्श करने के पश्चात् व्यक्त किया गया उसका मत सम्पूर्ण न्यायपालिका के मत का प्रतीक स्वरूप होगा, यह निवेदन स्वीकार नहीं किया जा सकता है, जब तक कि संविधान में संशोधन नहीं किया जाता। जैसे कि सांविधानिक उपबन्ध इस समय हैं, इस तर्काधार पर आधारित निवेदन अस्वीकार्य है। पूर्वगामी कारणों से, किन्तु अन्तिम पैरा में वर्णित शर्तों के अधीन रहते हुए, हम नहीं समझते कि न्या० भगवती, फजल अली, देसाई और वेंकटारामय्या के निर्णयों में यथास्पष्टीकृत, ऊपर निर्दिष्ट एस० पी० गुप्त

वाले मामले में, मामले के इस पहलू पर बहुमत की राय पर पुनर्विचार किए जाने की कोई आवश्यकता है।

323. अनुच्छेद 124 (2) और 217 (1) के निर्वचन के सम्बन्ध में हमने जो दृष्टिकोण अपनाया है, उसे देखते हुए, शान्तिभूषण और श्री जेठमलानी का निवेदन महत्वहीन हो जाता है। अन्यथा भी, हम उक्त निवेदन में कोई बल नहीं पाते। सरकारी शक्तियां सामान्यतः (i) कार्यपालिक (ii) विधायी, और (iii) न्यायिक, शक्तियों के रूप में विभाजित की गई हैं। उच्चतर न्यायालयों के लिए न्यायाधीश नियुक्त करने की शक्ति कार्यपालिक कृत्य है। अनुच्छेद 53 के आधार पर, कार्यपालिक शक्ति, निस्सन्देह, राष्ट्रपति में निहित है, जिसका प्रयोग उसे संविधान के अनुसार करना चाहिए। इसी प्रकार, अनुच्छेद 154 के अनुसार राज्य की कार्यपालिक शक्ति राज्यपाल में निहित है, जिसका प्रयोग उसे संविधान के अनुसार करना चाहिए। अनुच्छेद 73/162 में उपबन्ध किया गया है कि संविधान के उपबन्धों के अधीन रहते हुए, संघ/राज्य की कार्यपालिक शक्ति ऐसे मामलों को भी लागू होगी, जिनकी बाबत संसद्/राज्य विधान मण्डल को विधियां बनाने की शक्ति प्राप्त है। काउंसेल ने यह निवेदन किया कि (चूंकि) सातवीं अनुसूची की सूची I या सूची III द्वारा उच्चतर न्यायपालिका के लिए नियुक्तियों के सम्बन्ध में किसी विधि का बनाया जाना संभव नहीं किया गया है, अतः यह उपधारणा की जानी चाहिए कि राष्ट्रपति द्वारा प्रयुक्त शक्ति ऐसी नहीं है, जिसे संविधान का अनुच्छेद 74 (1) लागू होगा। किन्तु यहां काउंसेल अनुच्छेद 248 और सूची I की अवशिष्टीय प्रविष्टि 97 की अनदेखी कर रहे हैं, जिसके द्वारा संसद् को विनिर्दिष्ट रूप से असमाविष्ट विषयों की बाबत भी विधियां बनाने की अनन्य शक्ति प्रदत्त की गई है। सांविधानिक स्कीम के अधीन, राज्य सातवीं अनुसूची की सूची II में प्रगणित विषयों की बाबत विधियां बनाने की अनन्य शक्ति प्रदत्त की गई है। सांविधानिक स्कीम के अधीन, राज्य सातवीं अनुसूची की सूची II में प्रगणित विषयों की बाबत विधियां बना सकते हैं। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि कार्यपालिक शक्ति केवल विधायी प्रविष्टियों के अन्तर्गत आने वाले मामलों तक ही सीमित है। यह बात अवश्य ही ध्यान में रखी जानी चाहिए कि राष्ट्रपति और राज्यपाल, दोनों ही, प्ररूपिक (औपचारिक) प्रमुख हैं और संघ/राज्य की कार्यपालिक शक्ति का प्रयोग सम्बन्धित प्रमुख के नाम में किया जाना है। राष्ट्रपति और राज्यपाल सम्बन्धित मन्त्रिपरिषद् की सवयता और सलाह से संविधान द्वारा प्रदत्त शक्ति का प्रयोग करते हैं, सिवाय वहां के, जहां राज्यपाल से संविधान द्वारा या उसके अधीन, स्वविवेकानुसार, अपने कृत्यों का निर्वहन करने की अपेक्षा की जाती है। अनुच्छेद 163 की भाषा में सही-सही इन शब्दों का प्रयोग किया गया है—"जिन बातों में इस संविधान द्वारा या इसके अधीन राज्यपाल से यह अपेक्षित है कि वह अपने कृत्यों या उनमें से किसी को अपने विवेकानुसार करे, उन बातों को छोड़कर"। यहां यह उल्लेख करना उचित होगा कि अपवाद करने वाले शब्द अनुच्छेद 74 (1) में नहीं हैं। इसलिए **शमशेर सिंह** बनाम **पंजाब राज्य**[1] वाले मामले में पृष्ठ 835 पर यह अभिनिर्धारित किया गया कि केवल ऐसे कार्यपालिक कृत्यों का ही, जिनका निर्वहन संविधान द्वारा या उसके अधीन राज्यपाल द्वारा स्वविवेकानुसार किए जाने की अपेक्षा की गई है, मन्त्रि परिषद् की सहायता और सलाह

---

[1] [1975] 1 उम० नि० प० 357=[1975] 1 एस० सी० आर० 814.

के बिना निर्वहन किया जा सकता है, अन्य कृत्यों का नहीं। इस न्यायालय ने सांविधानिक अध्यपेक्षाओं के अनेक उदाहरण प्रगणित किए, जहां राज्यपाल को स्वविवेकानुसार कार्य करना चाहिए। चूंकि अनुच्छेद 217 (1) में यह नहीं कहा गया है कि राज्यपाल को उक्त कृत्य का स्वविवेकानुसार निर्वहन करना चाहिए, अतः यह स्पष्ट है कि उच्चतर न्याय-पालिका के लिए नियुक्तियों के मामले में, राज्यपाल को अपनी मन्त्रि परिषद् से प्राप्त सहायता और सलाह के अनुसार कार्य करना चाहिए। इसी प्रकार अनुच्छेद 74 (1) के आधार पर, राष्ट्रपति मन्त्रिपरिषद् की सहायता और सलाह से कार्य करने के लिए बाध्य है। यह तथ्य भी अनुभूत किया जाना चाहिए कि मन्त्रिपरिषद् संघ के मामले में लोकसभा के प्रति, और राज्य के मामले में, विधान-सभा के प्रति, सामूहिक रूप से उत्तरदायी है। यदि राष्ट्रपति या राज्यपाल अपनी मन्त्रिपरिषद् की सहायता और सलाह के आधार पर कार्य करने से इंकार करता है, तो उसके परिणामस्वरूप सांविधानिक संकट उठ खड़ा होगा। अतः, हमारे मन में इस बात के बारे में कोई शंका नहीं है कि संसदीय जनतन्त्र के उस रूप में, जो हमने अंगीकृत किया (अपनाया) है, राष्ट्रपति और राज्यपाल प्रतीकात्मक प्रमुख हैं और जब तक मन्त्रिपरिषद् अस्तित्व में हैं, उन्हें उनकी सलाह के अनुसार चलना चाहिए, सिवाय वहां के, जहां संविधान द्वारा या उसके अधीन राज्यपाल से स्वविवेकानुसार कार्य करने की अपेक्षा की जाती है। अतः, हम इस दलील को अस्वीकार करते हैं।

324. अगले विषय पर अग्रसर होने से पूर्व, उन दो (विषय) प्रशाखाओं का उल्लेख करना उचित होगा, जो सुनवाई के दौरान सामने आई। प्रथम शाखा न्यायाधीशों के स्थानान्तरण से सम्बन्धित थी, और दूसरी नियुक्ति हेतु कार्मिकों के चयन की रीति से सम्बन्धित थी। उपर्युक्त सुभाष शर्मा वाले मामले में निर्देशकारी निर्णय द्वारा बृहत्तर न्याय-पीठ द्वारा विचारार्थ इन पहलुओं के प्रति निर्देश नहीं किया गया है और इसलिए मुकदमा लड़ने वाले पक्षकारों ने इन मुद्दों पर अभिवचन नहीं किए हैं और कदाचित् विद्वान् काउंसेल भी उन पर विचार करने के लिए पूर्णतः तैयार नहीं थे। ऊपर निर्दिष्ट सांकल चन्द शेठ वाले मामले और एस० पी० गुप्त वाले मामले में, इस न्यायालय के दो विनिश्चयों में, स्थानान्तरण-रीति के विभिन्न पहलुओं पर विस्तार से विचार किया गया है। स्पष्टतः यह अभिनिर्धारित किया गया है कि स्थानान्तरण, न्याय-प्रशासन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए, लोकहित में होना चाहिए। अनुच्छेद 222 (1) द्वारा केवल भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श व्यादिष्ट किया गया है और इसलिए उसका मत (सम्पूर्ण) न्यायपालिका के मत को परिलक्षित नहीं करेगा, क्योंकि अनेकता-संकल्पना का अभाव है। विद्वान् महा-न्यायवादी ने ठीक ही यह उपदर्शित किया कि किसी अभ्यर्थी का न्यायाधीश के रूप में चयन किए जाने के पश्चात्, न्यायपालिका के एक सदस्य के रूप में उसके साथ संव्यवहार करने में अत्यधिक सावधानी बरती जानी चाहिए, जिससे यह सुनिश्चित किया जा सके कि स्थानान्तरण की शक्ति को न्यायापलिका का विध्वंस करने के उपकरण (साधन) के रूप में नहीं देखा जाता है। चूंकि यहां एकमात्र परामर्श किया जाने वाला व्यक्ति भारत का मुख्य न्यायमूर्ति है, अतः उसके ऊपर यह सुनिश्चित करने का भारी उत्तरदायित्व है कि स्थानान्तरण लोक हित और न्यायिक प्रशासन के हित में है। अनुच्छेद 222 (1) की भाषा से इस अर्थ का बोध नहीं होता है कि जब एक बार कोई न्यायाधीश एक उच्च न्यायालय से दूसरे उच्च न्यायालय को स्थानान्तरित किया जाता है, तो उसके सन्दर्भ में स्थानान्तरण की शक्ति समाप्त हो जाती

1993(10) eILR(PAT) SC 1

है और उसकी सम्मति के बिना द्वितीय स्थानान्तरण अनुज्ञेय नहीं है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि जब तक बाध्यकारी कारण न हों, भारत का मुख्य न्यायमूर्ति द्वितीय स्थानान्तरण के लिए अपनी सम्मति नहीं देगा। और चूंकि यह नियुक्ति-पश्चात् प्रक्रम है, अतः भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय का गुरुतर महत्व होगा, क्योंकि कार्यपालिका द्वारा न्यायपालिका के सदस्य का स्थानान्तरण करने की शक्ति के प्रयोग के, गलती से कार्यपालिका के न्यायपालिका की स्वतन्त्रता को कम करने के प्रयास के रूप में समझे जाने की संभावना है। इस क्षेत्र में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के मत को दिया जाने वाला महत्व उस महत्व से अधिक होगा, जो प्रवेश-पूर्व प्रक्रम पर उसके मत का होगा। चूंकि स्थानान्तरण केवल लोक हित में ही किया जा सकता है, अतः उक्त अध्यपेक्षा या परिसीमा ही न्यायिक स्वतन्त्रता को रक्षोपाय प्रदान करेगी। लोक हित में किया गया स्थानांतरण दण्डात्मक नहीं हो सकता है किन्तु यह सुनिश्चित करने के लिए सावधानी सदैव बरती जानी चाहिए कि लोक हित की आड़ में, उच्च न्यायालय के न्यायाधीश को दण्डित नहीं किया जा रहा है। जब किसी अवर न्यायाधीश को अन्यत्र मुख्य न्यायमूर्ति के रूप में कार्य-भार सम्भालने के लिए स्थानान्तरित किया जाता है, तब ऐसे स्थानान्तरण का, उसमें अन्तर्वलित प्रोन्नति के कारण, कभी भी दण्डात्मक स्थानान्तरण के रूप में अर्थ नहीं लगाया जाएगा किन्तु जहां उस व्यक्ति के सन्दर्भ में वह द्वितीय स्थानान्तरण है, वहां उसका इस प्रकार निर्वचन किए जाने की संभावना है और इसलिए यह सुनिश्चित करने के लिए कि ऐसा नहीं किया जाता है, पूरी पूर्वावधानी बरतने के लिए परामर्श-प्रक्रिया के दौरान भारत के मुख्य न्यायमूर्ति पर कहीं गुरुतर उत्तर-दायित्व अधिरोपित किया गया है। जब इस प्रकार की सावधानी बरत ली जाती है, तब उक्त शक्ति को सम्बन्धित न्यायाधीश की सम्मति के बिना केवल एक स्थानान्तरण करने तक और उसके पश्चात् केवल उसकी सम्मति से ही स्थानान्तरण तक सीमित करने के लिए (वाली) अनुच्छेद 222 (1) में कोई बात नहीं है।

325. दूसरे मुद्दे, अर्थात् उच्चतम न्यायालय के लिए नियुक्ति हेतु चयन की रीति, पर बार (न्यायालय) में कोई विचार-विमर्श नहीं हुआ और सिवाय साधारण घिसे-पिटे आदान-प्रदान के, विचार-विमर्श से कोई ठोस सुझाव सामने नहीं आया। अपने सम्बोधन के अनुक्रम में विद्वान् काउंसेलों द्वारा विरचित मुद्दों में, किसी ने भी उच्चतम न्यायालय के लिए नियुक्ति हेतु अभ्यर्थियों के चयन के मामले में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति (न्यायाधिपति) द्वारा अपनाए जाने वाले दिशा-निर्देशों का कोई उल्लेख नहीं किया था। इसी प्रकार किसी भी काउंसेल ने उच्च न्यायालय के लिए की जाने वाली नियुक्तियों के लिए उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायमूर्तियों द्वारा अपनाए जाने वाले दिशा-निर्देशों को अधिकथित करने के लिए कोई विनिर्दिष्ट मुद्दे विरचित नहीं किए। इन परिस्थितियों में, हम इस संबंध में कोई दिशा-निर्देश अधिकथित करना खतरनाक समझते हैं। यह न्यायपीठ सुभाष शर्मा (ऊपर निर्दिष्ट) वाले मामले में विनिर्दिष्ट रूप से वर्णित दोनों मुद्दों पर विचार करने के लिए गठित किया गया, जिन तक अभिवचन सीमित रखे गए हैं और उच्चतम न्यायपालिका के लिए (में) नियुक्तियों के विषय में अपनाई जाने वाली प्रक्रिया पर निर्देश की सुनवाई के प्रक्रम पर भी कोई प्रश्न विनिर्दिष्ट रूप से विरचित नहीं किया गया। बार की ओर से समुचित सहायता के अभाव में, हम समझते हैं कि इस संबंध में कोई राय व्यक्त करना बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं होगा। जैसा कि न्या० देसाई ने कहा : "सांविधानिक प्रज्ञा का यह सुमान्य सार-तत्व है कि सांविधानिक

विषयों में न्यायालय उस चीज का विनिश्चय नहीं करते हैं, जो उनके समक्ष लाई ही नहीं गई है और न वे भावी कार्यवाही की विवेकपूर्णता या विधिमान्यता पर, सिवाय अनुच्छेद 143 के अधीन निर्देश में, कोई सलाह देना चाहेंगे। अतः हमारी यह राय है कि चयन-प्रक्रिया के कार्यकरण के बारे में दिशा-निर्देश अधिकथित करने का प्रयास करना बुद्धिमत्तापूर्ण (कार्य) नहीं होगा। इस आपत्ति के बावजूद हम यह महसूस करते हैं कि (चूंकि) हमारे विद्वान् बन्धुओं ने नियुक्तियों के संबंध में कतिपय (कुछ) दिशा-निर्देश या नियम अधिकथित करना उचित समझा है, जो हमारे मतानुसार इतरोक्ति मात्र होगा, और जो, हमें डर है, विद्यमान समस्याओं का समाधान करने के बजाय, बार में गहन विचार-विमर्श के अभाव में और अधिक समस्याएं सर्जित कर सकता है और भारत के मुख्य न्यायाधिपति को परिहार्य मुकदमेबाजी और परेशानी में डाल (उलझा) सकता है, अतः हमें अपना मत-स्पष्ट रूप से व्यक्त करना चाहिए क्योंकि ऐसा न हो कि हमारे मौन को सम्मति समझ लिया जाए। इस बात को अवश्य ही ध्यान में रखा जाना चाहिए कि उच्चतम न्यायपालिका में प्रवेश आमंत्रण द्वारा होता है और उच्चतर न्यायपालिका (को) गठित करने वाले न्यायाधीश कठोर अर्थ में सिविल सेवक नहीं हैं। उच्चतर न्यायपालिका गठित करने वाले न्यायाधीशों द्वारा किए जाने वाले कृत्य जिला न्यायाधीशों द्वारा किए जाने वाले कृत्यों से पूर्णतः भिन्न हैं। इसी प्रकार सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों द्वारा किए जाने वाले कर्तव्यों और कृत्यों की प्रकृति उच्च न्यायालय स्तर के न्यायाधीशों द्वारा किए जाने वाले कर्तव्यों और कृत्यों की प्रकृति से भिन्न है। अतः यह कहने से कि सर्वोच्च न्यायालय के लिए नियुक्ति के विषय में संबंधित उच्च न्यायालय में परस्पर-ज्येष्ठता और अखिल भारत स्तर पर समुच्चयित ज्येष्ठता को सम्यक् महत्व दिया जाना चाहिए, जब तक कि इससे विचलन को न्यायोचित ठहराने के लिए सशक्त और विश्वसनीय कारण न हों, कम-से-कम कहा जाए, अनेक समस्याएँ पैदा हो जाएंगी। उदाहरणार्थ, अखिल भारत-ज्येष्ठता में प्रथम चार न्यायाधीश एक ही उच्च न्यायालय से (के) हैं। यदि आप उन सबकी नियुक्ति करते हैं, तो न्यायालय का 'प्रतिनिधि' स्वरूप विकृत हो जाएगा। उदाहरण के लिए, अमुक उच्च न्यायालय का ज्येष्ठतम न्यायाधीश अखिल भारत ज्येष्ठता में क्रम सं० 50 पर है और उच्च न्यायालय से, जो बड़े उच्च न्यायालयों में से एक हैं सर्वोच्च न्यायालय में कोई न्यायाधीश नहीं है। भारत के मुख्य न्यायाधिपति नियुक्ति हेतु उसे नामनिर्देशित करना कठिन पाएंगे और यदि वह ऐसा करते हैं, तो इस बात की पूरी संभावना है कि उसके ज्येष्ठ भारत के मुख्य न्यायाधिपति के इस विनिश्चय को न्यायालय में चुनौती दें। उच्च न्यायालयों और उच्चतम न्यायालय के 'प्रतिनिधि' स्वरूप को कायम रखने के लिए, जिससे कि सभी प्रकार के लोगों का न्याय-संस्था में विश्वास बना रहे, ज्येष्ठता का नियम, जो सिविल सेवाओं के लिए विधिमान्य हो सकता है (सिविल सेवाओं में भी उच्चतर पद योग्यता के आधार पर भरे जाते हैं), सांविधानिक कृत्यकारियों को लागू नहीं हो सकता है। इसी प्रकार, विधिसम्मत प्रत्याशा के सिद्धांत की भी, नियुक्त किए जाने वाले (न्यायाधीश) की उपयुक्तता अवधारित करने में, कोई संगति नहीं हो सकती है। ज्येष्ठता सिद्धांत और विधिसम्मत प्रत्याशा सिद्धांत व्यावहारिक उपयोज्यता (लागू किए जाने) के योग्य नहीं है क्योंकि वे उच्चतर न्यायपालिका के 'प्रतिनिधि' स्वरूप को नष्ट कर देंगे, जो न्याय प्रणाली में विश्वास रखने के लिए समाज के प्रत्येक भाग के लिए पूर्णतः आवश्यक है। ज्येष्ठता सिद्धांत और विधिसम्मत प्रत्याशा सिद्धांत केवल

1993(10) eILR(PAT) SC 1

योग्यता को द्वितीय स्थान पर ही धकेल देंगे। उच्चतर न्यायपालिका के लिए नियुक्तियां एकमात्र योग्यता और उपयुक्तता की अन्य बातों के आधार पर होनी चाहिए, न कि उच्च न्यायालय में परस्पर-ज्येष्ठता या समुच्चयित अखिल भारत-ज्येष्ठता सूची में स्थिति के अनुसार। ऐसे मामलों में, जिनमें नियुक्तियां योग्यता के आधार पर और आमंत्रण द्वारा हैं, विधिसम्मत प्रत्याशा के सिद्धांत के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता है। यहां हम यह भी बता देना उचित समझते हैं कि जहां विचाराधीन दोनों अभ्यर्थियों की योग्यता बराबर है, वहां 'प्रतिनिधि' स्वरूप आदि को बनाए रखने की अन्य अध्यपेक्षाओं के पूरा किए जाने की शर्त के अधीन रखते हुए, परस्पर-ज्येष्ठता अपनी भूमिका निभा सकेगी। हम अपना यह भय व्यक्त किए बिना नहीं रह सकते कि उच्चतर न्यायपालिका के लिए अभ्यर्थियों के चयन के मामले में इन दो सिद्धांतों का लागू किया जाना खतरों से भरा हुआ है। विश्व में कहीं भी उच्चतर न्यायपालिका के लिए नियुक्ति हेतु इन दोनों सिद्धांतों को विधिमान्य नहीं माना गया है, सिवाय कदाचित् फ्रांस के, जहां न्यायिक सेवा, सामान्य विधि (कामन ला) अधिकारिता से बिल्कुल भिन्न, कैरियर सेवा है। चूंकि विवाद्यक निर्देशकारी निर्णय से उद्भूत नहीं हुआ है और वह प्रत्यक्ष ध्यानाकर्षण हेतु नहीं रखा गया और चूंकि बार में कोई सार्थक संवाद नहीं हुआ, अतः हम भी मामले के विभिन्न पहलुओं पर विचार नहीं करना चाहते, क्योंकि साधारणतः अत्यधिक महत्व के सांविधानिक विवाद्यकों पर 'इतरोक्ति' की प्रकृति की राय व्यक्त करना उचित नहीं हैं। किंतु हमने कुछ शब्द अवश्य कहे हैं, क्योंकि ऐसा न हो कि हमारे मौन को हमारे विद्वान् बंधु न्यायाधीशों के निर्णय में की गई मताभिव्यक्तियों से सहमति न मान लिया जाए।

326. अब हम इस द्वितीय प्रश्न पर आते हैं कि क्या संविधान के अनुच्छेद 216 के अधीन न्यायाधीश-संख्या के नियतन से संबंधित विवाद्यक न्याय्य है। इस बात के बारे में कोई संदेह नहीं है कि एक या दो अपवादों के सिवाय, प्रत्येक उच्च न्यायालय में कार्याधिक्य बहुत है। इन उच्च न्यायालयों में बैक लाग (पिछला कार्य) बहुत अधिक है। सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय हमारा सांविधानिक लक्ष्य है। जब किसी सभ्य समाज के सदस्य अपने विवादों का राज्य द्वारा व्यवस्थित (प्रस्थापित) स्वतंत्र और निष्पक्ष मशीनरी (तंत्र) द्वारा समाधान कराना चाहते हैं और उन्हें शासित करने वाली (लागू होने वाली) विधियां और नियम (मौजूद) हैं, तब हम समझते हैं कि इस बात का विवक्षित वायदा (वचन) है कि इस प्रकार प्रस्थापित तंत्र युक्तियुक्त समय के अन्दर अपना कार्य पूरा कर देगा। मानव-जाति न्याय-बोध के बारे में सदा सजग रही है और इसलिए न्याय किसी भी सभ्य समाज का प्रथम गुण रहा है। अतः इस बात के बारे में कोई शंका नहीं हो सकती है कि इस देश में न्याय पद्धति से सम्बद्ध सभी व्यक्ति इस तथ्य से अवश्य ही अवगत होंगे कि विभिन्न कारणों से, जिनके लिए न्यायपालिका ही पूर्णतः उत्तरदायी नहीं हैं, न्यायप्रणाली युक्तियुक्त समय के अन्दर न्याय प्रदान करने के अपने विवक्षित वचन का पालन करने में समर्थ नहीं रही है। ऐसा अनिवार्यतः इस कारण है कि हमारी न्याय-प्रणाली को आधुनिक बनाने पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है, न्याय-प्रणाली से सम्बद्ध व्यक्तियों से सहयोग नहीं मिल पा रहा है और वृत्ति के सदस्यों ने भी बार-बार स्थगनों और हड़तालों द्वारा इसमें योगदान किया है। कार्यपालिका भी अपने मुकदमेबाजी-भार को कम करने में समर्थ नहीं रही है और यह प्रवृत्ति स्पष्ट दिखाई देती है कि उच्च पंक्ति के अधिकारी भी अपना उत्तर-

दायित्व स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं और वे इस उत्तरदायित्व को न्यायपालिका के कंधे पर डालना सरल समझते हैं । राजनीतिक विधिक विवाद्यक भी न्यायालयों को अन्तरित कर दिए जाते हैं, जिसमें न्यायपालिका का काफी समय लग जाता है । पर्यावरण में अवनति (गिरावट) आई है और उसने भी न्यायपालिका की कार्य-संस्कृति को प्रभावित किया है । न्यायाधीशों की सेवा-शर्तें आकर्षक नहीं रह गई हैं । वे औसत वकील के उपार्जनों की अवेक्षा नहीं करते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि बार से सही प्रकार के व्यक्तियों की भर्ती कठिन हो गई है, जिससे मामलों का निपटारा करने की गति धीमी हो गई है और अपील तथा पुनरीक्षण कार्य बढ़ गया है । अतः यह आवश्यक है कि हम यह महसूस करें कि न्यायाधीशों की संख्या मात्र एक लघु योगदायी कारक है । यहां भी हम इस तथ्य की अनदेखी नहीं कर सकते हैं कि सदा एक ऐसी श्रेष्ठ संख्या होती है, जिसके परे की संख्या अधिशेष (फालतू) मात्र होगी क्योंकि यह सामान्य जानकारी की बात है कि प्रत्येक जिले या उच्च न्यायालय में कार्य कुछ वकीलों के हाथ में ही केन्द्रित रहता है और किसी न्यायाधीश के समक्ष उनके कार्यरत होने के कारण उनके उपलब्ध न होने से दूसरे न्यायाधीश निष्क्रिय हो सकते हैं । अतः यह सोचना गलत होगा कि केवल न्यायाधीशों की संख्या में वृद्धि से ही बकाया (कार्य) की समस्या का समाधान हो जाएगा ; उससे, यदि उसे वैज्ञानिक रूप से कार्यान्वित किया जाता है, निश्चय ही समस्या का समाधान आसान हो जाएगा । वस्तुतः आवश्यकता इस बात की है कि कार्य-भार को प्रभावी रूप से संभाला जाए । उदाहरण के लिए ऐसा मामला ले सकते हैं, जिससे सर्वोच्च न्यायालय किसी विषय पर विधि अधिकथित करता है । तत्पश्चात् उस प्रकार के सभी मामलों का, जो उक्त विनिश्चय पर निर्भर करते हैं, सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अधिकथित विधि के अनुसार निपटारा किया जाना चाहिए । किन्तु प्रबंध (व्यवस्था) ठीक न होने के कारण किसी को भी यह पता नहीं होता कि सभी न्यायालयों में कितने मामले लम्बित हैं । परिणामस्वरूप वे न्यायालयों के रजिस्टरों में पड़े रहते हैं और उनका निपटारा उनकी बारी आने पर डेली बोर्ड पर आने के पश्चात् ही हो पाता है । यदि इसी बीच कोई जटिलता सामने आ जाती है, तो निपटारे में भी विलम्ब हो जाएगा । यह इस तथ्य को उजागर करने के लिए ही है कि स्वतः न्यायाधीशों की संख्या में वृद्धि से ही स्थिति में सारभूत परिवर्तन नहीं आ जाएगा, जब तक कि सम्पूर्ण प्रणाली (पद्धति) को संगणित्रों आदि की सहायता से आधुनिक नहीं बनाया जाता है और विधि के विलम्ब से लड़ने के लिए वृत्ति, कार्यपालिका और न्यायपालिका के सदस्यों की सहायता से वस्तुतः (धर्म) युद्ध नहीं छेड़ दिया जाता ।

327. जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, न्यायाधीशों की संख्या में वृद्धि से मामलों के निपटारे में विलम्ब की समस्या कुछ हल्की हो सकती है । अनुच्छेद 216 में यह उपबंध किया गया है कि प्रत्येक उच्च न्यायालय मुख्य न्यायमूर्ति और ऐसे अन्य न्यायाधीशों से मिल कर बनेगा, जिन्हें राष्ट्रपति समय-समय पर नियुक्त करना आवश्यक समझें । उक्त अनुच्छेद द्वारा स्पष्टतः राष्ट्रपति, अर्थात् कार्यपालिका पर प्रत्येक उच्च न्यायालय में नियुक्त किए जाने के लिए आवश्यक न्यायाधीशों की संख्या के बारे में समय-समय पर विनिश्चय करने का कर्तव्य अधिरोपित किया गया है । "नियुक्त करना आवश्यक समझें" शब्दों को "समय-समय" पर शब्दों के साथ मिला कर पढ़ने से इस बात के बारे में कोई शंका नहीं रह जाती है कि उक्त अनुच्छेद द्वारा प्रत्येक उच्च न्यायालय की बाबत कार्यपालिका न्याया-

धीशों की संख्या का समय-समय पर (आवधिक) निर्धारण परिकल्पित किया गया है। निस्संदेह, यह एक सांविधानिक बाध्यता है, जिसका समय पर और विलम्ब के बिना निर्वहन किया जाना चाहिए। यह उल्लेख करना उचित होगा कि इस उपबंध में न्यायिक पक्ष से परामर्श का उल्लेख नहीं किया गया है किन्तु सामान्यतः उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति न्यायाधीशों की संख्या में वृद्धि के लिए कार्यवाही आरम्भ करते हैं, क्योंकि वही अपनी अध्यपेक्षाओं को जानने-समझने के विषय में, अन्यों की तुलना में, अधिक उपयुक्त है। चूंकि न्यायाधीशों की संख्या का नियतन विभिन्न बातों पर निर्भर करता है, अतः साधारण रूप से लागू किए जाने के लिए कोई एकरूप नियम प्रतिपादित नहीं किया जा सकता है। स्थानीय बातें (कारक) भिन्न-भिन्न होती हैं और उन्हें स्वेच्छानुसार समाप्त नहीं किया जा सकता है। यह इतना सरल नहीं हो सकता है कि अपेक्षित न्यायाधीशों की संख्या निकालने हेतु प्रत्येक न्यायाधीश के लिए नियत 'निपटारा-नियम' द्वारा लम्बित पिछले कार्य को विभाजित किया जा सके। उदाहरण के लिए ऐसा मामला लीजिए, जिसमें न्यायाधीशों की संख्या पर्याप्त है किन्तु बार-बार रुकावट के कारण मामले इकट्ठे हो गए हैं—हम कार्य में रुकावट के औचित्य के बारे में नहीं बल्कि रुकावट के तथ्य के बारे में कह रहे हैं। क्या न्यायाधीशों की संख्या के ऊर्ध्वगामी पुनरीक्षण की मांग को न्यायोचित ठहराया जा सकता है। यदि अतिरिक्त न्यायाधीश नियुक्त कर भी लिए जाते हैं किन्तु कार्य में रुकावट जारी रहती है, तो क्या न्यायाधीशों की संख्या में वृद्धि से मामलों के निपटारे पर कोई महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ेगा। दुर्भाग्यवश, ऐसे उच्च न्यायालय और उनके अधीनस्थ न्यायालय बहुत कम हैं, जिन्हें इस समस्या का सामना नहीं करना पड़ता हो। इसी प्रकार, उदाहरण के लिए ऐसी स्थिति को लिया जा सकता है, जिसमें बार में औसत उपार्जनों और न्यायाधीशों को प्रस्थापित सेवा-शर्तों के बीच अत्यधिक विषमता के कारण सही प्रकार के अभ्यर्थी उपलब्ध नहीं होते हैं। तो क्या इस बात से मामलों के निपटारे में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन आएगा, यदि औसत योग्यता से कम योग्यता वाले अभ्यर्थियों को बढ़ाए हुए पदों को भरने के लिए नियुक्त किया जाता है। सम्पूर्ण समस्या बहुत जटिल है और उसका कोई व्यवहार्य समाधान समझ में नहीं आता। इसीलिए ऊपर निर्दिष्ट एस० पी० गुप्त वाले मामले में न्या० भगवती ने यह कहा कि (चूंकि) इसमें अनेक जटिल नीति-विचारणाएं अन्तर्वलित हैं, अतः "न्यायिक रूप से प्रबन्धनीय मानकों के अभाव में साधारण उपयोज्यता (लागू होना) का कोई दिशा-निर्देश अधिकथित करना संभव नहीं है। अतः न्या० भगवती ने यह माना कि न्यायपालिका के लिए न्यायिक रूप से प्रबन्धनीय मानकों के अभाव में कार्यपालिका को कोई निदेश जारी करना संभव नहीं होगा और इसलिए मामला अनिवार्यतः कार्यपालिका के विवेकाधिकार के अधीन रहना चाहिए और यदि कार्यपालिका पर्याप्त संख्या में न्यायाधीश नियुक्त नहीं करती है, तो अपील विधान-मण्डल को की जानी चाहिए, न कि न्यायालय को। न्या० तुलजापुरकर ने अनुच्छेद 216 और 224(1) पर विचार करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला कि यद्यपि राष्ट्रपति पर प्रत्येक न्यायालय में स्थायी न्यायाधीशों को पर्याप्त संख्या में व्यवस्था करने की आज्ञापक बाध्यता अधिरोपित की गई है, (तथापि) उच्चतम न्यायालय के लिए उच्च न्यायालय की स्थायी संख्या में वृद्धि करके अपर (अतिरिक्त) न्यायाधीशों को स्थायी बनाने के लिए परमादेश जारी करके निदेश या अनुतोष देना उचित नहीं होगा। उन्होंने यह भी कहा कि न्यायाधीशों को नियुक्त करना पूर्णतः कार्यपालिक कृत्य हैं, जो संविधान द्वारा कार्यपालिका को सौंपा गया है और उच्चतम न्यायालय का अपने लिए वह कृत्य हड़प लेना या उस संबंध में निदेश जारी करना ठीक नहीं

होगा, जब तक कि वह स्पष्ट परिस्थितियों द्वारा ऐसा करने के लिए बाध्य नहीं कर दिया जाता है। न्या० देसाई ने न्या० भगवती के मत का समर्थन किया और यह मत व्यक्त किया: "अनुच्छेद 216 द्वारा राष्ट्रपति पर उच्च न्यायालयों में न्यायाधीशों को पर्याप्त संख्या में नियुक्त करने के लिए अधिरोपित कर्तव्य का पालन करने में असफलता उन्हें संसद् के प्रति जबाबदेह बनाएगी, न कि न्यायालय के प्रति"। न्या० पाठक ने इस बात पर जोर देते हुए कि अनुच्छेद 216 द्वारा प्रत्येक उच्च न्यायालय में न्यायाधीशों की संख्या का पुनर्विलोकन आदिष्ट किया गया है, यह अभिनिर्धारित किया कि वह पूर्णतः कार्यपालिक कृत्य है और न्यायालय न्यायिक अधिमत द्वारा यह विनिश्चय नहीं कर सकता है कि उच्च न्यायालय के लिए कितने स्थायी न्यायाधीशों की आवश्यकता है। न्या० वेंकटरामय्या ने इस संबंध में यह निम्न मत व्यक्त किया—

> "न्यायाधीशों की पर्याप्त संख्या में नियुक्ति करने के लिए संविधान के अनुच्छेद 216 द्वारा राष्ट्रपति को प्रदत्त शक्ति कर्तव्य से युक्त शक्ति है और वह राजनीतिक कृत्य मात्र नहीं है। वर्तमान मामले में सामान्यतः न्यायालय उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की संख्या के अवधारण के कर्तव्य का पालन करने के लिए सरकार को कोई परमादेश जारी करने में अनिच्छुक होता। किन्तु अनेक उच्च न्यायालयों में न्यायाधीशों की बिल्कुल अपर्याप्तता को देखते हुए, जिसके बारे में कोई विवाद नहीं है, यह बात अपरिहार्य प्रतीत होती है कि संघ सरकार को उच्च न्यायालयों में संस्थित मामलों के निपटारे के लिए अपेक्षित स्थायी न्यायाधीशों की युक्तिसंगत समय के भीतर संख्या अवधारित करने और ऐसा अवधारण करने के पश्चात् रिक्तियां भरने हेतु कार्यवाही करने के लिए निदेश दिया जाना चाहिए।"

उसके पश्चात् वह प्रत्येक उच्च न्यायालय में स्थायी न्यायाधीशों की संख्या का पुनर्विलोकन करने, ऐसे स्थायी न्यायाधीशों की, जो कार्य-भार के आधार पर नियुक्त किए जाने चाहिए, संख्या नियत करने और रिक्तियों को भरने के लिए अग्रसर हुए। उन्होंने उपर्युक्त बातों के अनुसार रिट जारी किए जाने का निदेश दिया।

328. उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि विद्वान् न्यायाधीशों में से तीन न्यायाधीशों, अर्थात् न्या० भगवती, न्या० देसाई और न्या० पाठक की स्पष्टतः यह राय थी कि अनुच्छेद 216 के अधीन न्यायाधीश-संख्या के नियतन का प्रश्न अनिवार्यतः एक कार्यपालिक कृत्य था और वह न्यायालय में न्याय्य नहीं था। उन्होंने यह अभिनिर्धारित किया कि न्यायपालिका रिट या निदेश जारी नहीं कर सकती है, यदि कार्यपालिका अनुच्छेद 216 के अधीन अपने कर्तव्य का पालन करने में असफल रहती है, और उसका उपचार विधायिका में निहित है। किन्तु न्या० तुलजापुरकर ने यह महसूस किया कि न्यायालय के लिए इस कारण निदेश देना या रिट जारी करना उचित नहीं होगा कि न्यायाधीशों की नियुक्ति करना पूर्णतः कार्यपालिक कृत्य है और इस लिए उस कृत्य को हड़पना गलत होगा, जब तक कि सुस्पष्ट परिस्थितियों द्वारा ऐसा करने के लिए बाध्य न कर दिया जाए। अतः उन्होंने इसे औचित्य के आधार पर रखा किन्तु उसे "जब तक कि सुस्पष्ट परिस्थितियों द्वारा ऐसा करने के लिए बाध्य न किया जाए" शब्दों द्वारा विशेषित (सीमित) कर दिया, जिनमें यह विवक्षित है कि यदि सुस्पष्ट परिस्थितियां मौजूद हैं तो न्यायालय द्वारा उक्त

शक्ति का प्रयोग किया जा सकता है। अतः शक्ति के अभाव और अधिकारिता तथा औचित्य के आधार पर शक्ति का प्रयोग करने से इंकार, यद्यपि न्यायालय को अन्तर्निहित अधिकारिता प्राप्त है, के बीच अन्तर करना आवश्यक है। अतः प्रथम तीनों विद्वान् न्यायधीशों ने यह विनिर्णय किया है कि न्यायालय में रिट या निदेश जारी करने की शक्ति का अभाव था, जबकि चौथे विद्वान् न्यायाधीश ने यह कहा है कि उक्त शक्ति का प्रयोग उचित नहीं होगा, जब तक कि सुस्पष्ट परिस्थितियां मौजूद न हों। तथापि न्या० वेंकटरामय्या ने कार्यभार के आधार पर सावधिक रूप से न्यायाधीश-संख्या का पुनर्विलोकन करने के लिए संघ को निदेश देने की सीमा तक विवाद्यक को न्याय्य माना। किन्तु, जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, अनन्यतः कार्यभार के आधार पर न्यायाधीश संख्या का नियतन सही नहीं भी हो सकता है, क्योंकि कार्यभार का संचयन विविध कारणों से हो सकता है।

329. न्यायिक जनशक्ति योजना के प्रश्न ने भारत के विधि आयोग का ध्यान आकृष्ट किया। विधि-विलम्ब के होते हुए भी इस महत्वपूर्ण पहलू की उपेक्षा पर दुःख व्यक्त करते हुए, आयोग ने अन्य देशों को तुलना में, जहां निम्न न्यायाधीश जनसंख्या अनुपात आस्ट्रेलिया में प्रति 10 लाख जनसंख्या 41.6 न्यायाधीश से लेकर संयुक्त राज्य अमरीका में प्रति 10 लाख जनसंख्या 107 न्यायाधीश तक अलग-अलग था, भारत में निम्न न्यायाधीश जनसंख्या अनुपात - प्रति 10 लाख जनसंख्या 10.5-उपदर्शित किया और यह महसूस किया कि थोड़े समय में न्यायाधीश-संख्या में पंचगुनी वृद्धि परिकल्पित करना कठिन था। किन्तु आयोग ने यह स्वीकार किया—

> "आयोग यह महसूस करता है कि कठोर तकनीकी जानकारी और विश्लेषण के अभाव ने न्याय प्रशासन सहित, सभी संबंधित व्यक्तियों द्वारा इस स्थिति के प्रति मौन उदासीनता को बढ़ाया है (यदि पैदा नहीं किया है)। आयोग की वर्तमान संरचना के तथ्य को देखते हुए, स्वयं आयोग भी इस प्रकार के विश्लेषण की व्यवस्था करने की स्थिति में नहीं है, केवल जिसके आधार पर ही परिवर्तन का ठोस कार्यक्रम परिकल्पित किया जा सकता है। निस्संदेह, आयोग ने उसके पश्चात् दूसरी सर्वोत्तम बात की है और इस क्षेत्र में जानकार लोगों और जन-साधारण की व्यापक राय प्राप्त की है। किन्तु हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि सब कुछ कह लेने और कर लेने के बाबजूद, यह ठोस वैज्ञानिक विश्लेषण का अत्यन्त तुच्छ विकल्प है।" (जोर देने के लिए रेखांकन हमारे द्वारा किया गया है)

आयोग को यह प्रथम अन्तरिम रिपोर्ट (120वीं रिपोर्ट) थी। आयोग ने प्रति 10 लाख जनसंख्या 10.5 न्यायाधीश अनुपात को बढ़ा कर प्रति 10 लाख जनसंख्या 50 न्यायाधीश किए जाने (अर्थात् पंचगुनी वृद्धि) की सिफारिश की। उसके पश्चात् "ए न्यू फोरम" "ज्युडिशियल ऐपायंटमेंट्स" पर एक व्यापक रिपोर्ट (121वीं रिपोर्ट) प्रस्तुत की गई। 127वीं रिपोर्ट न्यायपालिका की अब-संरचना में सुधार की समस्याओं के संबंध में थी। 120वीं रिपोर्ट से उद्धृत आयोग की मताभिव्यक्तियों से यह स्पष्ट हो जाएगा कि आयोग ने भी, जिसे तकनीकी विश्लेषण करने के लिए समय और अवसर भी, उपलब्ध था, जिसके

आधार पर ठोस और टिकाऊ फार्मूला (सिद्धान्त-सूत्र) प्रतिपादित किया जा सकता था, ऐसा करने में अपनी असमर्थता व्यक्त की और उसी चीज का सहारा लिया, जिसे उसने "उसके पश्चात् दूसरी सर्वोत्तम बात" और "ठोस वैज्ञानिक विश्लेषण का अत्यंत तुच्छ विकल्प" माना। यह उल्लेख करने का प्रयोजन यह उपदर्शित करना है कि न्यायाधीश संख्या के नियतन की वैज्ञानिक पद्धति कोई सरल कार्य नहीं है। यदि यह विधि आयोग जैसे निकाय के लिए, जिसे विशेषज्ञों की राय और समय उपलब्ध था, कठिन कार्य था, तो न्यायालयों के लिए यह कार्य करना वस्तुतः असंभव होगा।

330. उपर्युक्त पृष्ठभूमि में इस प्रश्न का विधिक सिद्धान्त के आधार पर ही उत्तर दिया जाना चाहिए कि विवाद्यक न्याय्य है या न्याय्य नहीं है, अर्थात् क्या वह न्यायालय की परिधि के परे है या यद्यपि वह न्याय्य है, तथापि मात्र कोई निदेश देना या रिट जारी करना उचित नहीं होगा। सारतः इससे न्यायिक पुनर्विलोकन की परिधि का प्रश्न उद्भूत होता है। इस सिद्धान्त के अधीन उच्च न्यायालय और सर्वोच्च न्यायालय ऐसे व्यक्तियों पर पर्यवेक्षी अधिकारिता का प्रयोग करते हैं, जिन्हें लोक कार्यों और कर्तव्यों के निर्वहन का काम सौंपा गया है। न्यायालयों द्वारा यह अधिकारिता सामान्य विधि (कामन ला) से व्युत्पन्न की गई और समुचित रिट जारी करके उसका प्रयोग किया गया। साधारणतः कार्य के गुणागुण का नहीं बल्कि स्वयं विनिश्चय करने वाली प्रक्रिया का पुनर्विलोकन किया जाता है। सामान्यतः न्यायालय का कर्तव्य स्वयं को वैधता के प्रश्न तक ही सीमित रखना होता है, अर्थात् क्या प्राधिकारी/प्राधिकरण ने अपनी शक्तियों का अतिक्रमण किया है या उनका दुरुपयोग किया है, क्या उसने नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों के उल्लंघन में कार्य किया या क्या उसने अतर्कसंगत, अयुक्तियुक्त और मनमानी रीति में या ऐसी ही रीति में कार्य किया है। मोटे रूप से कहा जाए तो प्रशासनिक कार्यवाही तीन आधारों पर न्यायिक पुनर्विलोकन के अधीन है, अर्थात् (i) अवैधता, (ii) अतर्कसंगतता और (iii) प्रक्रियात्मक अनौचित्य। किन्तु यह बात उन मामलों में सही हो सकती है, जिनमें लोक प्राधिकारी/प्राधिकरण ने अपने लोक कृत्य का निर्वहन किया है और उस कार्यवाही को प्रश्नगत किया जाता है। किन्तु जहां यह अभिकथन किया जाता है कि लोक प्राधिकारी/प्राधिकरण अपने लोक कर्तव्य का निर्वहन न करने का दोषी है और यह दर्शित कर दिया जाता है कि वह अपने सांविधानिक या कानूनी कर्तव्य का निर्वहन करने में असफल रहा है, तो क्या यह कहा जा सकता है कि न्यायालय के माध्यम से कोई उपचार उपलब्ध नहीं है और परमादेश जारी नहीं किया जा सकता है। तथापि, कर्तव्य का निर्वहन कराने के लिए परमादेश के जारी किए जाने हेतु कानून की भाषा से यह स्पष्ट रूप से प्रकट होना चाहिए कि ऐसा कर्तव्य अधिरोपित है, जिसका निर्वहन या अनिर्वहन मात्र विशेषाधिकार का विषय नहीं है। किन्तु ऐसे मामलों में भी, जिनमें कानूनी बाध्यता से सुभिन्न रूप में कर्तव्य वैवेकिक है, ठोस विधिक सिद्धान्तों पर, न कि मात्र सनक के आधार पर, युक्तियुक्त समय के अन्दर (अपने) विवेकाधिकार का प्रयोग करने के लिए, लोक प्राधिकारी/प्राधिकरण को निदेश करते हुए सीमित परमादेश जारी किया जा सकता है। अतः यदि कार्यपालिका, जिसे संविधान के अधीन न्यायाधीश-संख्या को सावधिक पुनर्विलोकन करने का कर्तव्य सौंपा गया है, उक्त कर्तव्य का निर्वहन करने में असफल रहती है, तो युक्तियुक्त समय के अन्दर (कर्तव्य का) निर्वहन कराने के लिए परमादेश जारी किया जा सकता है। अतः सिद्धान्ततः

यह कहना संभव नहीं है कि विवाद्यक पूर्णतः न्यायालय को परिधि के परे है और उपचार विधान-मण्डल के द्वार पर दस्तक देना मात्र है। यद्यपि समुचित आधार अवश्य ही होना चाहिए, क्योंकि न्यायालय कर्तव्य विशेष का निर्वहन कराने हेतु परमादेश का रिट जारी करने के लिए अपनी असाधारण शक्तियों का प्रयोग करने में शीघ्रता नहीं करेंगे, जब तर्क कि पूर्णतः यह समाधान नहीं हो जाता है कि कार्यपालिका अपनी सांविधानिक बाध्यता के प्रति ध्यान देने में पूर्णतः असफल रही है और उसे निन्द्रा से जगाना आवश्यक है। किन्तु न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का प्रयोग करने की आड़ में, जैसा कि न्या० तुलजापुरकर ने बताया, यह सुनिश्चित करने की सावधानी बरती जानी चाहिए कि न्यायपालिका स्वयं के लिए यह कार्यपालिक कर्तव्य हड़प न ले। किन्तु जैसी कि न्या० तुलजापुरकर ने चेतावनी दी है, कोई भी निदेश तब तक संभव नही होगा, जब तक सुस्पष्ट और बाध्यकर परिस्थितियों के कारण ऐसा करना अनिवार्य न हो जाए, जो केवल तभी संभव होगा, यदि (जब) प्रत्येक उच्च न्यायालय की अपेक्षित न्यायाधीश-संख्या का पूर्ण और सही निर्धारण उपलब्ध है और न्यायालय यह महसूस करता है कि कार्य पालिका ने उक्त तथ्यों पर ध्यान नहीं दिया है (की उपेक्षा की है)। न्यायिक रूप से प्रबन्धनीय मानकों के अभाव में, ऐसा संभव नहीं भी हो सकता है और ऐसी स्थिति में शक्ति का प्रयोग निरर्थक होगा और सामान्यतः न्यायालय निरर्थक कार्यवाही नहीं करता है। अतः हमारी यह राय है कि यदि अनुच्छेद 216 के अधीन अपने कर्तव्य का निर्वहन करने में कार्यपालिका जानबूझकर असफल रहती है, तो मात्र कार्यपालिका को कर्तव्य के अपने भाग का निर्वहन करने का निदेश करने की सीमा तक रिट जारी किया जा सकता है। किन्तु न्यायालय उस कृत्य को स्वयं अपने लिए नहीं हड़प सकता है और कार्यपालिका को किसी विशेष स्तर तक न्यायाधीश-संख्या में वृद्धि करने का निदेश नहीं दे सकता है।

331. न्यायाधीश-संख्या के आवधिक पुनरीक्षण की आवश्यकता अनिवार्यतः न्यायालयों के मामलों का शीघ्र निपटारा सुनिश्चित करना है; सम्पूर्ण कार्य निरर्थक हो जाएगा, यदि (न्यायाधीशों को विद्यमान) रिक्तियां और न्यायाधीश-संख्या में की गई वृद्धि द्वारा सर्जित नई रिक्तियां तुरन्त नहीं भरी जाती हैं। इस बात पर जोर दिया गया है और यद्यपि प्रस्थापनाओं पर विचार करने के लिए समयबद्ध कार्यक्रम का उपबंध किया गया है, तथापि प्रक्रिया में अन्तर्वलित कृत्यकारियों द्वारा उसका पालन न किए जाने के कारण विलंब होता रहा है। यह प्रक्रिया विशेष रूप से उच्च न्यायालयों के लिए नियुक्तियों के मामले में काफी समय लेने वाली है, क्योंकि प्रस्थापना को कम-से-कम छह परामर्शदाताओं के पास से होकर गुजरना है किंतु यह इस बात का और भी ठोस कारण है कि प्रत्येक कृत्यकारी को यह सुनिश्चित करने के लिए आत्ययिकता का भाव दर्शित करना चाहिए कि प्रस्थापना में अनावश्यक रूप से विलम्ब न हो। चार दशक से भी अधिक समय से पद्धति को कार्यान्वित करने के अनुभव से केन्द्रीय सरकार के विधि और न्याय मंत्री के लिए दिशा-निर्देश का पुनरीक्षण करना, उस अधिकतम समय को नियत करना, जो प्रत्येक परामर्शदाता को उस भूमिका को ध्यान में रखते हुए, जिसे निभाने की उससे आशा की जाती है प्रस्थापना पर लेना चाहिए और कार्यपालिक स्तर पर पूर्ण पालन कराना कठिन नहीं होगा। इससे प्रस्थापना के शीघ्र संचालन में सहायता मिलेगी और यदि यह पाया जाता है कि यदि उसे अयुक्तियुक्त रूप से विधारित किया गया है तो कृत्यकारी को रिट के माध्यम से न्यायालय द्वारा अनुज्ञात समय के अन्दर

अपने लोक कर्तव्य का निर्वहन करने के लिए बाध्य किया जा सकेगा। हम इस बात के बारे में निश्चित हैं कि यदि विनिश्चय-करण प्रक्रिया में अन्तर्वलित कृत्यकारी समाज विशेष रूप से न्याय चाहने वालों के प्रति अपने कर्तव्य और बाध्यता को अनुभूत (महसूस) करते हैं, तो न्यायालय जाने की आवश्यकता उद्भूत ही नहीं होगी। अतः हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि विवाद्यक उपदर्शित सीमा तक ही न्याय्य है, जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट एस० पी० गुप्त वाले मामले में न्या० वेंकटरामय्या द्वारा जारी किए गए सीमित रिट द्वारा प्रकट होता है और वह भी ऐसे विरलतम मामले में, जिसमें सुस्पष्ट और बाध्यकर परिस्थितियां न्यायालय को कार्यवाही करने के लिए बाध्य करती हैं।

332. अतः हमारा यह निष्कर्ष है—

(i) न्यायिक स्वतंत्रता की संकल्पना हमारी सांविधानिक स्कीम में गहराई से बैठी हुई है और अनुच्छेद 50 द्वारा इसे स्पष्ट किया गया है। स्वतन्त्रता की मात्रा, किसी व्यक्ति के नियुक्त और न्यायिक कुटुम्ब के सम्मिलित किए जाने के पश्चात् लगभग पूर्ण है।

(ii) उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय के लिए न्यायाधीश का चयन करने की पद्धति की रूपरेखा, संविधान के अनुच्छेद 124(2) और 217(1) में दी गई है। संयुक्त राज्य (अमरीका), युनाइटेड किंगडम (ब्रिटेन) आस्ट्रेलिया और कनाडा में उच्चतर न्यायपालिका के लिए नियुक्तियां अनन्यतः, कार्यपालिका द्वारा की जाती हैं, जबकि हमारे संविधान ने राष्ट्रपति द्वारा उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय के लिए नियुक्ति किए जाने से पूर्व न्यायपालिका से "पूर्व परामर्श" का उपबंध करके मध्यम मार्ग अपनाया है अतः न्यायिक स्वतंत्रता के आदर्श के लिए यह बात कितनी ही संतोषजनक (समाधानकारी) प्रतीत क्यों न हो कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के मत को प्राथमिकता प्राप्त होनी चाहिए, क्योंकि अपने दो ज्येष्ठतम साथियों से परामर्श करने के पश्चात् व्यक्त किया गया उनका मत सम्पूर्ण न्यायपालिका के मत का प्रतीक होगा इस निवेदन को स्वीकार नहीं किया जा सकता, जब तक कि संविधान में संशोधन नहीं कर दिया जाता। जिस प्रकार के सांविधानिक उपबंध इस समय हैं, उन्हें देखते हुए इस तर्काधार पर आधारित निवेदन अस्वीकार्य है।

(iii) हमारी सांविधानिक स्कीम के अधीन, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से "पूर्व परामर्श" अनुच्छेद 124(2), 217(1), 217(3) और 222(1) के अधीन अनिवार्य है किन्तु भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के मत को दिया जाने वाला महत्व इस बात पर निर्भर करेगा कि वह (परामर्श) नियुक्तिपूर्व प्रक्रम पर है या नियुक्ति-पश्चात् प्रक्रम पर, और क्या वह परामर्शदाताओं में से एक हैं या एकमात्र परामर्शदाता।

(iv) भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के मत को दी जाने वाली प्राथमिकता की संकल्पना के तीन तत्त्व हैं, अर्थात् (क) भारतीय न्यायपालिका के "कुल पिता" के रूप में प्राथमिकता, (ख) अनुच्छेद 124(2) और 217(1) में वर्णित परामर्शदाताओं में से उनके मत को दी जाने वाली प्राथमिकता, और (ग) इस अर्थ में प्राथमिकता

1993(10) eILR(PAT) SC

कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय राष्ट्रपति, अर्थात् कार्यपालिका के लिए आबद्ध कर होगी।

संविधान के अधीन भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की स्थिति इस अर्थ में विशिष्ट (अनूठी) है कि न्यायिक पक्ष (साइड) में वह "प्राइमस इण्टर पैरेस" अर्थात् समान लोगों में प्रथम है, जबकि प्रशासनिक पक्ष में उसे न्यायालय के कारबार के प्रबंध के संबंध में सीमित प्राथमिकता प्राप्त है। जहां तक राष्ट्रपति, अर्थात् कार्यपालिका के मुकाबिले उसके मत को दी जाने वाली प्राथमिकता का संबंध है, यद्यपि उसका मत अत्यधिक महत्त्व दिए जाने का हकदार हो सकता है, (तथापि) उसे इस अर्थ में निषेधाधिकार प्राप्त नहीं है कि राष्ट्रपति उसके मत के अनुसार कार्य करने के लिए आबद्ध नहीं है। तथापि उसके मत का उसके साथियों के मत के मुकाबिले उच्चतर महत्व होगा, विशेष रूप से उस स्थिति में, यदि उसने अपने साथियों के मत का निर्धारण करने के पश्चात् अपना मत व्यक्त किया है। किन्तु उसका मत राष्ट्रपति, अर्थात् कार्यपालिका को उनका अवलंब लेने से प्रतिषिद्ध करते हुए, उसके साथियों के मत को आच्छादित नहीं करेगा। उसके मत को दिया जाने वाला महत्व अनुच्छेद 217(1) के अधीन अन्य परामर्शदाताओं के मत को दिए जाने वाले महत्व की तुलना में गुरुतर होगा, क्योंकि उसे उनके मत को परिष्कृत करने का लाभ होता है और सामान्यतः उसका मत अभिभावी रहना चाहिए, सिवाय उसके विपरीत सशक्त और विश्वसनीय कारणों के किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अन्य परामर्शदाताओं का मत, राष्ट्रपति अर्थात् कार्यपालिका को उनके मत की अवेक्षा करने या उसका अवलम्ब लेने से प्रतिषिद्ध करते हुए, असंगत या अनस्तित्वशील हो जाएगा। भारत के मुख्य न्यायमूर्ति का मत उस समय और भी अधिक महत्त्व प्राप्त करने के लिए हकदार होगा, जब वह संविधान अर्थात् अनुच्छेद 222(1) के अधीन एकमात्र परामर्शदाता है, उस समय तो और भी जब उसका संबंध न्यायिक कुटुम्ब के किसी सदस्य से है, और सामान्यतः उसके मत को राष्ट्रपति अर्थात् कार्यपालिका द्वारा, स्वीकार किया जाना चाहिए और उसे कार्यान्वित किया जाना चाहिए जब तक कि अन्यथा कार्य करने के लिए ऐसे विवशकारी (बाध्यकर) कारण मौजूद न हों जिन्हें अभिलिखित किया जाएगा, जिससे कि इस धारणा को दूर किया जा सके कि कार्य-पालिका ने ऐसी रीति में कार्य किया है, जो न्यायिक स्वतंत्रता में हस्तक्षेप की कोटि में आती है। इस प्रकार भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के मत को क्रमिक महत्त्व दिया जाना है, जैसा कि इसमें इससे पूर्व उपदर्शित किया जा चुका है।

(v) अनुच्छेद 222(1) की भाषा में ऐसी कोई चीज नहीं है, जो उसकी सम्मति के बिना एक स्थानान्तरित न्यायाधीश के द्वितीय स्थानान्तरण को अस्वीकृत करे किंतु सामान्यतः उससे बचा जाना चाहिए, जब तक कि बाध्यकर परिस्थितियां मौजूद न हों, जो ऐसा करना अपरिहार्य बनाती हों। सामान्यतः लोक हित में किया गया स्थानान्तरण दण्डात्मक नहीं होता है किन्तु फिर भी भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को यह सुनिश्चित करने की सावधानी बरतनी चाहिए कि लोक हित की आड़ में न्यायाधीश को दण्डित नहीं किया जा रहा है।

1993(10) eILR(PAT) SC 1

(vi) अनुच्छेद 216 के अधीन न्यायाधीश-संख्या के नियतन का प्रश्न इस अर्थ में न्याय्य है कि ऊपर निर्दिष्ट एस० पी० गुप्त वाले मामले में न्या० वेंकटरामय्या द्वारा दिए गए निदेश में उपदर्शित रीति में और सीमा तक युक्तियुक्त समय के अंदर अपने सांविधानिक कर्तव्य का निर्वहन करने के लिए कार्यपालिका को सीमित परमादेश जारी किया जा सकता है। किन्तु ऐसा, ऐसे विरलतम मामले में होगा, जिसमें ऐसी सुस्पष्ट और बाध्यकर परिस्थितियां मौजूद हैं, जो न्यायालय को (ऐसा करने के लिए) बाध्य करती हैं।

(vii) हम इसमें इससे पूर्व वर्णित कारणों से ज्येष्ठता और विधिसम्मत प्रत्याशा आदि के सिद्धान्त के लागू किए जाने के संबंध में बन्धु न्या० वर्मा के निर्णय में की गई मताभिव्यक्तियों से ससम्मान असहमति व्यक्त करते हैं।

333. मामले का निपटारा (समापन) करने से पूर्व, हम विद्वान् महा-न्यायवादी के प्रति, जो हमारी सूचना के उत्तर में उपस्थित हुए और उन विद्वान् काउंसेलों के प्रति भी अपनी कृतज्ञता व्यक्त करना उचित समझते हैं, जो दोनों ओर से हाजिर हुए। अपने-अपने दृष्टिकोण प्रस्तुत करने की उनकी पद्धतियां अलग-अलग थीं किन्तु उन्होंने सांविधानिक विधि के अपने ज्ञान का बहुत अच्छे ढंग से उपयोग किया जिसका कारगर प्रभाव रहा। न्यायिक कला का प्रदर्शन अपनी चरम सीमा पर था और हम उनके द्वारा दी गई योग्यतापूर्ण सहायता के लिए, जिसने विनिश्चय करने के हमारे कार्य को अपेक्षाकृत सरल बना दिया है, उनके अत्यधिक कृतज्ञ हैं, इन शब्दों के साथ, हम निर्देश का निपटारा कर रहे हैं। निर्देश का तदनुसार निपटारा किया गया।

न्या० कुलदीप सिंह—

334. उच्च न्यायालयों और उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों (न्यायमूर्तियों) की नियुक्ति के लिए नियुक्ति प्राधिकारी भारत का राष्ट्रपति है। वह भारत के मुख्य न्यायधिपति और न्यायपालिका तथा कार्यपालिका के अन्य कार्यकारी अधिकारियों से सलाह करने के पश्चात् भारत के संविधान के अनुच्छेद 217(1) और 124(2) के अधीन नियुक्तियां करता है। भारत का राष्ट्रपति अपने कृत्यों के प्रयोग में मंत्रिपरिषद् द्वारा दी गई सलाह के अनुसार कार्य करने के लिए आबद्ध है। हमारे विचार के लिए मुख्य प्रश्न यह है कि क्या उच्च न्यायालयों और उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले में भारत के मुख्य न्यायाधिपति की अध्यक्षता में न्यायपालिका की या प्रधान मंत्री की अध्यक्षता में मंत्रि परिषद की मुख्य भूमिका है? हमारे विचार के लिए दूसरा प्रश्न यह है कि क्या देश के न्यायिक कार्यों को चलाने हेतु न्यायपालिका नियुक्तियां करने के लिए हस्तक्षेप और शक्ति का प्रयोग कर सकती है?

335. ये प्रश्न अनिर्णीत विषय नहीं हैं। इस न्यायालय के सात न्यायमूर्तियों के एक न्यायपीठ ने **एस० पी० गुप्त और अन्य बनाम भारत संघ और अन्य**[1] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया था कि केन्द्र सरकार सांविधानिक कृत्यकारियों द्वारा दी गई राय को

[1] [1982] 4 उम० नि० प० 1=[1982] 2 एस० सी० आर० 365.

अध्यारोही कर सकती है और उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय के किसी न्यायाधीश के संबंध में स्वयं ही विनिश्चय कर सकती है। दूसरे शब्दों में न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले में कार्यपालिका ही सर्वोपरि है और वह परामर्श की प्रक्रिया में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति और अन्य न्यायिक कृत्यकारियों द्वारा दी गई राय को अनदेखा कर सकती है। एस० पी० गुप्त वाले मामले में न्यायालय ने द्वितीय प्रश्न का उत्तर भी नकारात्मक दिया था। उपर्युक्त दोनों मुद्दों पर **एस० पी० गुप्त**[1] वाले मामले में इस न्यायालय द्वारा अधिकथित विधि की विधिमान्यता या अविधिमान्यता की बाबत विनिश्चय करने के लिए हमें निर्देश किया गया है।

336. सुनवाई के समय सुविख्यात वकीलों ने सुनवाई में हमारी सहायता की। श्री एफ० एस० नरीमन, श्री कपिल सिब्बल, श्री शान्ति भूषण, श्री रामजेठमलानी, श्री पी० पी० राव, श्री आर० के० गर्ग और श्री एस० पी० गुप्त ने विभिन्न दृष्टिकोणों से सुसंगत सांविधानिक उपबंधों का निर्वचन करते हुए हमारे समक्ष यह दलील दी है कि इस न्यायालय द्वारा विनिश्चित **एस० पी० गुप्त**[1] वाले मामले पर पुनर्विचार किए जाने की आवश्यकता है। श्री के० पारासरन ने भारत संघ के दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है। विद्वान् महान्यायवादी श्री मिलन बनर्जी ने भी इस न्यायालय की पूर्ण सहायता की है। हमने कर्नाटक राज्य के महाधिवक्ता, मध्य प्रदेश के महाधिवक्ता और सिक्किम के महाधिवक्ता की दलीलें भी सुनी हैं। दोनों पक्षकारों के विद्वान् काउंसेलों ने अपनी-अपनी दलीलें सहज और सद्भावपूर्ण वातावरण में प्रस्तुत की हैं। हम विद्वान् काउंसेलों की दलीलों पर अपना निष्कर्ष अभिलिखित करेंगे, किंतु काउंसेलों के सहयोग के बिना इस मामले में अन्तर्वलित जटिल और गूढ़ प्रश्नों को सुलझाना अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है।

337. विद्वान् काउंसेलों द्वारा दी गई मौखिक और लिखित दलीलों के आधार पर हमने अपने न्यायनिर्णयन हेतु निम्नलिखित मुद्दे सृजित किए हैं :—

1. निर्णीतानुसरण	—क्या यह सिद्धांत एस० पी० गुप्त वाले मामले पर पुनर्विचार किए जाने को वर्जित करता है?
2. सांविधानिक उपबंधों का निर्वचन	—इस बाबत कौन से नियम हैं।
3. न्यायपालिका की स्वतन्त्रता	—इस धारणा की विस्तृत व्याख्या।
4. सांविधानिक अभिसमय (कन्वेंशन)	—इनके प्रवर्तन की व्याप्ति और क्षेत्र। क्या उच्चतर न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति के विषय में न्यायपालिका को प्रमुखता दिए जाने वाले सुस्थापित अभिसमय (कन्वेंशन) विद्यमान हैं?
5. "से परामर्श के पश्चात्"	—क्या इस पद का यह अर्थ निकाला जा सकता है कि न्यायपालिका के अध्यक्ष के रूप में भारत

[1] [1982] 4 उम० नि० प० 1=[1982] 2 एस० सी० आर० 365.

	के मुख्य न्यायाधिपति द्वारा दी गई सलाह को मानने के लिए कार्यपालिका आबद्ध है ?
6. भारत के मुख्य न्यायाधिपति [अनुच्छेद 124(2) और 217(1)]	—क्या भारत का मुख्य न्यायाधिपति यह कार्य अपनी वैयक्तिक हैसियत में करता है या न्यायपालिका के अध्यक्ष के रूप में ?
7. भारत का न्यायाधिपति	—क्या यह पद गुणागुण के आधार पर चयन द्वारा भरा जाएगा या मात्र ज्येष्ठता के आधार पर ?
8. अन्य विवाद्यक	—(क) उच्चतम न्यायालय में नियुक्तियां; (ख) स्थानांतरण (अनुच्छेद 222); (ग) न्यायाधीशों की संख्या का नियतन ।

निर्णीतानुसरण—

338 भारत संघ की ओर से विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल श्री के० पारासरन ने यह दलील दी है कि चूंकि निर्णीतानुसार सिद्धान्त हमारी विधिक प्रणाली की आधारशिला है इसलिए हमें इस न्यायालय द्वारा विनिश्चित एस० पी० गुप्त वाले मामले के निर्णय में, जो उस समय की परिस्थितियों पर आधारित था, हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए ।

339. निस्संदेह यह सही है कि निर्णीतानुसार नियम एक सुस्थिर और अपरिवर्तनीय नियम है किंतु यह भी सही है कि यह कठोर भी नहीं है। क्या इस नियम को वर्तमान मामले में लागू किया जा सकता है या नहीं, यह प्रश्न पूर्णतया इस न्यायालय के विवेकाधिकार के अन्तर्गत आता है । इस न्यायालय ने कई अवसरों पर पूर्व विनिश्चित मुद्दों पर पुनर्विचार किया है । न्यायालय ने समुचित मामलों में अपने पूर्व विनिश्चयों को उलटते हुए निर्णय दिए हैं । विचारण और परीक्षण की प्रक्रिया, अनुभव से सीख और बेहतर तर्क शक्ति के प्रयोग ने इस न्यायालय को अपने न्यायिक कृत्यों को करने में और अधिक दक्ष बनाया है । महत्वपूर्ण सांविधानिक मुद्दे अन्तर्वलित होने वाले मामलों में यह न्यायालय अनुभव और नये सिरे से अभिनिश्चित तथ्यों के अनुरूप अपनी राय अभिव्यक्त करने के लिए स्वतन्त्र है । जहां सांविधानिक मामलों में निर्णीतानुसार नियम कम सुसंगत होता है वहां मात्र यह न्यायालय, सांविधानिक संशोधनों के सिवाय वांछित परिवर्तन करने के लिए समर्थ है। पुनरीक्षण और पुनर्विचार आज की विवेकपूर्ण सामान्य प्रक्रियाएं हैं । हम संविधान के ऐसे किसी पूर्वतर अर्थान्वयन के पुनर्विचार का अवलंब नहीं ले सकते जो "आधारिक रूप से अयुक्तियुक्त और व्यावहारिक रूप से असाध्य" साबित होता हो ।

सांविधानिक उपबंधों का निर्वचन

340. संविधान निर्माताओं ने भारत में प्रगतिशील और अपनी नैसर्गिक परिसीमाओं के भीतर विस्तार करने वाला एक सजीव वृक्ष संविधान के रूप में रोपित किया । इसके उपबंध सशक्त और सुस्पष्ट तथा इस देश तथा देश की जनता को प्रगति के पथ पर अग्रसर

करने के लिए समर्थ हैं। सांविधानिक विधि, यदि इससे लोगों की आवश्यकताएं पूर्ण होती हों, स्थैतिक नहीं हो सकती। समय के साथ निरंतर नई परिस्थितियां उद्भूत हो रहीं हैं। निबंधनों में परिवर्तन करके वर्तमान विधिक धारणाओं को नया रूप देने की आवश्यकता है। मात्र सांविधानिक पाठ का निर्वचन करना ही पर्याप्त नहीं है। ऐसा निर्वचन किया जाना चाहिए जिससे इसकी नीति और इसके उपबंधों के अन्तर्गत रखा गया प्रयोजन पूर्ण होता हो। एक ऐसा प्रयोजनयुक्त अर्थान्वियन किया जाना चाहिए जो समय के अंतराल और अनुभव की प्रक्रियाओं द्वारा इसे अपरिहार्य बना सके। न्यायालयों को तथ्यों को ध्यान में रखकर समय की आवश्यकताओं और अपेक्षाओं को पूर्ण करना चाहिए।

341. संविधान का निर्वचन बार-बार दोहराई जाने वाली प्रक्रिया है। इसके अधीन सृजित विधि को निर्माताओं द्वारा प्रतिपादित धारणाओं और शब्दों को, जो सांविधानिक जपमाला के मणके हैं, समय के अंतराल के साथ परीक्षण पद्धति की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप परिवर्तित किया जा सकता है।

342. जब संस्थाओं और उनके कृत्यों को परिभाषित करते हुए संविधान के शब्दों का प्रारूपण किया जा रहा था तब संविधान निर्माता यह पूर्वानुमान नहीं लगा सके कि भविष्य में क्या परिवर्धन हो सकते हैं। **आर० सी० पौड़याल बनाम भारत संघ**[1] वाले मामले में न्यायमूर्ति एम० एन० वेंकटचलैय्या ने (जैसे कि विद्वान् न्यायमूर्ति उस समय थे) इस प्रकार मत व्यक्त किया था—

> "किसी सांविधानिक दस्तावेज के निर्वचन में शब्द, संकल्पनाओं का ढांचा मात्र हैं और संकल्पनाएं स्वतः ही शब्दों की अपेक्षा अनेक बार परिवर्तित हो सकती हैं। संकल्पना के परिवर्तन का महत्व स्वतः ही अधिक होता है। तथा सांविधानिक मुद्दे, अपने विकास की रूपरेखा को स्वीकृति के बिना मात्र शब्दों के अर्थान्वियन की दुहाई देकर, हल नहीं किए जा सकते।"

343. वर्तमान मामले में पूर्णतया न्यायालय के अनुभव के आधार पर विचार किया जाना चाहिए न कि मात्र इस आधार पर कि संविधान निर्माताओं द्वारा क्या कहा गया था। हमारे समक्ष जो मुद्दे हैं उन्हें विनिश्चित करते समय हमें आज की न्यायपालिका को दृष्टिगत करना चाहिए न कि पचास वर्ष पूर्व की न्यायपालिका को। संविधान का परिशीलन मात्र समसामयिक परिस्थितियों और मान्यताओं को ध्यान में रख कर ही नहीं किया जाना चाहिए बल्कि इसका परिशीलन इस प्रकार किया जाना चाहिए कि वर्तमान पीढ़ी की परिस्थितियों और मूल्यों की भी इसके उपबंधों में अभिव्यक्ति हो। इस संबंध में एक विख्यात विधि-शास्त्री ने यह मत व्यक्त किया था कि "सांविधानिक निर्वचन किसी खोज के रूप में सृजन की प्रक्रिया के समान है।"

344. इस प्रक्रम पर कनाडा के सुप्रीम कोर्ट (उच्चतम न्यायालय) द्वारा विनिश्चित **हन्टर बनाम सौथम आई० एन० सी०**[2] वाले मामले के एक पैरा को उद्धृत करना उचित होगा। इस मामले में इस प्रकार मत व्यक्त किया गया था—

---

[1] [1993] 3 स्केल 486 पृष्ठ 508.

[2] [1984] 2 एस० सी० आर० 145 पृष्ठ 156.

'यह स्पष्ट है कि "अयुक्तियुक्त" शब्द का अर्थ किसी शब्दावली का अवलंब लेकर अभिनिश्चित नहीं किया जा सकता और न ही इस विषय को कानूनी अर्थान्वियन के नियमों का अवलंब लेकर हल किया जा सकता है। किसी कानून का अर्थान्वियन करने की अपेक्षा संविधान की व्याख्या करने का कार्य निश्चित रूप से भिन्न है। कानून वर्तमान अधिकारों और दायित्वों को परिभाषित करता है। इसे सरलतापूर्वक अधिनियमित किया जा सकता है और इसी प्रकार निरसित किया जा सकता है। इसके प्रतिकूल किसी संविधान को भविष्य को दृष्टिगत करते हुए प्रारूपित किया जाता है। इसका कार्य शासन-संबंधी शक्ति के विधिक प्रयोग हेतु सतत् ढांचे को उपबंधित करना है और जब इसमें विधेयक या अधिकार प्रपत्र जोड़ दिए जाते हैं। तब यह वैयक्तिक अधिकारों और स्वतन्त्रताओं के सतत् संरक्षण के लिए सतत् ढांचे को भी उपबंधित करता है। जब एक बार यह अधिनियमित हो जाता है तो उसके उपबंध सरलतापूर्वक निरसित या संशोधित नहीं किए जा सकते। इसलिए इसके निर्माताओं ने इसे प्रायः अकल्पित नये सामाजिक, राजनैतिक और ऐतिहासिक संबंधों की पूर्ति के लिए अधिसमय प्रगति और विकास के लिए समर्थ बनाया था। न्यायपालिका संविधान की संरक्षक है और उसे इन बातों को ध्यान में रखकर इसके उपबंधों का निर्वचन करना चाहिए। आचार्य पाल फ्रेंड ने अमरीकी न्यायालयों को चेतावनी देते हुए यह विचार व्यक्त किया था कि वे "संविधान के उपबंधों का परिशीलन किसी अंतिम इच्छा के समान न करें अन्यथा यह मात्र अंतिम इच्छा होकर रह जाएगा"।"

345. सांविधानिक उपबंधों में तकनीकी अर्थान्वियन द्वारा कटौती नहीं की जा सकती, भले ही इसका उदारतापूर्ण और अर्थपूर्ण निर्वचन किया जाए। संविधान के उपबंधों का निर्वचन करते समय कानूनों के निर्वचन की सहायता के लिए बनाए गए सामान्य नियमों और धारणाओं को लागू नहीं किया जा सकता। **मिनिस्टर आफ होम अफेयर्स बनाम फिशर**[1] वाले मामले में लार्ड विल्बरफोर्स ने बरमूडियन संविधान पर विचार करते हुए यह दोहराया था कि संविधान एक ऐसा दस्तावेज है जो "स्वतः अपने निर्वचन के सिद्धान्तों के लिए अद्वितीय कहा जाता है और अपने ही स्वरूप के लिए उपयुक्त है।"

346. **एस० पी० गुप्त**[2] वाले मामले में इस न्यायालय ने पिछले चालीस वर्षों को दृष्टिगत करते हुए संविधान के अनुच्छेद 124 (2) और 217 (1) के शब्दों का अर्थान्वियन किया था। पिछले चार दशकों के दौरान शीर्ष न्यायपालिका के कृत्य, "न्यायिक पुनर्विलोकन" के व्यापक अनुभव, "न्यायपालिका की स्वतन्त्रता" की बृहत्तर धारणा, न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले में पद्धति और पूर्व निर्णय, जो अभिसमय के रूप में विकसित हो गए थे और न्यायालयों के समक्ष एकमात्र बृहत्तर मुकदमेबाज होने के कारण कार्यपालिका की भूमिका, ऐसे कतिपय महत्वपूर्ण पहलू हैं जिनका इस न्यायालय द्वारा सांविधानिक उपबंधों का निर्वचन करते समय उल्लेख नहीं किया गया था। न्यायालय सांविधानिक निर्वचन के सुस्थापित नियमों को भी दृष्टिगत नहीं कर सका था। इसलिए हम **एस० पी० गुप्त**[2] वाले

[1] [1980] ए० सी० 319.

[2] [1982] 4 उम० नि० प० 1=[1982] 2 एस० सी० आर० 365.

1993(10) eILR(PAT) SC 1

मामले में इस न्यायालय द्वारा पूर्व विनिश्चित मुद्दों का पुनः निर्धारण करना और उन पर पुर्नविचार करना न्यायोचित समझते हैं।

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता

347. भारत का संविधान, जिसे हमने आत्म अर्पित किया है, इस देश की मूल विधि है। संविधान के अधीन यदि एक ओर न्यायपालिका को जनता के बीच एक मध्यवर्ती निकाय के रूप में नामनिर्दिष्ट किया गया है तो दूसरी ओर कार्यपालिका को। न्यायपालिका का कार्य सांविधानिक उपबंधों और विधान मंडल द्वारा अधिनियमित विधियों के अर्थान्वयन को अभिनिश्चित करना है। संविधान के अधीन कार्यपालिका/विधानमंडल को उनके प्राधिकार के लिए नियत परिसीमाओं के भीतर रखने की दृष्टि से विधियों का निर्वचन किया जाना उचित है और यह न्यायपालिका का विशिष्ट अधिकार क्षेत्र भी है। संविधान जनता की "इच्छा" है जबकि कानूनी विधियां ऐसे विधान मंडलों द्वारा सृजित की जाती हैं जिनमें जनता द्वारा चुने गए प्रतिनिधि होते हैं। जहां विधान मंडल की इच्छा—जो कानूनों में घोषित है—और जो जनता की उस इच्छा के विरुद्ध है—जो संविधान में घोषित है—वहां जनता अभिभावी होगी। भारत का संविधान निर्वाचित राष्ट्रपति के लिए उपबंध करता है। राज्य विधान मंडल भी निर्वाचित होते हैं। उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश निर्वाचित नहीं होते हैं उनकी नियुक्ति संविधान के अधीन की जाती है। अन्य उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्तियां भी इसी प्रकार की जाती हैं तथापि संविधान ने अनिर्वाचित न्यायाधीशों को न्यायिक पुर्नविलोकन की ऐसी शक्ति प्रदत्त की है जिसके अधीन वे कार्यपालिका और संसद तथा राज्य विधान मंडलों में समवेत् जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों के असांविधानिक कृत्यों को अकृत कर सकते हैं। इस निष्कर्ष से यह उपधारित करना ठीक न होगा कि न्यायपालिका विधायिका से उच्चतर है। इससे केवल यह उपधारित किया जा सकता है कि जनता की शक्ति-जो संविधान में सन्निविष्ट है—दोनों से उच्चतर है।

348. संविधान के अधीन न्यायपालिका के कार्यों को जनता का सुस्थिर धर्मनिष्ठ विश्वास प्राप्त होता है। संविधान और इसके अधीन लोकतांत्रिक राज्य व्यवस्था उस दिन कायम नहीं रह सकती जिस दिन न्यायपालिका उपर्युक्त विश्वास को बनाए रखने में विफल हो जाती है। और यदि न्यायपालिका विफल होती है तो संविधान विफल होता है और तब जनता को अन्य किसी विकल्प को अपनाना होगा।

349. संविधान के संदर्भ में न्यायपालिका की भूमिका को दृष्टिगत करते हुए यह कहना भ्रमपूर्ण होगा कि न्यायपालिका के कृत्यों के संबंध में मात्र विधानमंडल ही जनता के प्रति उत्तरदायी हैं। यथार्थतः न्यायपालिका ही न्यायिक पुनर्विलोकन की प्रक्रिया के द्वारा कार्यपालिका और विधायिका के कृत्यों की जांच करती है। इसलिए **एस० पी० गुप्त**[1] वाले मामले में यह न्यायालय कार्यपालिका को इस आधार पर श्रेष्ठता देने में न्यायोचित नहीं था कि विधान मंडलों के द्वारा कार्यपालिका न्यायपालिका के कृत्यों के संबंध में जनता के प्रति उत्तरदायी थी।

[1] [1982] 4 उम० नि० प० 1=[1982] 2 एस० सी० आर० 365.

1993(10) eILR(PAT) SC 1

350. लोकतन्त्र के लिए न्यायपालिका की स्वतन्त्रता अनिवार्य है। जब तक न्यायपालिका यथार्थतः विधान मंडल और कार्यपालिका दोनों से पृथक रहती है तब तक जनता की सामान्य शक्ति कभी भी किसी दिशा से संकटापन्न नहीं हो सकती। मोन्टेस्क्यु ने अपनी पुस्तक "स्प्रिट आफ लाज" में यह मत व्यक्त किया है कि "यदि निर्णय करने की शक्ति को विधायी और कार्यपालक शक्तियों से पृथक नहीं रखा जाता है तो न्यायपालिका को कोई स्वतन्त्रता नहीं है।" संविधान निर्माताओं ने प्रबल-स्वर में यह कहा था कि कार्यपालिका से न्यायपालिका का पृथक्करण, जो "स्वतन्त्र न्यायपालिका" का मूल आधार है, संविधान की आधारभूत विशिष्टता है। डा० बी० आर० अम्बेडकर ने संविधान सभा में तारीख 7 जून, 1949 को दिए गए अपने भाषण में इस प्रकार मत व्यक्त किया था—

> "मेरा यह मत है कि इस बात में कोई विवाद नहीं है कि कार्यपालिका और न्यायपालिका को एक दूसरे से पृथक रखा जाना चाहिए और वस्तुतः उच्च न्यायालय तथा उच्चतम न्यायालय से संबंधित सभी मदों को विशिष्ट रूप से ध्यान में रखा जाना चाहिए।"

351. संविधान में प्रतिष्ठापित जनता की "इच्छा" के संरक्षण के लिए यह आवश्यक है कि न्यायपालिका को ईमानदारी से विधायिका और कार्यपालिका दोनों से पृथक रखा जाए और यही हमारे संवधान निर्माताओं द्वारा किया गया है। तथापि बार (अधिवक्ता-वर्ग) की ओर से यह दलील दी गई थी कि न्यायपालिका की स्वतन्त्रता, सेवाधृति और विशिष्ट न्यायाधीशों की सेवा की अन्य शर्तों को सुरक्षा उपबंधित करके संरक्षित की गई थी। ऐसा हो सकता है किन्तु वर्तमान समय में न्यायिक पुनर्विलोकन के विस्तृत अनुभव के साथ न्यायिक स्वतन्त्रता की धारणा नए शिखरों को छू चुकी है। **क्वीन** बनाम **ब्यूरेगार्ड**[1] वाले मामले में कनाडा के सुप्रीम कोर्ट ने न्यायिक स्वतन्त्रता की व्यापक धारणा की बाबत इस प्रकार मत व्यक्त किया था—

> "मूलतः सामान्य रूप से न्यायिक स्वतन्त्रता के सिद्धान्त के जिस सार को स्वीकृति दी गयी थी वह विशिष्ट न्यायाधीशों के समक्ष लाए जाने वाले मामलों को सुनने और विनिश्चित करने के लिए उनको दी गई पूर्ण स्वतन्त्रता थी—किसी बाहरी शक्ति को, चाहे वह सरकार हो, कोई प्रभावी गुट हो, विशिष्ट व्यक्ति हो या कोई भी अन्य न्यायाधीश हो, उस रीति में, जिसमें कोई न्यायाधीश अपने मामले का संचालन और विनिश्चय करता या करती है, वस्तुतः हस्तक्षेप या हस्तक्षेप का प्रयास नहीं करना चाहिए। यही सार न्यायिक स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का केन्द्रभूत रहा है। तथापि वह सिद्धान्त की सम्पूर्ण अन्तर्वस्तु नहीं है।
>
> पिछले कुछ वर्षों में न्यायिक स्वतन्त्रता के सिद्धान्त की सामान्य धारणा व्यापक हुई है और स्वतन्त्र तथा लोकतांत्रिक समाजों की आधुनिक आवश्यकताओं और समस्याओं के प्रत्युत्तर के लिए इन धारणाओं में परिवर्तन आए हैं। बाहरी हस्तक्षेप या सतत प्रभाव के बिना विभिन्न मामलों में विनिश्चय करने के लिए विशिष्ट न्यायाधीशों की योग्यता निश्चित रूप से सिद्धान्त का एक महत्वपूर्ण और

---

[1] [1987] एल० आर० सी० 180.

1993(10) eILR(PAT) SC 1

अनिवार्य संघटक होना चाहिए। तथापि आज यह एक महत्वपूर्ण सिद्धांत है। एक प्रमुख शैक्षिक अधिकारी के शब्दों में आचार्य शिमान शेट्रीट ने न्यायिक स्वतन्त्रता के संबंध में इस प्रकार कहा है—"न्यायपालिका विवाद-संकल्प तन्त्र से एक महत्वपूर्ण सांविधानिक भूमिका के साथ एक ऐसे महत्वपूर्ण सामाजिक संस्था की ओर अग्रसर हुई है जिसने अपने सामुदायिक जीवन को सुगठित करने में अन्य संस्थानों के साथ भाग लिया है..."

इसलिए न्यायिक स्वतन्त्रता के वैयक्तिक और सामूहिक या संस्थागत दोनों ही स्वरूप हैं। जैसा कि **बैलेन्ट बनाम क्वीन** [(1985) 2 एस० सी० आर० 673] वाले मामले में न्यायमूर्ति ली डेन ने मत व्यक्त किया है—

> "(न्यायिक स्वतंत्रता) न्यायिक कार्यों के वास्तविक प्रयोग में मात्र राज्य के मत या रुख को ही नहीं बतलाती बल्कि दूसरों की हैसियत या संबंध को भी, विशेषतया सरकार की उस कार्यपालक शाखा के संबंध को जिस पर वस्तुनिष्ठ शर्तें या प्रतिभूतियां निर्भर हैं, बतलाती है।.........सामान्यतया यह माना जाता है कि न्यायिक स्वतंत्रता में वैयक्तिक और संस्थागत दोनों ही संबंध अन्तर्वलित हैं—किसी न्यायाधीश की वैयक्तिक स्वतंत्रता जो सेवा-धृति की प्रतिभूति के रूप में ऐसे मामलों में परिवर्तित होती है और न्यायालय या अधिकरण की, जिस पर वह पीठासीन हो, संस्थागत स्वतंत्रता जो सरकार की कार्यपालिक और विधायी शाखाओं के संस्थागत या प्रशासनिक संबंधों में परावर्तित होती है।"
>
> न्यायिक स्वतंत्रता की आधुनिक धारणा के इन द्वि-शाखाओं के लिए मूलाधार यह मान्यता है कि न्यायालय मात्र वैयक्तिक मामलों के न्यायनिर्णयन से संबंधित नहीं हैं। निश्चित रूप से यह उसकी एक भूमिका है। यह भूमिका किसी दूसरी, भिन्न और समान रूप से महत्वपूर्ण भूमिका के संदर्भ में भी संगत है अर्थात् संविधान के परिरक्षक के रूप में और विधि सम्मत शासन में सन्निहित आधारभूत मूल्यों, आधारभूत न्याय समानता लोकतांत्रिक प्रक्रिया के परीक्षण के लिए सम्भवतः इसकी अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका है। दूसरे शब्दों में न्यायिक स्वतंत्रता वैयक्तिक मामलों में ऋजु और न्यायोचित विवाद-संकल्प के लिए आवश्यक है। यह लोकतांत्रिक समाजों में संविधानवाद की प्राणशक्ति भी है।"

352. न्यायालय की ओर से मुख्य न्यायमूर्ति डिक्सन ने निर्णय देते हुए इस प्रकार अभिनिर्धारित किया था—

> "संविवादों के संकल्प विधि के निर्वचनकर्ता और संविधान के परिरक्षक के रूप में न्यायालयों की ऐसी भूमिका अपेक्षित है कि उन्हें न्याय-प्रणाली में अन्य सभी भाग लेने वालों से उनके प्राधिकार और कार्य की बाबत पूर्ण रूप से पृथक् रखा जाए।"

353. हम न्यायिक स्वतंत्रता की उस धारणा से पूर्णतया सहमत हैं जो उपर्युक्त उद्धृत निर्णय में कनाडा के सुप्रीम कोर्ट द्वारा अभिव्यक्त की गई है। यह किसी विशिष्ट न्यायाधीश को दी गई सेवाधृति की ऐसी कोई प्रतिभूति नहीं है जो न्यायपालिका की स्वतंत्रता का एकमात्र स्रोत हो बल्कि यह उपबंध किसी संस्था के रूप में न्यायपालिका की स्वतंत्रता के लिए किया गया था। भारत में न्यायपालिका सरकारों और गैर-सरकारी व्यक्तियों के बीच विवादों को हल करने के लिए एक निष्पक्ष अधिनिर्णायक के रूप में कार्य करने के लिए है। यह संविधान के भाग III के अधीन व्यक्तियों के गारंटीकृत मूल अधिकारों के संरक्षण के लिए भी है। इस देश में न्यायालयों ने पहले ही सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय को इसकी परिधि के भीतर लाकर न्यायिक पुनर्विलोकन के क्षेत्र का विस्तार कर दिया है। न्यायिक पुनर्विलोकन के व्यापक क्षेत्र को दृष्टिगत करते हुए समय की यह सर्वोपरि आवश्यकता है कि न केवल किसी विशिष्ट न्यायाधीश की स्वतंत्रता सुरक्षित होनी चाहिए बल्कि एक संस्था के रूप में न्यायपालिका की स्वतंत्रता की भी सुरक्षा की जानी चाहिए।

354. इसके पश्चात् हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि क्या न्यायाधीशों की नियुक्ति करने की शक्ति कार्यपालिका में निहित कर दिए जाने पर न्यायपालिका स्वतंत्र रह सकती है ? यदि इस प्रश्न का उत्तर हां में दिया जाए तो यह तर्क संगत नहीं होगा। न्यायपालिका की स्वतंत्रता का उच्चतर न्यायपालिका के न्यायाधीशों की नियुक्ति की सांविधानिक प्रक्रिया के साथ निकट का संबंध है और यह उससे पूर्णतया जुड़ी हुई है। न्यायपालिका की स्वतंत्रता हमारे संविधान की आधारभूत विशिष्टता है, यदि इसका अर्थ वही है जो हमने ऊपर चर्चा की है तब संविधान निर्माता इस शक्ति को कार्यपालिका को देने के लिए किसी भी प्रकार से आशयित नहीं हो सकते। यह इसलिए भी क्योंकि सरकारें—चाहे वह केन्द्रीय सरकार हो या राज्य सरकार—बहुत से मामलों में न्यायालयों के समक्ष पक्षकार होती हैं। संघीय कार्यपालिका के ऐसे विभिन्न महत्वपूर्ण मामलों में महत्वपूर्ण हित निहित होते हैं जो शीर्ष न्यायालय के समक्ष न्यायनिर्णयन के लिए प्रस्तुत होते हैं। कार्यपालिका किसी एक रूप में या विभिन्न रूपों में न्यायालयों के समक्ष एक या अनेक मुकदमों में उपस्थित होती है। मामले को इस दृष्टि से देखते हुए कि न्यायपालिका जनता और कार्यपालिका के बीच मध्यस्थ है, संविधान निर्माता उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति के अंतिम प्राधिकार को कार्यपालिका के हाथों में नहीं छोड़ सकते। **एस० पी० गुप्त**[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने इस धारणा के आधार पर कार्यवाही की थी कि न्यायपालिका की स्वतंत्रता संविधान की आधारभूत विशिष्टता है किंतु न्यायालय यह मूल्यांकन करने में विफल रहा था कि यदि ऐसा निर्वचन किया जाता है तो ऐसा निर्वचन दोनों धारणाओं अर्थात् न्यायपालिका की स्वतंत्रता और न्यायिक पुनर्विलोकन, जो एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं, के विशिष्ट पहलुओं के अनुरूप नहीं होगा।

सांविधानिक अभिसमय (कन्वेंशन)

355. भारत का संविधान एक विस्तृत दस्तावेज है जिसमें 395 अनुच्छेद और दस अनुसूचियां सन्निविष्ट हैं। इसके बावजूद ऐसे कई सांविधानिक उपबंध हैं जो विभिन्न

[1] [1982] 4 उम० नि० प० 1=[1982] 2 एस० सी० आर० 365.

क्षेत्रों में प्रवृत्त हैं और जो अन्य कहीं भी संविधान की लिखित पुस्तक में नहीं पाए जाते हैं। उदाहरणार्थ यह संविधान की एक आधारभूत अपेक्षा है कि यदि विपक्ष निर्वाचन में बहुमत प्राप्त करता है तो सरकार को तुरन्त अपना त्यागपत्र दे देना चाहिए। इस प्रकार मूल तत्व यह है कि यह संविधान की लिखित विधि के भाग के रूप में नहीं हो सकता। यह भी एक सांविधानिक अपेक्षा है कि ऐसे व्यक्ति को, जो राष्ट्रपति द्वारा प्रधानमंत्री के रूप में नियुक्त किया गया हो और जो सरकार का कार्यकारी प्रधान हो, लोक सभा का समर्थन प्राप्त होना चाहिए। अन्य मंत्रियों को, जो प्रधानमंत्री की सलाह पर राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किए जाते हैं, वैयक्तिक रूप से और सामूहिक रूप से लोक सभा का सतत् विश्वास प्राप्त होना चाहिए। राष्ट्रपति अपनी इस शक्ति का प्रयोग प्रधानमंत्री और मंत्रिपरिषद् की सलाह के आधार पर करता है इसका अर्थ यह है कि उपर्युक्त शक्तियां प्रभावी रूप से ऐसे मंत्रि परिषद् द्वारा प्रयुक्त की जाती हैं जिसका प्रधान, प्रधान मंत्री होता है। इनमें से कोई नियम और संविधान के अन्य आवश्यक नियमों में से कोई नियम संविधान सभा द्वारा यथा विरचित भारत के संविधान में नहीं पाए जाते हैं। ए० वी० डीसे ने वर्ष 1985 में प्रथमतः इन अलिपिबद्ध नियमों को परिलक्षित किया और इन्हें "दि कन्वेंशन्स आफ दि कांस्टीट्यूशन" नाम से निर्दिष्ट किया। इन निबंधनों के अधीन डीसे ने जो कुछ विहित किया है वह उत्तरदायी सरकार के ऐसे नियम हैं जो क्राउन, प्राइम मिनिस्टर (प्रधान मंत्री) कैबिनेट और संसद् के दोनों सदनों के बीच संबंधों को नियमित करते हैं। ये नियम उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान पूर्व निर्णयों के रूप में ग्रेट ब्रिटेन में विकसित हुए थे और ऐसे ब्रिटिश उपनिवेशों को विरासत में मिले थे जिनकी अपनी स्वतंत्र सरकार थी। यह घटनाएं ब्रिटेन तक ही सीमित नहीं है बल्कि ये अन्य संविधानों में भी पायी जाती हैं। अभिसमय (कन्वेंशन) सभी सुस्थापित संविधानों में पाए जाते हैं और हाल ही में नवीनतम संविधानों में भी विकसित हुए हैं।

356. इस प्रकार सांविधानिक विधि के नियमों के अन्तर्गत दो प्रकार के सिद्धांत आते हैं। पहला समूह किसी देश के लिखित संविधान में अन्तर्विष्ट होता है और दूसरा समूह "संविधान के अभिसमय" के रूप में निर्दिष्ट है। अभिसमय विधि, औपचारिक परिवर्तनों के बिना सांविधानिक विकास को पूर्ण करने का साधन है। के० सी० व्हेयर ने अपनी पुस्तक "दि स्टेच्यूट आफ वेस्टमिन्सटर एन्ड डोमीनियन स्टेट्स" के (चौथे संस्करण) में अभिसमयों को इस प्रकार परिभाषित किया है —

> 'अभिसमय' (कन्वेंशन) की परिभाषा इस परिवर्तित कथन के साथ की जा सकती है कि अभिसमयों का प्रयोजन सांविधानिक विवेकाधिकार के प्रयोग को परिभाषित करना है। साधारण शब्दों में यह कहा जा सकता है कि अभिसमय (कन्वेंशन्स) उसी प्रकार नियमित करने वाले गैर-विधिक नियम होते हैं जिस प्रकार विधिक नियम प्रवृत्त होते हैं।"

357. अभिसमय (कन्वेंशन) लिखित संविधानों के सिद्धांतों से संबद्ध रहते हुए विकसित होते हैं। आवश्यक अभिसामयिक नियम संविधान के विभिन्न भागों के कार्यों, उनके एक दूसरे से संबंध और विषय को नियमित करने के लिए उद्‌भूत होते हैं। सर डब्ल्यू० आइवर जेनिंग्स ने अपनी पुस्तक "ला एन्ड दि कांस्टीट्यूशन" के (पांचवें संस्करण) में सांविधानिक अभिसमयों को इन शब्दों में निर्दिष्ट किया है—

"इस प्रकार विधि के ढांचे के अन्तर्गत ऐसे आचार नियमों के विकास के लिए स्थान है जिन्हें विधि के नियमों के रूप में सतत् रूप से ग्रहण किया जा सकता है और ये नियम ऐसी प्रक्रिया का निर्धारण कर सकते हैं जिन्हें शासन से संबंधित व्यक्ति अपना सकेंगे।

इन नियमों को "संविधान के अलिगिबद्ध सूत्रों" के रूप में निर्दिष्ट किया गया है। बीस वर्ष पश्चात् डीसे ने इन नियमों को "संविधान के अभिसमय" (दि कन्वेंशन्स आफ दि कांस्टीट्यूशन) कहा, जबकि एन्सन ने इन्हें "संविधान की रूढ़ियां (दि कस्टम आफ दि कांस्टीट्यूशन) के नाम से निर्दिष्ट किया। सांविधानिक अभिसमयों (कन्वेशन्स) को संक्षिप्ततः इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कि ये अभिसमय ऐसा मांस प्रदत्त करते हैं जो विधि की सूखी हड्डियों पर चढ़ाया जाता है; ये विधिक गठन का कार्य करते हैं; ये विचारों की उत्पत्ति के साथ संबंध बनाए रखते हैं। कोई संविधान स्वतः कार्य नहीं कर सकता। इसे जनता ही कृत्यकारी बनाती है। यह राष्ट्रीय सहकारिता की एक लिखत है और सहकारिता की भावना लिखत के रूप में होना आवश्यक है। सांविधानिक अभिसमय इस सहकारिता को प्रभावी बनाने के लिए सुपरिष्कृत नियमों के रूप में होते हैं। राष्ट्रीय जीवन को परिवर्तित करने वाली परिस्थितियों के साथ ही किसी संविधान के प्रभाव भी परिवर्तित हो जाने चाहिए। नई आवश्यकताएं, नई अभिव्यक्ति और नए अभिविन्यास की मांग करती हैं जबकि विधि स्थिर रहती है। लोग नई आवश्यकताओं को पूरा करने के अनुक्रम में पुरानी विधि को काम में लाएंगे। सांविधानिक अभिसमय ऐसे नियम हैं जो इन आवश्यकताओं को पूरा करते हैं।"

358. अभिसमय (कन्वेंशन) एक कठोर विधिक ढांचे को बदलती सामाजिक आवश्यकताओं और बदलते राजनैतिक विचारों के अनुरूप बनाए रखने में समर्थ होते हैं जबकि विधियां कठोर प्रवृत्ति की होती हैं। कन्वेंशन लोगों को, जो शासन चलाते हैं, मशीनरी चलाने में समर्थ बनाते हैं। डीसे नें अपनी पुस्तक "इन्ट्रोडक्शन टू दि स्टडी आफ दि ला आफ दि कांस्टीट्यूशन" में अभिसमय को इन शब्दों में निर्दिष्ट किया है—

"अभिसमय बाहुल्यपूर्ण और विविध होते हैं क्योंकि ये न केवल प्रथम दृष्टि में महत्व में एक दूसरे से भिन्न प्रतीत होते हैं बल्कि इनकी सामान्य विशिष्टताएं और व्याप्ति भी भिन्न होती है तथापि इनकी सावधानीपूर्वक परीक्षा किए जाने पर यह पाया गया कि इनमें एक जैसी क्वालिटी या गुणवत्ता होती है, ये सभी या किसी भी रूप में इनमें से अधिकांश ऐसी रीति का निर्धारण करने वाले नियम हैं कि किस प्रकार क्राउन को [या क्राउन के सेवकों के रूप में मिनिस्टरों (मंत्रियों) को] विवेकाधिकार शक्तियों का प्रयोग करना चाहिए, और परीक्षा करने पर यह पाया गया कि यह विशेषता न केवल पहले से प्रगणित सभी नियमों में सामान्य रूप से पाई जाने वाली विशेषता है बल्कि संविधान के अभिसमयों के बड़े भाग में भी (हालांकि सम्पूर्ण रूप से नहीं) पाई जाती है।"

लिखित संविधान प्रत्येक संभाव्यता के लिए उपबंध नहीं कर सकता। सांविधानिक संस्थाएं प्रायः ऐसे उपबंधों द्वारा सृजित होती हैं जो साधारण शब्दों में अभिव्यक्त किए जाते हैं। ऐसे

उपबंध का निर्वचन अभिसमयों की सहायता से किया जाता है जो समय के अन्तराल के साथ विकसित होते हैं। जब अभिसमय स्वतः संविधान की रिक्तियों को भरते हैं तब ये महत्वपूर्ण होते हैं और निर्वचन की समस्याओं को हल करने में सहायता करते हैं तथा सांविधानिक ढांचे में भविष्य में होने वाले विकास को अनुज्ञेय करते हैं। संविधान की प्रकृति कुछ भी हो, अभिसमय सांविधानिक कृत्यकारियों को विस्तृत विवेकाधिकार अनुज्ञात करने वाले विधिक नियमों में अनकहे महत्वपूर्ण सम्बन्ध विकसित कर सकते हैं। अभिसमय इस विवेकाधिकार के प्रयोग को विनियमित करते हैं। कोई शक्ति, जो किसी व्यक्ति या निकायों को विधिक रूप से प्रदत्त है, अभिसामयिक नियम के प्रवर्तन द्वारा स्थानांतरित, निर्दिष्ट या सारणीबद्ध की जा सकती है। के० सी० व्हेयर ने अपनी पुस्तक "मार्डन कांस्टीट्यूशन" (संस्करण 1967) में ऐसे नियम को इस प्रकार निर्दिष्ट किया है—

> "प्रायः ऐसा होता है कि किसी संविधान में प्रदत्त शक्तियों को वस्तुतः प्रयोग में लाया जाता है किन्तु जब इन शक्तियों का प्रयोग उन व्यक्तियों द्वारा किया जाता है जिन्हें ये शक्तियां प्रदत्त की गई हैं तब व्यवहारतः इन शक्तियों का प्रयोग किसी अन्य व्यक्ति या व्यक्तियों के निकायों द्वारा किया जाता है। संक्षेप में अभिसमय किसी संविधान में प्रदत्त शक्तियों को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को अंतरित करते हैं।"

359. अभिसमयों की प्रारंभिक भूमिका विवेकाधिकार के प्रयोग को नियमित करना है—अभिसमय आशयित रूप से शक्तियों के अनुत्तरदायी दुरुपयोग के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करते हैं। कोलिन आर० मुनरो ने अपनी पुस्तक "स्टडीज इन कांस्टीट्यूशनल ला (संस्करण 1987) में अभिसमयों के प्रवर्तन के क्षेत्र को इस प्रकार निर्दिष्ट किया था—

> "इसलिए, जैसा कि डीसे ने कहा है कि अत्यधिक महत्वपूर्ण अभिसमयों में से कतिपय क्राउन की विवेकाधिकार, शक्तियों से और इस बात से संबंधित हैं कि उनका प्रयोग कैसे किया जाना चाहिए। किन्तु ये मात्र कार्यपालक सरकार और विधान मंडल-कार्यपालिका के संबंधों से ही संबंधित नहीं हैं जैसा कि हम ऐसे नियमों में पाते हैं और जैसे कि ये प्रवृत्त हैं। ये सांविधानिक क्रियाकलाप के अन्य क्षेत्रों में भी पाए जा सकते हैं, उदाहरणार्थ संसद के सदनों के बीच संबंधों में तथा प्रत्येक सदन की कार्यप्रणाली में, विधायी प्रक्रिया में, न्यायिक प्रशासन और न्यायिक बर्ताव में, सिविल सेवाओं में, स्थानीय सरकार में और राष्ट्रमंडल के अन्य सदस्यों के साथ संबंधों में।"

360. इंग्लैंड में शाही परमाधिकार के प्रयोग में कबिनेट प्रणाली के कार्यों को शासक और लोकसभा तथा न्यायपालिका प्रारंभिक रूप से सुस्थापित अभिसमयों के आधार पर चलाते हैं। उदाहरणार्थ न्यायपालिका द्वारा बाध्यकारी रूप से विचारित कतिपय अभिसमय इस प्रकार हैं :—

> "समान पदधारी (ले पीयर्स) को हाउस आफ लार्ड्स के निकाय (जुडीशियल बाडी) के समक्ष अपीलें सुनने की ईप्सा नहीं करनी चाहिए।
>
> 2. सामान्यतया लार्ड्स आफ अपील में कम से कम दो स्कॉट्स लायर्स को सम्मिलित होना चाहिए।

3. संसद में न्यायपालिका का आचरण न्यायपालिका के सदस्य की पदच्युति की ईप्सा करने वाले प्रस्ताव पर ही प्रश्नगत किया जा सकता है, अन्यथा नहीं।

4. किसी न्यायाधीश की न्यायपीठ के लिए नियुक्ति होने पर उसे राजनैतिक संबंधों से पृथक रहना चाहिए।

361. यदि हम अंतिम उदाहरण को ही लें, एक स्कोटिश न्यायाधीश लार्ड एवान्डल ने वर्ष 1968 में कन्जरवेटिव अपोजीशन कमेटी में कार्य करने के लिए अपनी सहमति व्यक्त की थी किंतु जनता की आलोचना और लार्ड एडवोकेट के इस कथन पर कि अभिसामयिक नियमों का भंग हुआ था, उन्होंने अपनी इस सहमति को वापस ले लिया था। दूसरा उदाहरण वर्ष 1984 में प्रकटित वह कठिनाई थी जिसमें मास्टर आफ रोल्स ने व्यवसाय संघों की बाबत सरकार को उसकी नीति के संबंध में सलाह दी थी। **आर० बनाम एच० एम० ट्रेजरी एक्स पी० स्मेडले**[1] वाले मामले में मास्टर आफ रोल सर जॉन डोनाल्डसन ने अभिसमयों के निबंधनों में संसद और न्यायपालिका के बीच संबंध को इस प्रकार निर्दिष्ट किया था :—

> "यद्यपि यूनाईटेड किंग्डम का कोई लिखित संविधान नहीं है इसलिए वहां इस सांविधानिक अभिसमय का अत्यधिक महत्व है कि न्यायपालिका के ऊपर संसद को कतिपय अंतिम अधिकार होने के अध्यधीन विधान मंडल और न्यायपालिका एक-दूसरे से पृथक और स्वतंत्र हैं।"

362. के० सी० व्हेयर ने अपनी पुस्तक "मार्डन कांस्टीट्यूशन्स" में अभिसमयों के न्यूनतम दो स्रोत बताए हैं। आचरण की चर्चा लम्बी समयावधि तक अस्तित्वयुक्त रह सकती है और धीरे-धीरे पहले बृत्ति प्राप्त करती है और उसके पश्चात् आबद्धकर बल। उसके अनुसार कोई अभिसमय इसकी अपेक्षा शीघ्रातिशीघ्र उद्भूत होता है। किसी विशिष्ट रीति से कार्य करने के लिए और किसी विशिष्ट आचार नियम को ग्रहण करने के लिए संबंधित व्यक्तियों के बीच कोई सहमति हो सकती है। ऐसा नियम अव्यवहित रूप से आबद्धकर हो जाता है और यह ही अभिसमय है। इस बारे में सर आइवर जैनिंग्स ने इस प्रकार कहा है—

> "विधियां एक ढांचा मात्र उपबंधित करती हैं ऐसे व्यक्ति, जो विधियों का प्रवर्तन करते हैं, ढांचे को कोई अर्थ प्रदान करते हैं और कमियों को पूरा करते हैं। वे व्यक्ति जो विनिश्चय करते हैं ऐसे पूर्व निर्णयों का सृजन करते हैं जिन्हें अन्य व्यक्ति अपनाने के लिए अग्रसर होते हैं और जब इन्हें लम्बे समय तक व्यवहार में लाया जाता है तब ये समय के साथ सन्तत्व और मान्यता अर्जित कर लेते हैं। ये पूर्व निर्णय न केवल अपनाए जाते हैं बल्कि ये अपनाए जाने के लिए ही होते हैं।"

363. किसी सांविधानिक प्राधिकारी का प्रत्येक कार्य एक उदाहरण की दृष्टि से ऐसा "पूर्व निर्णय" होता है जिसका पश्चात्वर्ती समान मामलों में अनुसरण किया भी जा

[1] [1985] क्यू० बी० 657 पृष्ठ 606

सकता है और नहीं भी, किन्तु ऐसे अनेक पूर्व निर्णय जिनमें सभी मुद्दों पर एक जैसा निदेश किया गया हो, अभिसमय का बहुत अच्छा साक्ष्य है ।

364. किसी अभिसमय की विद्यमानता को सुस्थापित करने वाली अपेक्षाओं को सर डब्ल्यू० आइवर जैनिंग्स ने अपनी पुस्तक "दि लॉ एन्ड दि कांस्टीट्यूशन" पांचवां संस्करण (1959) में संक्षिप्त रूप से इस प्रकार अधिकथित किया है :—

> "हम स्वयं से तीन प्रश्न करते हैं : प्रथमत: पूर्ण निर्णय क्या है, द्वितीयत: क्या पूर्व निर्णयकर्ता यह विश्वास कर सकते हैं कि वे किसी नियम द्वारा आबद्ध थे, और तृतीयत: क्या नियम के लिए कोई कारण है ? किसी अच्छे कारण के साथ एक मात्र पूर्व निर्णय भी नियम को स्थापित करने के लिए पर्याप्त हो सकता है । ऐसे किसी कारण के बिना पूर्वनिर्णयों की संपूर्ण और लंबी श्रृंखला भी उपयोगी नहीं होगी जब तक कि यह पूर्ण रूप से निश्चित न हो जाए कि संबंधित व्यक्ति अपने को उनसे आबद्ध मानते हैं ।"

365. इस प्रक्रम पर हम कनाडा के सुप्रीम कोर्ट द्वारा विनिश्चित रि० **एमेन्डमेंट आफ दि कांस्टीट्यूशन आफ कनाडा**[1] वाले मामले को निर्दिष्ट करना चाहेंगे । 1980 में कनाडा की ट्रुडियू सरकार ने कनाडा की विधि में वेस्टमिन्सटर की शक्ति को समाप्त करने, प्रान्तीय और फेडरल विधान मंडल दोनों पर आबद्धकर नई प्रकृति के अधिकारों का सृजन करने और सांविधानिक संशोधन के लिए प्रक्षेत्र-सूत्र स्थापित करने के लिए एक स्कीम प्रस्तावित की थी । दस में से आठ प्रान्तों द्वारा स्कीम का विरोध करने पर यह जटिल प्रश्न उद्भूत हुआ था कि क्या फेडरल प्रान्तों के अत्यधिक विरोध के बावजूद स्कीम को अधिनियमित करने के लिए वेस्टमिंस्टर से अनुरोध करने के हकदार हैं ? मामले की सुनवाई कनाडा के सुप्रीम कोर्ट द्वारा की गई थी ।

366. सांविधानिक अभिसमय के मुद्दे पर 6 से 3 के बहुमत द्वारा न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि वेस्टमिंस्टर को प्रस्तावित अनुरोध से इस अभिसमय का भंग होता है कि प्रान्तीय अधिकारों पर प्रभाव डालने वाले किसी विधान को प्रान्तीय समर्थन प्राप्त होना चाहिऐ । यह विनिश्चय करने में कि अभिसमय विद्यमान है, न्यायालय ने सर आइवर जैनिगस द्वारा अधिकथित (ऊपर उद्धृत) परीक्षा को अपनाया था । बहुमत का यह निष्कर्ष था कि यदि ट्रुडियू स्कीम का प्रवर्तन अनुज्ञात किया गया तो यह असांविधानिक (अर्थात अभिसमय का भंग) होगा । विधि के मुद्दों और अभिसमय के संबंध में पृथक रूप से निर्णय दिया गया था । द्वितीय प्रश्न की बाबत न्यायालय ने 7 से 2 के बहुमत द्वारा यह अभिनिर्धारित किया कि ट्रुडियू स्कीम को प्रान्तीय सहमति के बिना वेस्टमिंस्टर के समक्ष प्रस्तुत करना विधिक था । बहुमत द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया कि ऐसा कोई विधिक नियम नहीं था जो संशोधन ईप्सित करने वाले संकल्पों को अपनाने के लिए कनाडा के संसद की शक्ति को परिसीमित कर सके । यह भी अभिनिर्धारित किया गया था कि "किसी राजनैतिक परिसीमा के रूप में जो कुछ वांछनीय है उसे आज्ञापक सांविधानिक पाठ्य में अभिव्यक्त किए बिना किसी विधिक परिसीमा में अनूदित (भाषांतरित) नहीं किया

[1] [1981] 125 डी० एल० आर० (3 डी०) 1.

जा सकता।" ऐसी कोई प्रक्रिया नहीं थी जिसके द्वारा सांविधानिक अभिसमयों को "विधि के अन्तर्गत" स्पष्ट किया जा सके।

367. विनिश्चय प्रत्यक्ष रूप से विरोधाभासयुक्त था। न्यायालय ने सर आइवर जैनिंग्स द्वारा अधिकथित परीक्षाओं का अनुसरण करते हुए तथ्य के रूप में यह निष्कर्ष निकाला था कि अभिसमय की विद्यमानता है। यह भी अभिनिर्धारित किया गया था कि प्रस्तावित विधान द्वारा अभिसमय का भंग होता है। यहां तक कि न्यायालय ने यह भी निष्कर्ष निकाला था कि सुस्थापित अभिसमय को भंग करना असांविधानिक होगा। इन बातों को दृष्टिगत करते हुए जो एक मात्र तर्कसंगत निष्कर्ष निकाला जा सकता है वह यह है कि अभिसमय देश की सांविधानिक विधि का भाग होने के कारण इनका आबद्धकारी प्रभाव था और इसे कोई भी प्राधिकारी भंग नहीं कर सकता। यह अभिनिर्धारित करते समय कि सांविधानिक अभिसमयों को कभी भी विधि के अन्तर्गत स्पष्ट नहीं किया जा सकता, न्यायालय मुख्यतया ए० वी० डीसे द्वारा प्रस्तुत किसी अभिसमय की संकल्पना से प्रभावित था। डीसे ने एक ऐसी साधारण कार्यकारी परीक्षा उपबंधित की थी जिसके द्वारा विधियों और अभिसमयों के बीच विभेद किया जा सके। उसके अनुसार विधियां न्यायालयों द्वारा प्रवृत्त की जाती हैं जबकि अभिसमय न्यायालयों द्वारा प्रवृत्त नहीं किए जाते। विधियों और अभिसमयों के बीच उसके द्वारा विभेद करने के तथ्य की आलोचना की गई थी। गोफरे विल्सन के अनुसार जब तक कि विभेद को अपसर्जित नहीं किया जाता है तब तक "सांविधानिक विधि को सामंजस्यपरक विषय के रूप में प्रस्तुत करना या उसे किसी सार्थक रीति में ऐसे कृत्यों से, जो उसे करने होते हैं, या उस सामाजिक और राजनीतिक संदर्भ से जोड़ना, असंभव है, जिसमें उसे प्रवर्तित होना होता है।" [केसेज एन्ड मेटेरियल्स आन कांस्टीट्यूशनल एन्ड एडमिनिस्ट्रेटिव ला (संस्करण 1966)]। सर आइवर जैनिंग्स, डीसे से सहमत नहीं थे। जैनिंग्स के अनुसार (ला एन्ड कांस्टीट्यूशन) (पांचवां संस्करण) विधियों और अभिसमयों के बीच "सार या प्रकृति का कोई विभेद" नहीं है। उसने यह दलील दी कि दोनों के बीच समानता थी या दोनों का समान प्रभाव था। उसने यह दलील भी दी कि दोनों प्रकार के नियम सामान्य सम्मति पर आधारित थे और अधिकांश अभिसमय निश्चित रूप से सुस्थिर होते हैं और प्रायः इन्हें भी उतना ही तात्विक कहना चाहिए जितना कि सामान्य विधि के सिद्धांतों को। प्रोफेसर जे० डी० बी० माइकल ने भी अपनी पुस्तक (कांस्टीटयूशनल ला) (द्वितीय संस्करण, 1968) में इस प्रकार की दलील दी—

> "अभिसमय विधि के नियमों की अपेक्षा कम महत्वपूर्ण नहीं माने जा सकते। प्रायः विधिक नियमों का कम महत्व होता है। विषय-वस्तु से संबंधित दो प्रकार के नियम व्याप्त हैं—प्रकृति में वे प्रायः स्पष्ट रूप से भिन्न नहीं हैं···अधिकांश अभिसमय विधि के किसी नियम की प्रमितता के कारण या विधि में समाविष्ट होने के कारण अभिव्यक्त होने योग्य हैं। पूर्व निर्णय अभिसमय की विरचना में इसलिए प्रवर्तनशील है क्योंकि यह विधि में भी है। यह नहीं कहा जा सकता कि विधि का कोई नियम आवश्यक रूप से किसी अभिसमय की अपेक्षा अधिक सुस्थिर होता है। इसलिए यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या विधि का अभिसमय से विभेद करना सही है···।"

368. डीसे ने भी यह स्वीकार किया है कि अभिसमयों की भी समुचित स्वीकृति है और ये आबद्धकर हैं। उसने अपनी पुस्तक "इन्ट्रोडक्शन टू स्टडी आफ दि ला आफ कांस्टीट्यूशन" में इस प्रकार कहा है :—

> "यह प्राख्यान कि इन्हें प्रायः विधि का बल प्राप्त है, निरर्थक नहीं है। संविधान के कुछ अभिसमयों का कठोरता से पालन किया जाता है ... किन्तु वह मंजूरी, निर्भीकतम राजनीतिज्ञों को संविधान के मूलभूत सिद्धान्तों और उन अभिसमयों का पालन करने के लिए विवश करती है, जिनमें ये सिद्धांत व्यक्त किए जाते हैं यह तथ्य है कि इन सिद्धान्तों और इन अभिसमयों का भंग प्रायः तुरन्त ही अपराधी को न्यायालयों और देश की विधि के लिए दोषी बना देगा।"

369. हमारे लिए यह आवश्यक नहीं है कि हम इस विषय में और अधिक छान-बीन करें। हम इस बात से सहमत हैं कि कोई अभिसमय, जब यह कोई अभिसमय हो, विधि से भिन्न होता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं हो सकता, कि जो प्रारंभिक रूप से अभिसमय था, बाद में विधि नहीं बन सकता। जब रूढ़िगत नियमों को मान्यता प्राप्त हो और ये न्यायालयों द्वारा विधि के रूप में प्रवृत्त किए जाते हों तब ऐसा कोई कारण नहीं है कि किसी अभिसमय को किसी विधि के अन्तर्गत स्पष्ट और प्रवृत्त न किया जा सके। के० सी० व्हेयर ने अपनी पुस्तक "माडर्न कांस्टीट्यूशन" (संस्करण 1966) में यह कहा है कि "अभिसमय न्यायिक मान्यता द्वारा भी विधि बन सकते हैं।" निस्संदेह यह सही है, कि किसी विशिष्ट अभिसमय की विद्यमानता को ऐतिहासिक घटनाओं और अनुभवपूर्ण वास्तविक दलीलों के आधार पर साक्ष्य द्वारा साबित किया जा सकता है। किंतु जब एक बार न्यायालय में यह साबित हो जाता है कि कोई विशिष्ट अभिसमय विद्यमान है और सांविधानिक प्राधिकारी इन्हें आबद्धकर पूर्व-निर्णयों के रूप में ग्रहण करते हैं तब ऐसे अभिसमय की विधिक हैसियत से इन्कार करना न्यायोचित नहीं है।

370. अनेक प्राधिकारियों ने यह उपदर्शित किया है कि न्यायालयों ने अभिसमयों की विद्यमानता को स्वीकार किया है और कानूनी निर्वचन के लिए सहायक होने के रूप में उनका अवलंब लिया है। **रायडर बनाम फोले**[1] वाले मामले में आस्ट्रेलिया के हाई कोर्ट ने यह अभिनिर्धारित किया था कि मिनिस्टर का व्यवहार अभिसामयिक था जो सरकार की ओर से कार्य कर रहा था। इसी प्रकार **कार्मशियल केबल कंपनी** बनाम **न्यूफाउन्ड लैंड**[2] वाले मामले में प्रीवी कौंसिल की जुडीशियल कमेटी ने "गवर्नमेंट" (सरकार) शब्द का निर्वचन करते हुए इसका अर्थ ऐसे मिनिस्टर से लिया था जो किसी सुस्थापित अभिसमय के आधार पर भारसाधक हो। **ब्रिटिश कोल कारपोरेशन** बनाम **दि किंग**[3] वाले मामले में प्रीवी कौंसिल की जुडीशियल कमेटी ने अभिसमय की इस प्रकार अवेक्षा की कि हिज मेजेस्टी इन कौंसिल (समिति के महामहिम) जुडीशियल कमेटी को इस प्रभाव की रिपोर्ट देने के लिए आबद्ध थे। इस संबंध में हम **राबिन्सन** बनाम **मिनिस्टर आफ टाउन एंड कंटरी प्लानिंग**[4], **लाइवरसिज**

---

1 [1906] 4 सी० एल० आर० 422.

2 [1916] ए० सी० 610.

3 [1935] ए० सी० 500.

4 [1947] के० बी० 702.

बनाम एन्डरसन[1], कापीराइट ओनर्स रिप्रोडक्शन सोसाइटी लिमिटेड बनाम ई० एम० आई० (आस्ट्रेलिया) प्रा० लि०[2], उडम्बेनरो बनाम अकिन्टोला[3], एटार्नी जनरल जोनाथन कैप लिमिटेड (क्रासमैन डायरीज केस)[4] आर० बनाम सेक्रेटरी आफ स्टेट फार होम डिपार्टमेंट, एक्स पी० होसेनबाल[5] और रि० एमेन्डमेंट आफ दि कांस्टीट्यूशन आफ कनाडा[6] वाले मामले निर्दिष्ट करना चाहेंगे।

371. हमारा यह मत है कि "सांविधानिक विधि" और किसी सुस्थापित "सांविधानिक अभिसमय" के बीच कोई भिन्नता नहीं है और दोनों ही अपने-अपने प्रवर्तन के क्षेत्र में आबद्धकारी हैं। जब एक बार न्यायालय के समाधान के लिए यह स्थापित हो जाता है कि कोई विशिष्ट अभिसमय विद्यमान है और प्रवर्तन में है तब अभिसमय देश की "सांविधानिक विधि" का भाग बन जाते हैं और रीति के अनुसार प्रवृत्त किए जा सकते हैं।

372. भारत के संविधान को ब्रिटिश सरकार के स्वरूप से जिसका कैबिनेट, हाउस आफ पियूपल (संसद) के प्रति उत्तरदायी है, उधार लेकर बनाया गया है। सरकार की मशीनरी (तंत्र) आवश्यक रूप से ब्रिटिश परिपाटी पर है और सभी ब्रिटिश सांविधानिक अभिसमय पूर्ण रूप से या तो संविधान में सम्मिलित किए गए हैं अथवा अलिखित सांविधानिक अभिसमयों के रूप में ग्रहण किए गए हैं। भारत के संविधान की रचना करते समय संविधान सभा में यह बहस हुई थी कि क्या लिखित संहिता को ब्रिटिश परिपाटी के आधार पर रखा जाए किंतु अंततः यह विनिश्चय किया गया था कि मुख्यतया संविधान के अलिखित अभिसमयों द्वारा विनियमित किए जाने हेतु सरकार की कैबिनेट पद्धति को परित्यक्त किया जाए। यह कहना अनावश्यक होगा कि ये अभिसमय, जो ब्रिटिश परिपाटी पर आधारित कैबिनेट पद्धति को विनियमित करने के लिए अनिवार्य थे, इस देश में कड़ाई से अपनाए गए हैं। भारत के संविधान को ग्रहण करने के लिए अग्रसर होते समय डा० राजेन्द्र प्रसाद ने संविधान सभा के अध्यक्ष के रूप में अपना भाषण देते हुए इस प्रकार मत व्यक्त किया था—

> "अनेक बातें, जो किसी संविधान में लिपिबद्ध नहीं की जा सकतीं, अभिसमयों (परम्पराओं) द्वारा की जा सकती हैं। मुझे यह आशा है कि हम उन सामर्थ्यों (क्षमताओं) को प्रदर्शित करेंगे और उन अभिसमयों को विकसित करेंगे।"

373. यू०एन०आर० राव बनाम श्रीमती इन्दिरा गांधी[7] वाले मामले में इस न्यायालय के समक्ष यह प्रश्न उद्भूत हुआ था कि क्या संविधान के अधीन हाउस आफ पियूपल को यथाशीघ्र विघटित किया जाए और कौंसिल आफ मिनिस्टर्स अर्थात् प्राइम मिनिस्टर (प्रधान मंत्री) और अन्य मंत्रियों को पद धारित करने से निवारित किया जाए? अभिसमय की

---

1 [1942] ए० सी० 206.

2 [1958] 100 सी० एल० आर० 597.

3 [1963] ए० सी० 614.

4 [1976] क्यू० बी० 752.

5 [1987] डब्ल्यू० एल० आर० 766.

6 [1981] 123 डी० एल० आर० (थर्ड) 1.

7 [1971] 2 उम० नि० प० 612=[1971] सप्ली० एस० सी० आर० 46.

विद्यमानता को स्वीकार करते हुए इस न्यायालय ने इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर दिया था। मुख्य न्यायमूर्ति एस० एम० सीकरी ने न्यायालय की ओर से निर्णय देते हुए इस प्रकार अभिनिर्धारित किया था—

"हम विद्वान महान्यायवादी और अपीलार्थी के आभारी हैं कि उन्होंने हमें ऐसे संकलित ग्रन्थ उपलब्ध कराए हैं जिनमें सांविधानिक विधि के संबंध में अनेक पुस्तकों के उद्धरण और संविधान सभा के वाद-विवादों के उद्धरण दिए हुए हैं उनको उद्धृत करके इस निर्णय को बोझिल बनाने की आवश्यकता नहीं है किन्तु कुल मिलाकर हमें विद्वान रचियताओं से और भाषणों से यह आश्वासन मिलता है कि जो दृष्टिकोण हमने अपनाया है वह ठीक है और वह उन परिपाटियों के अनुसार है जिनका अनुसरण न केवल यूनाईटेड किंग्डम में ही किया जाता है बल्कि उन देशों में भी किया जाता है जिन देशों में इसी प्रकार की उत्तरदायी सरकार की पद्धति है।"

374. **शमशेर सिंह और अन्य** बनाम **पंजाब राज्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के समक्ष विनिश्चय के लिए यह प्रश्न था कि क्या भारत के राष्ट्रपति में निहित संघ की कार्यपालक शक्ति उसकी वैयक्तिक हैसियत थी या वह कौंसिल आफ मिनिस्टर्स द्वारा दी गई सलाह से आबद्ध था। इस न्यायालय ने ब्रिटिश पार्लियामेंटरी सरकार के स्वरूप, जो हमारे संविधान द्वारा ग्रहण किया गया है, के संबंध में विस्तारपूर्वक विचार किया था और यह निष्कर्ष निकाला था कि सुस्थापित सांविधानिक अभिसमय प्राइम मिनिस्टर की अध्यक्षता में कौंसिल आफ मिनिस्टर्स की सलाह पर कार्य करने के लिए राष्ट्रपति को आबद्धकारी बनाते हैं।

375. अब हम यह विचार करेंगे कि क्या किसी स्थापित सांविधानिक अभिसमय को भारत के संविधान के अनुच्छेद 124(2) और 217(1) के अन्तर्गत इस प्रभाव के साथ पढ़ा जा सकता है कि उच्च न्यायालयों और उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों (न्यायमूर्तियों) की नियुक्ति के मामले में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के द्वारा अभिव्यक्त न्यायपालिका का मत सर्वोपरि और आबद्धकर है। इस प्रयोजन हेतु हम परीक्षा के लिए सर आइवर जैनिंग्स द्वारा अभिकथित अभिसमय की विद्यमानता को लेते हैं जो तीन प्रश्नों पर आधारित है—(क) पूर्व निर्णय क्या है (ख) क्या पूर्व निर्णयों को करने वाले यह विश्वास कर सकते हैं कि वे किसी नियम से आबद्ध थे और (ग) क्या उस नियम के लिए कोई कारण है?

376. संविधान के अनुच्छेद 124(2) और 217(1) उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिए सलाह लिए जाने के लिए अपेक्षित सांविधानिक प्राधिकारियों की पहचान के लिए उपबंधित हैं। ये उपबंध परामर्श की प्रक्रिया को अंतिम रूप देने में अपनाई जाने वाली ऐसी प्रक्रिया की बाबत उपबंध नहीं करते जिसके परिणामस्वरूप भारत के राष्ट्रपति द्वारा नियुक्ति का अधिपत्र जारी किया जाता है। न तो संविधान का अनुच्छेद 124(2) और न ही 217 यह उपदर्शित करता है कि इनमें नामनिर्दिष्ट कोई सांविधानिक प्राधिकारी उच्चतर न्यायपालिका हेतु नियुक्तियां करने की प्रक्रिया में सर्वोपरि है। ये एक प्रकार की कमियां हैं जो सामान्यतया लगभग सभी संविधानों में पायी

[1] [1975] 1 उम० नि० प० 357=[1975] 1 एस० सी० आर० 814.

1993(10) eILR(PAT) SC 1

जाती हैं । इन कमियों को अभिसमयों द्वारा पूरा किया जाता है जो समय के साथ विकसित होते हैं । इसके पश्चात् संविधान के अनुच्छेद 124(2) और 217(1) की व्याप्ति की परीक्षा करते समय हमारे विचार के लिए मुख्यतया जो प्रश्न उद्भूत हुआ है वह यह है कि क्या सांविधानिक कृत्यों के इस क्षेत्र में प्रवृत्त होने वाले स्थापित अभिसमयों की सहायता से उन अनुच्छेदों का कोई सरल निर्वचन किया जा सकता है ।

377. भारत के संविधान के प्रवृत्त होने से पूर्व फैडरल कोर्ट के न्यायाधीशों और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्तियां क्रमशः भारत शासन अधिनियम, 1935 की धारा 200 और 220 के अधीन की जाती थीं । नियुक्तियां क्राउन के पूर्व विवेकाधिकार के अंतर्गत थीं । दूसरे शब्दों में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से या किसी अन्य रीति से न्यायपालिका से सलाह लेने के लिए किसी भी प्रकार का कोई उपबंध न होने के कारण कार्यपालिका को स्वतः उच्चतर न्यायपालिका हेतु नियुक्तियां करने के लिए प्राधिकार था । तथापि हमारे पास यह उपदर्शित करने के लिए समसामयिक साक्ष्य है कि भारत शासन अधिनियम, 1935 के अधीन उपर्युक्त नियुक्तियां निश्चित रूप से भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सलाह से की गई थीं ।

378. भारत के प्ररूपित संविधान की प्रतियां न्यायाधीशों के विचार जानने के लिए फेडरल न्यायालय और उच्च न्यायालयों को प्रचालित की गई थीं । दस्तावेज के आधारभूत महत्व को दृष्टिगत करते हुए न्यायपालिका से संबंधित संविधान के प्ररूप के उपबंधों पर चर्चा करने के लिए फेडरल न्यायालय और उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायमूर्तियों की एक बैठक बुलाई गई थी । तद्नुसार यह बैठक 26 और 27 मार्च, 1948 को हुई थी । अंततः उच्चतर न्यायपालिका के मतों का प्रतिनिधित्व करने वाला एक ज्ञापन गृहमंत्री और संविधान सभा के समक्ष प्रस्तुत किया गया था । ज्ञापन में यह विनिर्दिष्ट रूप से कहा गया था कि ब्रिटिश राज के अधीन न्यायपालिका आधारिक रूप से स्वतंत्र थी किंतु इसकी स्वतंत्रता को हड़पने के लिए कतिपय प्रवृत्तियां प्रत्यक्षतः प्रविष्ट हो गई थीं । यह बात भी बल देकर कही गई है कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को मामले को विनिर्दिष्ट किए बिना और उसकी सलाह लिए बिना कभी कोई नियुक्ति नहीं की गई थी । यहां हम ज्ञापन के पैरा को निर्दिष्ट करना चाहेंगे, जो इस प्रकार है—

> "हम यह आवश्यक नहीं समझते कि राष्ट्रपति द्वारा प्रस्तावित किसी नियुक्ति की सहमति को नकारने में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की संभाव्यता के लिए संविधान में कोई उपबंध किया जाए । दोनों सर्वोच्च उत्तरदायित्व के अधिकारी हैं और इस लिए ऐसे किसी इनकार की कोई स्थिति उद्भूत नहीं होती जहां ऐसा कोई अभिसमय विद्यमान हो कि ऐसी नियुक्तियां मामले को भारत के मुख्य न्यायाधीश को निर्दिष्ट करने और सहमति प्राप्त करने के पश्चात ही की जानी चाहिए । यदि ऐसी कोई स्थिति उद्भूत हो भी जाए तब इसे राष्ट्रपति द्वारा एक भिन्न प्रस्ताव करके निश्चित रूप से निपटाया जा सकता है और हमारा यह विचार है कि इस संबंध में कोई स्पष्ट उपबंध करने की आवश्यकता नहीं है ।" (दि फ्रेमिंग आफ इंडियाज कांस्टीट्यूशन, सिलेक्ट डाकूमेंट्स बाई शिवा राव वाल्यूम IV पृष्ठ 196) (रेखांकन बल देने के लिए किया गया है) ।

1993(10) eILR(PAT) SC 1

379. इसलिए शीर्ष न्यायपालिका ने इस स्पष्ट निबंधन का उल्लेख किया है कि "अब इस प्रकार का अभिसमय विद्यमान है कि ऐसी नियुक्तियां मामले को भारत के मुख्य न्यायाधीश को निर्दिष्ट करके और उसकी सहमति प्राप्त करने के पश्चात् ही की जानी चाहिए।" न्यायपालिका से संबंधित अपने ज्ञापन में गृह मंत्रालय की प्रारूप तैयार करने वाली समिति और संघ की संयुक्त बैठक तथा प्रांतों की संविधान समितियों ने सावधानी पूर्वक व्यक्त किए गए अपने विचारों में शीर्ष न्यायपालिका द्वारा तारीख मार्च, 1948 के अपने ज्ञापन में किए गए उपर्युक्त उद्धृत प्राख्यान को कहीं भी नकारा नहीं है।

380. यही वह पृष्ठभूमि है जिसके अधीन उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति से संबंधित भारत के संविधान के अनुच्छेद 124(2) और 217(1) के अधीन सामूहिक परामर्श से संबंधित उपबंध अधिनियमित किए गए थे। भारत के संविधान के कृत्यकारी होने के लगभग एक दशक के पश्चात् विधि आयोग की चौदहवीं रिपोर्ट पर बहस के अनुक्रम में न्यायपालिका से संबंधित उपबंध संसद के समक्ष लाए गए थे।

381. श्री जे० एन० कौशल ने, जो बाद में संघ के विधि मंत्री हो गए थे, तारीख 23 नवम्बर, 1959 को राज्य सभा में बोलते हुए इस प्रकार कहा था—

> "लोग यह महसूस करते हैं कि कार्यपालिका उचित रूप में कार्य नहीं कर सकती। न्यायपालिका ही उचित रूप में कार्य कर सकती है। लोगों का यह विचार अब भी विद्यमान है। हमें ऐसे विचारों का सम्मान करना चाहिए। राज्यों के मुख्य न्यायमूर्ति और भारत के मुख्य न्यायमूर्ति नियुक्तियां करते हैं। उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्तियों का विषय कार्यपालिका के हाथ में क्यों होना चाहिए? इसका क्या अभिप्राय है? यदि किसी राज्य का मुख्य न्यायमूर्ति अपने अधीनस्थ न्यायपालिका या बार के सदस्यों को न जानता हो तो यह दुर्भाग्यपूर्ण होगा किंतु हम इसे अनदेखा नहीं कर सकते। मैं आपको यह विश्वास दिलाता हूं कि यदि मुख्य न्यायमूर्ति कोई नियुक्ति करता है तो लोग सदैव प्रसन्न होंगे। उन्हें यह विश्वास होगा कि उच्च न्यायालय पर अन्य कोई बात प्रभावी नहीं होगी कम से कम न तो राजनैतिक बातें और न ही बाहरी बातें न्यायाधीशों को प्रभावित करेंगी।"

382. तारीख 23 नवम्बर, 1959 को श्री पी० एन० सप्रू ने भी राज्य सभा में बोलते हुए सही स्थिति का इस प्रकार उल्लेख किया था—

> "इस विषय में सही स्थिति यह होनी चाहिए कि संबंधित न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति की सिफारिश का उच्चतर महत्व और उच्चतर अधिमानता होनी चाहिए विशेषतया जब न्यायालय द्वारा उसका समर्थन किया गया हो और सामान्यतया किसी कारण के सिवाए जो मंत्रालय के ज्ञान में हो और जिसकी बाबत मुख्य न्यायमूर्ति को सूचित किया गया हो, मुख्य न्यायमूर्ति की सिफारिश में कोई हस्तक्षेप नहीं किया जाना चाहिए।"

383. श्री डी० पी० सिंह ने तारीख 24 नवम्बर, 1959 को राज्य सभा में अपना भाषण देते हुए इस प्रकार कहा था—

"उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय की नियुक्तियों के संबंध में डा० कुंजरू ने जो कुछ कहा है मैं उससे पूर्णतया सहमत हूं। मैं प्रबल रूप से यह विश्वास करता हूं कि उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों और उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों का मामला किसी भी प्रकार से कार्यपालिका के हाथ में नहीं दिया जाना चाहिए।"

384. इस दलील के समर्थन में कि न्यायपालिका की सिफारिशें सदैव स्वीकार की जानी चाहिए, गृहमंत्री द्वारा दिए गए तथ्यों और आंकड़ों को निर्दिष्ट करते हुए तारीख 24 नवम्बर, 1959 को श्री एस० के० बसु ने राज्य सभा में दिए गए अपने भाषण में इस प्रकार कहा था—

"श्रीमान, उच्चतम न्यायालय में नियुक्तियों के संबंध में यही स्थिति है, सभी नियुक्तियां भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सिफारिशों के आधार पर की जाती हैं। जहां तक राज्यों का संबंध है, 90 प्रतिशत से अधिक नियुक्तियां इसी रीति में की जाती हैं। शेष 14 या 15 मामलों में मुख्य न्यायाधीश की राय को गृह मंत्रालय द्वारा स्वीकार किया गया था सिवाए उस एक मामले के जहां वर्तमान गृह मंत्री के पद ग्रहण करने से पूर्व राज्य के मुख्य न्यायमूर्ति की सिफारिश को उसी अधिमानता से स्वीकार किया गया था जिस प्रकार भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सिफारिश को स्वीकार किया जाता है। इसलिए, श्रीमान यह गृह मंत्रालय की ओर से एक अत्यधिक गरिमापूर्ण अभिलेख है अर्थात् भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय प्रत्येक मामले में अभिभावी होगी।

आखिरकार किसी सिफारिश या अन्य आधार पर गृह मंत्रालय को ही चयन करना होता है और गृह मंत्रालय के अनुसार सिफारिश करने के लिए पूर्णतया सक्षम अधिकारी कौन है ? यह प्राधिकारी भारत का मुख्य न्यायमूर्ति है। श्रीमान मैं यह पूछता हूं कि क्या वस्तुतः तथ्यों के आधार पर अभिलेख पर किसी शिकायत के लिए कोई गुंजाइश है ?

इस संबंध में मैं यह भी दलील देना चाहता हूं कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय की स्वीकृति के सिद्धांत को गृह मंत्रालय द्वारा ऐसी किसी विस्तृति तक ले जाया गया था जबकि हाल ही में केरल की साम्यवादी सरकार ने स्वयं अपनी सिफारिशें भेज कर स्थानीय मुख्य न्यायमूर्ति की सिफारिश को अपास्त किया था, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा इन सिफारिशों को स्वीकार कर लिए जाने के कारण गृह मंत्रालय ने इन सिफारिशों को स्वीकार कर लिया था। इसलिए आप यह पाएंगे कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सिफारिशों को स्वीकार करने और उनका सम्मान करने में गृह मंत्रालय की स्थिति कितनी संगत रही है।"

385. अन्ततः गृह मंत्री श्री गोविन्द बल्लभ पंत ने (जब न्यायमूर्तियों की नियुक्तियों के मामलों पर गृह मंत्रालय द्वारा विचार किया गया था) विधि आयोग की चौदहवीं रिपोर्ट पर बहस करते हुए 24 नवम्बर, 1959 को राज्यसभा में इस प्रकार कहा था—

"श्रीमान जहां तक 1950 से, जब संविधान लागू किया गया था, उच्चतम न्यायालय की नियुक्तियां किए जाने का संबंध है, उन्नीस न्यायमूर्तियों की नियुक्तियां

की गई हैं और वे सभी उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति की सिफारिश के आधार पर ही नियुक्त किए गए थे। इस प्रयोजन के लिए यदि कोई अन्य विकल्प निकाला गया हो तो वह मेरी जानकारी में नहीं है। मेरा यह विचार है कि उच्चतम न्यायालय का मुख्य न्यायमूर्ति अपने सहकर्मियों तथा ऐसे न्यायाधीशों और अधिवक्ताओं के, जो विभिन्न राज्यों में अग्रगण्य स्थिति रखते हैं, गुणागुण से भली प्रकार परिचित होने के कारण ठीक रूप से समझते हुए उन पर विश्वास करता है। इसलिए हमें ऐसे पूर्ण रूप से सक्षम, विश्वसनीय और अग्रगण्य व्यक्ति की सलाह का अनुसरण करना होगा जो इस मामले में हमारा मार्गदर्शन कर सके।

इसी प्रकार जहां तक उच्च न्यायालयों का संबंध है 1950 से अब तक 211 नियुक्तियां की गई हैं और इनमें से एक नियुक्ति के अतिरिक्त अर्थात् 211 में से 210 नियुक्तियां भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सलाह और उसकी सहमति के आधार पर की गई थीं········।

मैंने उन भाषणों में से कुछ को, जो यहां दिए गए हैं, सुना है और उन भाषणों के अभिलेख का भी परिशीलन किया है जिन्हें दुर्भाग्यवश मैं वैयक्तिक रूप से नहीं सुन सका। यह दलील दी गई थी कि ये नियुक्तियां भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा की जानी चाहिए। मैं नहीं समझता कि स्थिति इससे बेहतर हो सकती है क्योंकि वस्तुतः नियुक्तियां भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा की जाती हैं। हमारे द्वारा आदेश मात्र ही जारी किए जाते हैं और किसी भी स्थिति में आदेश कार्यपालक प्राधिकारी द्वारा ही जारी किए जाएंगे।"

(रेखांकन बल देने के लिए किया गया है)

386. गृह मंत्री ने अपने कथन में यह स्पष्ट किया था कि 1950 के पश्चात् से उच्चतम न्यायालय की सभी नियुक्तियां और उच्च न्यायालयों की 211 में से 210 नियुक्तियां भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सहमति से की गई थीं। गृहमंत्री ने यह भी कहा था कि न्यायमूर्तियों की नियुक्तियां वस्तुतः भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा की गई थीं और कार्यपालिका आदेश जारी करने वाली प्राधिकारी मात्र थी। दूसरे शब्दों में गृहमंत्री ने इस आशय के अभिसमय की विद्यमानता को स्वीकार किया था कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय और सिफारिश को कार्यपालिका द्वारा अंतिम रूप दिया गया था। विधि मंत्री श्री अशोक सेन ने तारीख 25 नवम्बर, 1959 को राज्य सभा में गृहमंत्री द्वारा लिए गए अवलंब को दोहराया था।

387. विधि और न्याय मंत्रालय के न्याय विभाग के संयुक्त सचिव श्री एस० के० बोस ने हमारे समक्ष तारीख 22 अप्रैल, 1993 को एक शपथपत्र फाइल किया है उपर्युक्त शपथपत्र के पैरा 6 में इस प्रकार कहा गया है—

"जहां तक न्यायाधीशों की ऐसी नियुक्तियों का संबंध है जो भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा अभिव्यक्त मत के अनुरूप नहीं की गई थीं, ससम्मान यह निवेदन किया जाता है कि तारीख 1 जनवरी, 1983 से 10 अप्रैल, 1993 तक, इस अवधि

के दौरान की गई कुल 547 नियुक्तियों में से मात्र 7 ही ऐसे मामले थे; इनमें से पांच 1983 में थे (दो मामले जनवरी, 1983 में, दो मामले जुलाई, 1983 में और एक मामला अगस्त, 1983 में), एक मामला सितम्बर, 1985 में और एक मामला मार्च, 1991 में था।"

388. इस प्रकार तथ्यों और स्वत: कार्यपालिका द्वारा दिए गए आंकड़ों से यह स्पष्ट है कि वास्तविक परिपाटी में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सिफारिशों को निरपवाद रूप से स्वीकार किया गया है।

389. उपर्युक्त चर्चा से जो वास्तविक स्थिति दृष्टिगोचर हुई है वह इस प्रकार है—

(i) भारत शासन अधिनियम, 1935 के अधीन न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिए कार्यपालिका को पूर्ण शक्ति प्राप्त थी। इसके बावजूद इस अधिनियम के अधीन की गई सभी नियुक्तियां भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सम्मति से की गई थीं।

(ii) वर्ष 1948 में एक ऐसा अभिसमय स्थापित हो गया था कि किसी न्यायाधीश की नियुक्ति भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सम्मति से ही की जा सकती है।

(iii) वर्ष 1950 से 1959 तक उच्चतम न्यायालय की सभी नियुक्तियां भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सम्मति से की गई थीं। इस अवधि के दौरान उच्च न्यायालयों के लिए भी 211 नियुक्तियों में 210 नियुक्तियां भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सम्मति से की गई थीं।

(iv) भारत के गृहमंत्री श्री गोविन्द बल्लभ पंत ने तारीख 24 नवम्बर, 1959 को संसद के पटल पर यह घोषणा की थी कि न्यायाधीशों की नियुक्ति निरपवाद रूप से भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा की गई थीं और कार्यपालिका मात्र आदेश जारी करने वाली प्राधिकारी थी।

(v) विधि मंत्री श्री अशोक सेन ने तारीख 25 नवम्बर, 1959 को संसद् में यह दोहराया था कि उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के लिए प्राय: सभी नियुक्तियां भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सम्मति से की गई थीं।

(vi) 1 जनवरी, 1983 से 10 अप्रैल, 1993 की अवधि के दौरान 547 न्यायाधीशों की नियुक्तियां की गई थीं जिनमें से मात्र 7 नियुक्तियां भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा अभिव्यक्त मत के अनुरूप नहीं की गई थीं।

390. अब हम सर आइवर जैनिंग्स द्वारा अधिकथित उन तीन परीक्षाओं की चर्चा करेंगे जो हमारे द्वारा वर्तमान मामले के तथ्यों को लागू की गई हैं।

391. प्रथम परीक्षा यह है कि **पूर्ण निर्णय क्या है** ? भारत शासन अधिनियम, 1935, जो 1950 तक प्रवृत्त रहा था, के अधीन फेडरल न्यायालय और उच्च न्यायालयों

के न्यायाधीशों की सभी नियुक्तियां भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सम्मति से की गई थीं। शीर्ष न्यायपालिका ने अपने तारीख मार्च, 1948 के ज्ञापन में यह उल्लेख किया था कि ब्रिटिश राज के अधीन न्यायाधीशों की नियुक्तियां एक स्थापित अभिसमय के आधार पर भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सम्मति से की गई थीं। हमें 1950 के 1959 तक और 1 जनवरी, 1983 से 10 अप्रैल, 1993 तक की अवधि के पूर्वनिर्णय उपलब्ध हैं। उपर्युक्त अवधि के दौरान की लगभग सभी नियुक्तियां भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सहमति से की गई थीं। इस प्रकार पूर्व निर्णय स्पष्ट रूप से अभिसमय के अस्तित्व को उपदर्शित करते हैं और इसलिए हमारे मतानुसार प्रथम प्रश्न का उत्तर पूर्ण हो जाता है।

392. अब हम द्वितीय परीक्षा पर विचार करेंगे। **क्या पूर्व निर्णयों को करने वाले यह विश्वास कर सकते थे कि वे किसी नियम से आबद्ध थे ?** पूर्व निर्णयकर्ताओं ने अधिकतर विवाद्यक पर ही कहा है। वर्ष 1959 में गोविन्द बल्लभ पन्त ने गृह मंत्री की हैसियत से राज्य सभा के पटल पर यह घोषणा की थी कि "मैं समझता हूं कि उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति स्वयं अपने सहकर्मियों और उन न्यायाधीशों तथा अधिवक्ताओं के, जो विभिन्न राज्यों में अग्रगण्य स्थिति रखते हैं, गुणागुण को उनके निकट होने के कारण ठीक रूप से समझ सकते हैं और उन पर विश्वास कर सकते हैं। इसलिए हमें ऐसे पूर्णतया सक्षम, विश्वसनीय और विशिष्ट व्यक्ति की सलाह को अपनाना चाहिए जो इस विषय में हमारा मार्गदर्शन कर सके" और परिणामत: हम न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सिफारिशों का अनुसरण करने के लिए आबद्ध हैं। गृह मंत्री ने न्यायोचित आधारों पर भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की प्रधानता को स्पष्ट निबंधनों में स्वीकार किया था। दूसरे दिन विधि मंत्री ने भी राज्य सभा में ऐसी ही घोषणा की थी। हमने श्री जगन्नाथ कौशल द्वारा नवम्बर, 1959 में राज्य सभा के पटल पर दिए गए भाषण को उद्धृत किया है। उन्होंने 1980 से 1983 तक की अवधि के दौरान संघ विधि-मंत्री का पद धारित किया था और इस प्रकार वह भी एक ऐसे पूर्व निर्णयकर्ता थे जिन्होंने यह दृढ़ विश्वास किया था कि कार्यपालिका, न्यायपालिका द्वारा की गई सिफारिशों से आबद्ध थी। हमारे समक्ष दी गई दलीलों के दौरान कार्यपालिका द्वारा लिया गया अवलम्ब इस सीमा तक संगत था कि न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले में उन्होंने लगभग निरपवाद रूप से न्यायपालिका की सिफारिशों को स्वीकार किया है। इसलिए हमें यह अभिनिर्धारित करने में कोई कठिनाई नहीं है कि सर आईवर जैनिंग्स द्वारा अधिकथित दूसरी परीक्षा भी पूर्ण हो जाती है।

393. तीसरी परीक्षा यह है कि **क्या नियम के लिए कोई कारण है ?** इस अभिसमय के, कि न्यायपालिका की प्रमुख भूमिका है, समर्थन में दो मुख्य कारण हैं। इसमें कोई विवाद नहीं है कि न्यायपालिका की स्वतंत्रता संविधान की आधारभूत विशिष्टता है। हम न्यायपालिका की स्वतंत्रता की धारणा के संबंध में पहले ही विस्तार से चर्चा कर चुके हैं और हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले में कार्यपालिका की अंतिम भूमिका का अपवर्जन केवल न्यायपालिका की स्वतंत्रता बनाए रखने के उपाय के रूप में किया गया है। यदि ऐसा ही है तब संविधान के अनुच्छेद 124(2) और 217(1) का निर्वचन करते हुए ऐसे किसी अभिसमय का परिशीलन करने के लिए और कोई बेहतर कारण नहीं हो सकता। न्यायपालिका की राय को बल देने वाला द्वितीय और अत्यधिक महत्वपूर्ण कारण यह है कि ऐसी नियुक्तियां "उच्चतर न्यायपालिका" द्वारा की जाती हैं और

ऐसी नियुक्तियों के लिए उपयुक्त व्यक्तियों को तलाश करने हेतु इस प्रयोजन के लिए अनुभवी व्यक्ति न्यायपालिका में ही उपलब्ध हो सकते हैं। तथापि, इस दलील को स्वीकार करना कठिन ही नहीं बल्कि असंभव भी है कि सभी परामर्श देने वाले कृत्यकारियों के बारे में यह माना जाना चाहिए कि उनका समन्वयकारी प्राधिकार है क्योंकि सत्यनिष्ठा, हैसियत, चरित्र गुणागुण, दक्षता और स्वास्थ्य जैसे पहलुओं पर, जो किसी व्यक्ति की उपयुक्तता जांचने के प्रयोजनार्थ सुसंगत होते हैं, कार्यपालक प्राधिकारियों को बहुत कम जानकारी होती है और वे इस बारे में कुछ कहने की स्थिति में नहीं होते। दूसरी ओर उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति तथा भारत के मुख्य न्यायमूर्ति बेहतर जानकारी रखते हैं और अपने मतों को अभिव्यक्त करने तथा व्यक्ति की उपयुक्तता के बारे में सलाह देने के लिए उनके पास अधिक अच्छे साधन होते हैं। सभी सांविधानिक कृत्यकारी अपने-अपने क्षेत्रों में उच्चतर प्राधिकारी होने के कारण किसी न्यायाधीश की नियुक्ति हेतु किसी व्यक्ति की उपयुक्तता के संबंध में उनके द्वारा किए गए निर्धारण में सामान्यतया कोई संविवाद नहीं हो सकता किन्तु किसी विभेद की दशा में न्यायपालिका द्वारा दी गई सलाह "विशेषज्ञ सलाह" प्रकृति की होने के कारण अधिमान दिए जाने योग्य होगी।

394. सर आईवर जैनिंग्स द्वारा अधिकथित तीनों परीक्षाओं का उत्तर सकारात्मक रूप में देते हुए हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि इस आशय का अभिसमय, कि न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय और सिफारिश कार्यपालिका पर आबद्धकर है, सुदृढ़ रूप से स्थापित हो गया है और यह भारत के संविधान के अनुच्छेद 124(2) और 217(1) में पढ़ा जाएगा।

"परामर्श के पश्चात्"

395. संविधान के अनुच्छेद 124(2) और 217(1) में "परामर्श के पश्चात्" पद का निर्वचन तीन दृष्टिकोणों से किया गया है। "परामर्श" से क्या अभिप्रेत है ? क्या परामर्श की प्रक्रिया आज्ञापक है ? और कौन परामर्शदाता-कार्यपालिका या न्यायपालिका—मामले में प्रधानता रखता है ? यह न्यायालय प्रथम दो प्रश्नों को प्रामाणिक रूप से विनिश्चित कर चुका है। परामर्श की अपेक्षा आज्ञापक है और "परामर्श" शब्द के अर्थान्वयन के संबंध में कोई विवाद नहीं है क्योंकि यह न्यायालय अपने विभिन्न निर्णयों में इस शब्द को परिभाषित कर चुका है। विनिश्चित किए जाने हेतु जटिल और अर्थपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या "परामर्श के पश्चात्" पद का निर्वचन इस अर्थ के साथ किया जा सकता है कि कार्यपालिका न्यायपालिका के प्रधान के रूप में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा परामर्श की प्रक्रिया में दी गई सलाह से आबद्ध है।

396. श्री एफ० एस० नरीमन ने हमारे समक्ष संविधान के उन अनुच्छेदों का, जिनमें विभिन्न (अचयनित) सांविधानिक पदों के लिए राष्ट्रपतीय नियुक्तियों की बाबत उपबंध है, उद्धृत किया है। राष्ट्रपति उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों को अपने हस्ताक्षर और मुद्रा सहित अधिपत्र द्वारा [अनुच्छेद 124 (2) और 217 (1)], नियंत्रक और महालेखा परीक्षक (अनुच्छेद 148), किसी राज्य

का राज्यपाल (अनुच्छेद 155) तथा अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के राष्ट्रीय आयोग के अध्यक्ष (विशेष अधिकारी) अनुच्छेद 338 (3) नियुक्त करता है।

397. राष्ट्रपति अपने राष्ट्रपतीय आदेश द्वारा वित्त आयोग के अध्यक्ष और आयोग के अन्य सदस्य [अनुच्छेद 180 (1)], संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष और सदस्य [अनुच्छेद 316 (1)] मुख्य चुनाव आयुक्त [अनुच्छेद 324 (2)], राज भाषा आयोग के अध्यक्ष [अनुच्छेद 344 (1)] और भाषाई अल्पसंख्यक वर्गों के लिए विशेष अधिकारी [350 (ख)] को नियुक्त करता है।

398. उपर्युक्त उल्लिखित राष्ट्रीय नियुक्तियों के संपूर्ण क्रम (श्रेणी) में मात्र न्यायिक अधिकारियों के मामले में—जैसे जिला न्यायाधीश, उच्च न्यायालय के न्यायाधीश और उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश—नियुक्तियां सुसंगत उपबंधों में नामनिर्दिष्ट सांविधानिक कृत्यकारियों से परामर्श के पश्चात् ही की जाती हैं। श्री नरीमन के अनुसार इसका स्पष्ट प्रयोजन यह है कि "उन्हें बेहतर मालूमात" होती है। श्री नरीमन ने यह भी दलील दी है कि "परामर्श के पश्चात्" शब्दों का निर्वचन सही प्रकृति और ऐसे परामर्श के उद्देश्य के साथ ही किया जाना चाहिए। **शमशेर सिंह और अन्य बनाम पंजाब राज्य**[1] **और भारत संघ** बनाम **एस० सी० एच० सेठ और अन्य**[2] वाले मामलों का अवलम्ब लेते हुए श्री नरीमन ने यह दलील दी है कि **एस० पी० गुप्त**[3] वाले मामले में इस न्यायालय द्वारा "परामर्श के पश्चात्" पद का किया गया निर्वचन सही नहीं है। हमें श्री नरीमन की दलीलों में पर्याप्त बल प्रतीत होता है।

399. जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, सांविधानिक पदों के संबंध में—सिवाय न्यायिक पदों के—किसी परामर्श का उपबंध नहीं है। तथापि उच्चतर सांविधानिक कृत्यकारियों के पदों के लिए कार्यपालिका द्वारा कोई नियुक्ति जैसे नियंत्रक और महालेखा-परीक्षक, मुख्य चुनाव आयुक्त और अन्य, संबंधित व्यक्ति की उपयुक्तता और पात्रता को जांचने के लिए परामर्श संबंधी प्रक्रिया को अपनाए बिना नहीं की जा सकती। संविधान के अधीन न्यायिक पदों के संबंध में परामर्श के लिए विनिर्दिष्ट उपबंधों से यह स्पष्टतया उपदर्शित होता है कि उपर्युक्त परामर्श सामान्य रूप में समझे जाने वाले परामर्श की अपेक्षा प्रकृति और अर्थान्वयन में भिन्न है। सरकार के तीनों खण्डों की शक्तियों और कृत्यों को संविधान के अधीन सुस्पष्ट रूप से परिभाषित और सीमांकित किया गया है। न्यायपालिका की स्वतंत्रता संविधान की आधारभूत विशिष्टता है। न्यायपालिका पृथक् है और न्यायपालिका के दिन प्रतिदिन के कार्यों से कार्यपालिका का कोई संबंध नहीं है। न्यायिक पदों की नियुक्ति के लिए उन्हीं व्यक्तियों का चयन किया जाता है जो न्यायिक क्षेत्र के अन्तर्गत कृत्यकारी होते हैं और उच्चतर न्यायालयों के न्यायाधीशों को जानते हैं। कार्यपालिका को उच्चतर न्यायिक पदों की नियुक्ति के लिए उनके विधिक विधग्ता (विद्वतता) और उपयुक्तता के बारे में कोई जानकारी नहीं हो सकती। परामर्श की प्रक्रिया में मात्र न्यायपालिका ही

---

1 [1975] 1 उम० नि० प० 357=[1975] 1 एस० सी० आर० 814

2 [1978] 1 एस० सी० आर० 423.

3 [1982] 4 उम० नि० प० 1=[1982] 2 एस० सी० आर० 365.

विशेषज्ञ होती है और वही नियुक्ति के लिए सही व्यक्ति का चुनाव करती है। इसलिए "परामर्श" के मामले में (कार्यपालिका) अविशेषज्ञ है और (न्यायपालिका) एक विशेषज्ञ है। यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं है कि विशेषज्ञ की सलाह बाध्यताकारी प्रभाव रखती है। जब न्यायपालिका से परामर्श करने का सही प्रयोजन यह है कि न केवल ऐसे व्यक्तियों को, जो न्यायाधीशों के पद के लिए अर्हित हैं, नियुक्ति के लिए समर्थ बनाया जाए बल्कि इसका प्रयोजन यह भी है कि ऐसे व्यक्तियों को समर्थ बनाया जाए जो नियुक्त किए जाने हेतु अत्यधिक उपयुक्त हैं, तब यदि नियुक्ति प्राधिकारी को न्यायपालिका की सलाह को अनदेखा करते हुए "स्वयं अपना अंतिम" विनिश्चय करने के लिए स्वतंत्र कर दिया जाता है तो प्रयोजन ही विफल हो जाएगा।

400. **आर० पुष्पम और एक अन्य** बनाम **मद्रास राज्य**[1] वाले मामले में न्यायमूर्ति सुब्बा राव ने (जो बाद में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति हो गए थे) इस प्रकार मत व्यक्त किया था—

> "एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से परामर्श की विषय-वस्तु का विशदीकरण करने के लिए परमर्श करता है। कोई परामर्श किसी अजानकार व्यक्ति और किसी विशेषज्ञ या दो विशेषज्ञों के बीच हो सकता है। एक रोगी एक चिकित्सक से परामर्श करता है; एक मुवक्किल अपने वकील से परामर्श करता है; दो वकील या दो चिकित्सक आपस में एक दूसरे से परामर्श कर सकते हैं। किसी भी स्थिति में अंतिम विनिश्चय परामर्श लेने वाले का होता है किन्तु वह सामान्यतया समुचित कारणों के सिवाय परामर्शदाता की सलाह को अनदेखा नहीं करेगा।"

401. **शमशेर सिंह वाले मामले**[2] में इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित करते हुए कि "सभी व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए राष्ट्रपति से, यथास्थिति, मंत्री या मंत्री परिषद् (कौंसिल आफ मिनिस्टर्स) अभिप्रेत है" विनिर्दिष्ट रूप से न्यायपालिका से परामर्श करने के संबंध में सांविधानिक उपबंधों की अवेक्षा की थी और यह निष्कर्ष निकाला था कि भारत सरकार भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा दिए गए परामर्श से आबद्ध थी। इस संबंध में न्यायमूर्ति वी० आर० कृष्ण अय्यर ने इस प्रकार मत व्यक्त किया था—

> "संविधान की स्कीम के प्रकाश में हमने पहले ही यह निर्देश कर दिया है कि यह बात संदेहपूर्ण है कि क्या राष्ट्रपति के व्यक्तिगत समाधान की बाबत ऐसा निर्वचन सही है। हमारा मत है कि सभी व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए राष्ट्रपति से, यथास्थिति, मंत्री या मंत्री परिषद् (कौंसिल आफ मिनिस्टर्स) अभिप्रेत है और जब उसके मंत्रियों का ऐसा मत, समाधान या विनिश्चय होता है तब सांविधानिक रूप से वह उसका (राष्ट्रपति का) मत, समाधान या विनिश्चय होता है। न्यायपालिका की स्वतंत्रता जो हमारे संविधान का आधारभूत सिद्धांत है और जिसका विचलन किए जाने को न्यायसंगत ठहराने के लिए अवलंब लिया गया है, सुसंगत अनुच्छेद द्वारा संरक्षित है जिसके द्वारा भारत के मुख्य न्यायाधिपति से परामर्श

---

[1] ए० आई० आर० 1953 मद्रास 392.

[2] [1975] 1 उम० नि० प० 357=[1975] 1 एस० सी० आर० 814.

1993(10) eILR(PAT) SC 1

बाध्यकर बनाया गया है। सभी संभाव्य मामलों में भारत सरकार द्वारा भारतीय न्यायपालिका के उच्चतम पदाधिकारी का परामर्श स्वीकार किया जाएगा और स्वीकार किया जाना चाहिए और न्यायालय को इस बात की परीक्षा करने का अवसर प्राप्त होगा कि यदि मंत्री भारत के मुख्य न्यायाधिपति द्वारा दिए गए परामर्श के अनुसार कार्य नहीं करते हैं तो क्या मंत्री के अभिमत में कोई अन्य असंगत परिस्थिति समाविष्ट हो गई है। व्यवहार में ऐसे नाजुक विषय के संबंध में अन्तिम राय भारत के मुख्य न्यायाधिपति की होनी चाहिए और उनके परामर्श को न मानने के संबंध में मामूली तौर पर यह माना जाएगा कि कोई अनुचित बात विचार में लेकर कार्य किया गया है जिससे आदेश दूषित हो जाएगा। इस दृष्टिकोण से यह बात सारहीन है कि क्या राष्ट्रपति या प्रधान मंत्री या न्यायमंत्री ने औपचारिक रूप से विवाद्यक का विनिश्चय किया है।"

402. न्यायमूर्ति कृष्ण अय्यर के ऊपर उद्धृत मतों की इस न्यायालय द्वारा **संकल चंद हिम्मत लाल सेठ**[1] के मामले में पुनः पुष्टि की गई थी जिसमें न्यायमूर्ति चन्द्रचूड़ (जैसे कि न्यायमूर्ति उस समय थे) ने इस प्रकार मत व्यक्त किया—

"किन्तु शमशेर सिंह के मामले में ([1975] 1 उम० नि० प० 357=1975 [1] एस० सी० आर० 814) में न्यायाधिपति भगवती और कृष्णा अय्यर ने जो कुछ कहा था उसे दोहराना आवश्यक है कि सभी बोधगम्य मामलों में भारत के मुख्य न्यायाधिपति से परामर्श भारत सरकार को स्वीकार कर लेना चाहिए और यह कि न्यायालय को यह जांच करने का अवसर मिल जाएगा कि क्या कार्यपालिका के अधिमत में कोई बाह्य परिस्थितियां प्रवेश कर गई हैं यदि वह भारत के मुख्य न्यायाधिपति द्वारा दी गई सलाह से विचलन करता है। व्यवहारतः ऐसे नाजुक विषय पर अंतिम बात भारत के मुख्य न्यायाधिपति की ही होनी चाहिए। साधारणतः उसकी सलाह को नामंजूर कर दिए जाने के बारे में यह समझा जाता है कि ऐसा कुटिल बातों के आधार पर किया गया है और उससे आदेश प्रदूषित होता है। यह आशा की जाती है कि इन शब्दों की अनसुनी नहीं की जाएगी और चूंकि अब स्थिति सामान्य हो गई है इसलिए कार्यपालिका और न्यायपालिका में यदि कोई मत-भेद है तो उन्हें पारस्परिक विचार-विमर्श से हल किया जाएगा और हर एक पक्षकार दूसरे पक्षकार के मतों पर आदर सहित विचार करेगा।"

403. इसलिए, इस न्यायालय ने प्रामाणिक रूप से यह अधिकथित किया है कि संविधान के अधीन परामर्श की प्रक्रिया में अंतिम बात भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की ही रहनी चाहिए।

404. हम श्री नारीमन से इस बात पर सहमत हैं कि दी गई परामर्श सलाह जिसके फलस्वरूप और उस व्यक्ति की अंतिम नियुक्ति जिसके बारे में परामर्श दिया गया है, के बीच संबंध असमाध्येय है और उससे संविधान के अधीन न्यायाधीशों की नियुक्ति की संपूर्ण प्रक्रिया एकीकृत बन गई है। इसका आवश्यक परिणाम यह है कि कार्यपालिका ऐसी नियुक्ति

[1] [1978] 3 उम० नि० प० 1129=[1978] 1 एस० सी० आर० 423.

करने के लिए स्वतंत्र नहीं है जिसकी न्यायपालिका द्वारा सिफारिश नहीं की गई है। श्री नारीमन ने हमारा ध्यान **कॉलियन बनाम ह्वीलर**[1] (टेनेन्सी का सर्वोच्च न्यायालय) में निर्णय की ओर आकर्षित किया है जिसमें "·········से परामर्श पर और सलाह लेने पर" शब्दों को "सहमति" के समान माना गया था। उक्त मामले में एक विवाह-पश्चात् का समझौता उक्त न्यायालय के समक्ष निर्वचन की विषयवस्तु था। उक्त निर्णय के प्रवर्तनशील भाग को उद्धृत करना लाभदायक होगा—

> "भाषा यह है कि न्यासी अपने अकेले और पृथक उपयोग के लिए व्ययन के आत्यंतिक अधिकार के साथ विधिक हक धारण कर सकेगा जैसा वह "न्यासी से परामर्श पर या सलाह लेने पर" विकल्प चुने। हमारी यह राय है कि व्ययन की इस शक्ति का प्रयोग तब तक नहीं किया जा सकता जब तक कि यह प्रतीत न हो कि उक्त हस्तांतरण पत्र न्यासी के परामर्श और सलाह पर किया गया था। हमारी राय में ये शब्द "न्यासी की सहमति" के बराबर है और इसकी सहमति को उक्त लिखत पर उसके हस्ताक्षर द्वारा अनुप्रमाणित किया जाना चाहिए। इन न्यासों का सृजन उन विवाहित महिलाओं की सुरक्षा के लिए किया गया था जो अपने पतियों के प्रभुत्व और लापरवाही के विरुद्ध अपनी सुरक्षा करने में असमर्थ हैं। न्यास के शब्दों का उसी अर्थ में कठोर रूप में अर्थान्वियन किया जाएगा और उनको वही अर्थ दिया जाएगा जो उस प्रयोजन को पूरा करता हो जिसके लिए उसका सृजन किया गया था। चांसलर और कोर्ट आफ चांसरी अपील्स द्वारा इस लिखत को दिए गए अर्थान्वियन से इसकी संपूर्ण क्षमता नष्ट हो जाती है और यह निरर्थक हो जाता है।"

405. संविधान निर्माताओं ने उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले में कार्यपालिका की शक्ति पर एक सीमा अधिरोपित की थी। वरिष्ठ न्यायपालिका से पूर्व 'परामर्श' की अपेक्षा संविधान के सारभूत तत्व के रूप में एक "स्वतंत्र न्यायपालिका" रखने का ही एक तर्कसंगत परिणाम है और यदि कार्यपालिका को परामर्श की प्रक्रिया में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा दी गई सलाह की उपेक्षा करने के लिए छोड़ दिया जाता है तो न्यायपालिका के साथ परामर्श करने का प्रयोजन और उद्देश्य असफल हो जाएगा। इसलिए हमारे दिमाग में इस बारे में कोई सन्देह नहीं है कि कार्यपालिका संविधान के अनुच्छेद 124(2) और 217(1) के अधीन परामर्श की प्रक्रिया में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सलाह/सिफारिश द्वारा आबद्ध है।

406. अगले पहलू पर विचार करने से पहले हम यह जोड़ना चाहेंगे कि विवाद्यक सं० (i) से (v) पर उपरोक्त विचार-विमर्श और उसके परिणामस्वरूप निकाले गए निष्कर्ष न्यायमूर्ति वर्मा द्वारा अपने निर्णय में इन विवाद्यकों और उनसे संबंधित अन्य विवाद्यकों पर दिए गए निष्कर्षों के पूरक हैं।

भारत के मुख्य न्यायमूर्ति—न्यायालय का प्रतिनिधित्व करते हैं।

407. यह अभिनिर्धारित कर दिए जाने के पश्चात् कि वरिष्ठ न्यायालयों में न्याया-

---
[1] 75 एस० डब्ल्यू० 1089.

1993(10) eILR(PAT) SC 1

धीशों की नियुक्ति के विषय में प्रमुखता न्यायपालिका में निहित करती है, निर्णायक प्रश्न जो विचार हेतु उद्भूत हुआ है इस बारे में है कि संविधान के अधीन भारत के मुख्य न्यायमूर्ति "नामोदिष्ट व्यक्ति" के रूप में कार्य करते हैं या न्यायालय के नेता के रूप में न्यायपालिका के प्रवक्ता के रूप में।

408. सांविधानिक-स्कीम किसी भी व्यष्टि को प्रमुखता नहीं देती। अनुच्छेद 124 (2) भारत के मुख्य न्यायमूर्ति, उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों, और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों से परामर्श के लिए उपबंध करता है। इसी प्रकार अनुच्छेद 217(1) भारत के मुख्य न्यायमूर्ति और उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति के बारे में बात करता है। संविधान निर्माताओं द्वारा परामर्शों की बहुलता के बारे में स्पष्टतः संकेत दिया है। प्रथम वाचन पर ही हर व्यक्ति की यह उपधारणा बनेगी मानो उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों को अनुच्छेद 217(1) के अधीन परामर्श की प्रक्रिया में सम्मिलित नहीं किया गया है किन्तु सांविधानिक स्कीम की गहन समीक्षा पर प्रत्येक व्यक्ति यह पाएगा कि संविधान निर्माताओं का ऐसा आशय नहीं था। संविधान के अनुच्छेद 217(1) के अधीन "परामर्शी क्षेत्र (जोन)" से उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के अवर न्यायाधीशों को अपवर्जित करने के लिए कोई भी न्यायोचित नहीं है।

409. श्री नारीमन के अनुसार "भारत के मुख्य न्यायमूर्ति" और "उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायमूर्ति" अभिव्यक्ति का न्यायाधीशों की सामूहिकता के भाव में अर्थान्वियन करना कोई अस्वाभाविक निर्वचन नहीं होगा। उच्चतम न्यायालय का भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा प्रतिनिधित्व किया जाता है और सभी उच्च न्यायालयों (संबद्ध राज्यों के) का उक्त उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा प्रतिनिधित्व किया जाता है। अनुच्छेद 124(2) और 217(1) के पढ़ने मात्र से यह स्पष्ट होता है कि वरिष्ठ न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले में संविधान निर्माताओं का आशय किसी व्यष्टि के हाथों, चाहे वह सांविधानिक पदानुक्रम में कितना भी ऊंचा क्यों न हो, अंतिम बात छोड़ने का नहीं था। परामर्शियों की सामूहिक प्रज्ञा ऐसी नियुक्तियों के लिए अनिवार्य है। डा० बी० आर० अम्बेडकर ने 24 मई, 1949 को संविधान सभा में अपने भाषण में उन प्रारूपित अनुच्छेदों के प्रविषय को स्पष्ट करते हुए जो उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति के बारे में है, इस प्रकार कथन किया था—

> "मुख्य न्यायमूर्ति की सहमति के प्रश्न के संबंध में, मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि वे व्यक्ति जो इस प्रतिपादना की वकालत कर रहे हैं, विवक्षित रूप से मुख्य न्यायमूर्ति की निष्पक्षता और उसके निर्णय की सुदृढ़ता दोनों का ही अवलंब लेते प्रतीत होते हैं मुझे व्यक्तिगत रूप से इस बारे में कोई सन्देह महसूस नहीं हो रहा है कि मुख्य न्यायमूर्ति एक प्रतिष्ठित व्यक्ति होता है। किन्तु फिर भी मुख्य न्यायमूर्ति एक आदमी जिसके अन्तर्गत वे सभी भावनाएं और कमियां तथा सभी विद्वेष होते हैं जो एक साधारण आदमी के रूप में हम में होते हैं; और मैं सोचता हूं कि मुख्य न्यायमूर्ति को व्यवहारिक रूप से न्यायाधीशों की नियुक्ति पर वीटो लगाने के लिए अनुज्ञात करना उस प्राधिकार को मुख्य न्यायमूर्ति को अन्तरित करना है जिसे

हम राष्ट्रपति या तत्कालिक सरकार में निहित करने के लिए तैयार नहीं हैं। इसलिए मैं यह महसूस करता हूं कि यह भी एक खतरनाक स्थिति है।"

410. डा० अम्बेडकर को वरिष्ठ न्यायालयों में न्यायाधीशों की नियुक्ति से संबंधित सांविधानिक उपबंधों के निर्बाध प्रवर्तन में कोई कठिनाई नहीं दिखाई दी। उच्च सांविधानिक कृत्यकारियों को इस काम को सौंपने के पश्चात् संविधान निर्माताओं ने यह आश्वासित महसूस किया कि ऐसी नियुक्तियां हमेशा ही सर्वसम्मति से की जाएंगी। पिछले चार दशक से अधिक की अवधि के दौरान संविधान का ऐसा कृत्य रहा है जिससे ऐसी नियुक्तियों के मामले में प्रमुखता के प्रश्न पर विचार करने की आवश्यकता हुई है। जब एक बार हमने यह अभिनिर्धारित कर दिया कि यह प्रमुखता न्यायपालिका को ही प्राप्त है तब यह संयुक्त रूप से न्यायपालिका ही है जिसकी बात को प्रमुखता दी गई है और किसी व्यष्टि की बात को नहीं चाहे वह भले ही भारत के मुख्य न्यायमूर्ति हों। यदि हम "भारत के मुख्य न्यायमूर्ति" अभिव्यक्ति का "नामोदिष्ट व्यक्ति" के रूप में निर्वचन करें तो यह "व्यवहारिक रूप में मुख्य न्यायमूर्ति को न्यायाधीशों की नियुक्ति पर वीटो लगाने के लिए अनुज्ञात करने" की कोटि में आएगा और डा० अम्बेडकर के शब्दों में, संविधान निर्माताओं का ऐसा कभी आशय नहीं रहा था। इसलिए हमारी यह राय है कि अनुच्छेद 124(2) और 217(1) में "भारत के मुख्य न्यायमूर्ति" और "उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति" अभिव्यक्ति का अभिप्राय अपने-अपने न्यायालयों के प्रतिनिधियों के रूप में उक्त न्यायिक कृत्यकारियों से है।

411. तब भारत के मुख्य न्यायमूर्ति और उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायमूर्तियों द्वारा अपने-अपने न्यायालयों में नियुक्तियों के लिए सिफारिशें करते समय किन अवर न्यायाधीशों का परामर्श लिया जाना चाहिए ? सभी अवर न्यायाधीशों से परामर्श करना न तो संभव है और न संविधान के अधीन अपेक्षित है। हम विधितः यह कल्पना कर सकते हैं कि एक ऐसी प्रक्रिया रही है जिसमें भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा वरिष्ठ न्यायालयों में न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले में अपने ज्येष्ठ सहयोगियों से हमेशा ही परामर्श लिया जाता है। विधि आयोग ने (न्यायमूर्ति एच० आर० खन्ना की अध्यक्षता में) 10 अगस्त, 1979 को पेश की गई अठारहवीं रिपोर्ट में पैरा 6·5 और 7·6 में इस प्रकार सिफारिश की थी—

> "उच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश की नियुक्ति के लिए सिफारिश करते समय, हमारी राय में, मुख्य न्यायमूर्ति को अपने-अपने दो ज्येष्ठतम सहयोगियों से परामर्श करना चाहिए। नियुक्ति के लिए सिफारिश के पत्र में मुख्य न्यायमूर्ति को यह कथन करना चाहिए कि उसने अपने ज्येष्ठतम दो सहयोगियों से परामर्श किया है और उस व्यक्ति के संबंध में जिसकी सिफारिश की जा रही है, उन सहयोगियों में से प्रत्येक के विचार का भी संकेत देना चाहिए..................।
>
> जैसा कि उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले में होता है वैसे ही उच्चतम न्यायालय के किसी न्यायाधीश की नियुक्ति के मामले में भी हम यह महसूस करते हैं कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को कोई सिफारिश करते समय अपने ज्येष्ठतम सहयोगियों से परामर्श करना चाहिए। इस प्रयोजन के लिए परामर्श किए जाने हेतु सहयोगियों की संख्या 3 होनी चाहिए। भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को

1993(10) eILR(PAT) SC 1

अपनी सिफारिशों की संसूचना में यह विनिर्दिष्ट करना चाहिए कि उसने अपने 3 ज्येष्ठतम सहयोगियों से परामर्श किया है और अपनी सिफारिश में इस संबंध में उनमें से प्रत्येक के विचार को वर्णित करना चाहिए ।"

412. विधि आयोग ने पैरा 6·13 में आगे इस प्रकार सिफारिश की थी—

"इस प्रक्रम पर, हम वही बात दोहराना चाहेंगे जो हमने किसी पृथा के विकास के बारे में पूर्व में वर्णित की है कि मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा की गई सिफारिश जिससे उसके ज्येष्ठतम सहयोगी सहमत हैं, सामान्यतः स्वीकार की जानी चाहिए ।"

413. न्यायपालिका के संबंध में संविधान के उपबंधों पर राज्य सभा में विधि आयोग की चौदहवीं रिपोर्ट पर चर्चा के दौरान विचार-विमर्श किया गया था । हम पहले ही सदस्यों द्वारा दिए गए भाषणों में से कुछ को उद्धृत कर चुके हैं । श्री एम० पी० भार्गव ने 23 नवम्बर, 1959 को बोलते हुए इस प्रकार कथन किया था—

"एक ऐसी परिपाटी/पृथा विकसित की जानी चाहिए कि मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा बार में से नामों की सिफारिश अपने उच्च न्यायालय में साथी न्यायाधीशों से व्यष्टिक रूप से या सामूहिक रूप से परामर्श के पश्चात् की जाए ।"

414. यह दर्शित करने के लिए प्रत्यक्ष संकेत हैं कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति वरिष्ठ न्यायालयों में न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले में अपने ज्येष्ठतम सहयोगियों से परामर्श करते रहे हैं । इसलिए हमारी यह राय है कि वरिष्ठ न्यालालयों में नियुक्ति के लिए परामर्श की प्रक्रिया में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय अपने दो ज्येष्ठ सहगोगियों से परामर्श करते रहे हैं । इसलिए हमारी यह राय है कि वरिष्ठ न्यायालयों में नियुक्ति के लिए परामर्श की प्रक्रिया में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय अपने दो ज्येष्ठतम सहयोगियों के साथ परामर्श से कायम की जाए। इसके अतिरिक्त, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को उस ज्येष्ठतम न्यायाधीश से परामर्श करना चाहिए जो उसी राज्य से आया है (वह राज्य जिससे उक्त अभ्यर्थी पर विचार किया जा रहा है) । परामर्श की इस प्रक्रिया का पालन किसी न्यायाधीश या मुख्य न्यायमूर्ति के एक राज्य से दूसरे राज्य में स्थानांतरण करते समय भी किया जाएगा ।

415. इसी प्रकार उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति की राय भी उच्च न्यायालय के दो ज्येष्ठतम न्यायाधीशों से परामर्श के पश्चात् कायम की जानी चाहिए ।

416. भारत के मुख्य न्यायमूर्ति और उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा अन्य न्यायाधीशों की राय का अभिनिश्चयन लिखित में होना चाहिए और उनकी राय अंतिम सिफारिश का एक अंग होनी चाहिए ।

भारत के मुख्य न्यायमूर्ति—योग्यता/गुणागुण के आधार पर चयन द्वारा नियुक्ति

417. भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के पद को भरने के लिए दो अवसरों को छोड़ कर उच्चतम न्यायालय के ज्येष्ठतम अवर न्यायाधीश को नियुक्त किया गया है । तथापि,

1993(10) eILR(PAT) SC 1

उक्त पद पर नियुक्ति के लिए कोई सुविज्ञात तरीका नहीं है। किसी प्रथा द्वारा न तो कोई वस्तुनिष्ठ मापदण्ड अधिकथित किया गया है और न स्थापित किया गया है। इस देश के उच्चतम न्यायिक पद पर नियुक्ति अधिकांशत: कार्यपालिका के विवेक पर होती है। हमें यह बताया गया है कि उक्त प्रक्रिया में, एकमात्र सुसंगति यह पद्धति है कि भारत के सेवानिवृत्त होने वाले मुख्य न्यायमूर्ति अपने पद उत्तरवर्ती को नामित करते हुए कार्यपालिका को सिफारिश करते हैं। ऐसे भी उदाहरण हैं जिनमें भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सिफारिश उच्चतम न्यायालय के ज्येष्ठतम अवर न्यायाधीश के लिए नहीं थी। इस तथ्य से कि भारत के सेवानिवृत्त होने वाले मुख्य न्यायमूर्ति की सिफारिश एक स्थायी प्रक्रिया बन गई है, यह दर्शित होता है कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के रूप में ज्येष्ठतम अवर न्यायाधीश को नियुक्त करने की कोई विद्यमान परिपाटी नहीं है।

418. प्रश्न यह है कि अकेली ज्येष्ठता या योग्यता के आधार पर चयन नियुक्ति होनी चाहिए। ज्येष्ठता का नियम उत्साह के अभाव में इस प्रणाली को निष्क्रिय कर देता है। दूसरी ओर योग्यता चयन किए गए व्यक्ति के साथ न्याय करती है और इस प्रणाली को बल प्रदान करती है। किसी भी दशा में "अकेली ज्येष्ठता" के नियम का अनुसरण करने के लिए ज्येष्ठता की गणना करने के लिए कुछ वस्तुनिष्ठ आधार होने चाहिए। नियुक्ति का ढंग और ज्येष्ठता दोनों एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं। अक्सर एक ही उच्च न्यायालय में निम्नतर ज्येष्ठता के उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को उच्चतम न्यायालय में नियुक्त करने के लिए चयन किया जाता है। अनेक बार किसी उच्च न्यायालय के ऐसे न्यायाधीश की नियुक्ति उच्चतम न्यायालय में की जाती है जो अखिल भारत ज्येष्ठता में काफी नीचे की पंक्ति पर होता है। ऐसे भी अनेक उदाहरण हैं जिनमें उच्च न्यायालय के किसी कनिष्ठ न्यायाधीश को पहले ऊंचा उठा दिया जाता है और कभी बाद में उसी न्यायालय के पहले वाले न्यायाधीश से ज्येष्ठ न्यायाधीश को भी उच्चतम न्यायालय में नियुक्त कर दिया जाता है। जब उच्चतम न्यायालय में दो स्रोतों से न्यायाधीशों को नियुक्त किया जाता है और वे एक ही दिन शपथ ग्रहण करते हैं तब कोई व्यक्ति यह नहीं जानता कि उनकी पारस्परिक ज्येष्ठता कैसे तय की जाती है। एक पूर्ववर्ती अवसर पर बार में से नियुक्त व्यक्ति को ज्येष्ठ रखा गया था और बाद के एक अवसर पर इस प्रक्रिया को उलट दिया गया था। ये उदाहरण आलोचना करने की दृष्टि से नहीं दिए गए बल्कि भविष्य में वैवेकिक शक्ति के प्रयोग को ठीक करने की दृष्टि से उनका उल्लेख किया गया है। ऐसा हो सकता है कि उच्च न्यायालय के ऐसे न्यायाधीशों को जो ज्येष्ठता में निम्नतर पंक्ति पर होते हैं, चयन की प्रक्रिया में उनकी योग्यता के आधार पर अधिमान दिया जाता है। इस आधार पर भी. भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के पद पर नियुक्ति के लिए "अकेली ज्येष्ठता" के नियम को लागू करने में कोई न्यायोचित नहीं है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के पद के कर्तव्य और उत्तरदायित्व उच्चतम न्यायालय के एक न्यायाधीश के कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों से अधिक दुर्भर होते हैं। इस देश में न्यायपालिका को ठीक गति प्रदान करने का उत्तरदायित्व भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के कंधों पर होता है। उसे उच्च न्यायालयों और उच्चतम न्यायालय में न्यायाधीशों की नियुक्तियां करनी होती हैं। उसे उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायमूर्तियों का चयन करना होता है। वह उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायमूर्तियों और न्यायाधीशों के स्थानांतरण के लिए उत्तरदायी है। उच्चतम

न्यायालय के न्यायिक और प्रशासनिक कार्यों पर नियंत्रण करने के अलावा संतोषजनक न्याय प्रशासन का उत्तरदायित्व भी उसी पर होता है। न्यायपालिका के प्रमुख के रूप में वह उन सिद्धांतों और प्रक्रिया को अधिकथित करता है जिनका संपूर्ण देश में न्याय प्रशासन में पालन करना होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के उच्च और महत्वपूर्ण पद के साथ संलग्न विविध कर्तव्यों, कार्यों और उत्तरदायित्वों के साथ उक्त पद पर नियुक्ति वस्तुनिष्ठ मानदण्ड के आधार पर चयन द्वारा की जानी चाहिए न कि मात्र ज्येष्ठता के आधार पर। यदि पहल, मतिवाद और त्वरित कार्यवाही पर उचित बल दिया जाए तो ज्येष्ठता का मानदण्ड जो उसकी भर्ती के समय उक्त व्यक्ति के गुणों का ही अवलंब लेता है, बिना किसी हिचकिचाहट के एक तरफ रख दिया जाएगा।

419. महान पंडित एम० सी० शीतलवाड की अध्यक्षता में भारत के विधि आयोग ने 26 सितम्बर, 1958 को दी गई अपनी चौदहवीं रिपोर्ट में इस प्रकार सिफारिश की थी :—

"अब हम एक सुसंगत पहलू पर पहुंचेंगे जिस पर हमने बड़ी उत्सुकतापूर्वक विचार किया है। अभी तक यह प्रक्रिया रही है कि कोई रिक्ति होने पर मुख्य न्यायमूर्ति के रूप में ज्येष्ठतम अवर न्यायाधीश को ही प्रोन्नत किया जाता है। यह प्रकट होगा कि ऐसी प्रोन्नति एक प्रक्रिया का विषय बन गई है। हमने उन उच्च और महत्वपूर्ण कर्तव्यों का उल्लेख किया है जिनको निबाहने के लिए भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से कहा जाता है। यह स्पष्ट है कि इस प्रकृति के किसी पद पर उत्तराधिकार को मात्र ज्येष्ठता द्वारा विनियमित नहीं किया जा सकता। भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के कर्तव्यों का पालन करने के लिए वास्तव में केवल ऐसे न्यायाधीश की ही आवश्यकता नहीं होती जो योग्य होता है और उसके पास अनुभव होता है बल्कि ऐसे सक्षम प्रशासक की भी आवश्यकता होती है जो ऐसे पेचीदे मामलों को सुलझाने की सामर्थ्य रखता हो जो समय-समय पर उद्भूत हो सकते हैं और एक ऐसे बुद्धिमान न्यायाधीश और व्यक्तित्व की और एक दृढ़ स्वतंत्रता वाले व्यक्ति और उन्नत व्यक्तित्व वाले व्यक्ति की आवश्यकता होती है जो ऐसे अवसरों पर न्यायपालिका की स्वतंत्रता की एक पहरेदार के रूप में रक्षा कर सके। यह स्वीकार्य तथ्य है कि किसी सफल मुख्य न्यायमूर्ति के लिए आवश्यक अर्हताएं उन अर्हताओं से बिल्कुल भिन्न होती हैं जो एक पांडित्यपूर्ण योग्य न्यायाधीश के लिए होनी चाहिए। इसलिए वे विचारणाएं जो इस पद पर चयन के लिए लागू होनी चाहिए, उन विचारणाओं से आधारभूत रूप से भिन्न होनी चाहिए जो उच्चतम न्यायालय के अन्य न्यायाधीशों की नियुक्तियों को शासित करती हैं। इसलिए हमारी राय में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के पद पर किसी रिक्ति को भरने के लिए उन विचारणाओं पर सर्वोपरि ध्यान देना चाहिए जिनका हमने ऊपर वर्णन किया है। ऐसा हो सकता है कि कोई ज्येष्ठतम अवर न्यायाधीश इन अपेक्षाओं को पूरा करता हो। यदि ऐसा है तो भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के पद को भरने के लिए उसकी नियुक्ति किए जाने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। किन्तु अक्सर ऐसा नहीं होता। इसलिए, एक स्वस्थ परम्परा कायम करना आवश्यक है कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के पद पर नियुक्ति विशेष विचारणाओं पर की जानी चाहिए और

वह पद सामान्य प्रक्रिया में ज्येष्ठतम अवर न्यायाधीश को नहीं देना चाहिए। यदि ऐसी कोई प्रथा कायम कर दी जाती है और यदि किसी ज्येष्ठतम अवर न्यायाधीश की भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के पद पर नियुक्ति नहीं की जाती है तो इससे ज्येष्ठतम अवर न्यायाधीश पर कोई फर्क नहीं पड़ेगा। हम यहां पर यह सुझाव दे रहे हैं कि ऐसी कोई परिपाटी उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति की नियुक्ति के मामले में भी स्थापित की जानी चाहिए। जब ऐसी कोई परिपाटी स्थापित कर दी जाती है तब उस नियुक्ति के लिए जिम्मेदार व्यक्तियों का यह कर्तव्य होगा कि वे उस उच्च पद पर किसी उपयुक्त व्यक्ति का चयन करें, यदि आवश्यक हो तो न्यायालय से बाह्य व्यक्तियों से भी चयन करें। उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायमूर्ति, उच्च न्यायालयों के सर्वोत्तम योग्यता वाले अवर न्यायाधीश और बार के प्रख्यात ज्येष्ठ सदस्य इसकी भर्ती के लिए आधार होने चाहिए।"

420. **सन्तराम शर्मा बनाम राजस्थान राज्य**[1] में इस न्यायालय की एक संविधान न्यायपीठ ने पृ० 122 और 123 पर इस प्रकार मत व्यक्त किया :—

"यह स्पष्ट है कि एकमात्र तरीका जिसमें आत्यंतिक उद्देश्य को सुनिश्चित किया जा सकता है, यह है कि सभी प्रोन्नतियां पूर्णतः ज्येष्ठता के आधार पर की जानी चाहिए। इसका अभिप्राय यह है कि यदि कोई पद रिक्त होता है तो उसे ऐसे व्यक्ति द्वारा भरा जाना चाहिए जिसने उससे ठीक निचले पद पर सबसे अधिक समय तक सेवा की है। किन्तु इस ज्येष्ठता की प्रणाली में कठिनाई यह है कि यह इतनी वस्तुपरक है कि यह निजी योग्यता को गणना में लेने में असफल रहती है। एक प्रणाली के रूप में यह योग्यतम व्यक्तियों के सिवाय प्रत्येक अधिकारी के लिए निष्पक्ष होती है; कोई भी अधिकारी न कुछ खोता है न कुछ पाता है परन्तु वह इतना असक्षम नहीं होना चाहिए कि उसके विरुद्ध कोई अनुशासनिक कार्यवाही करने की आवश्यकता पड़े। किन्तु यद्यपि यह प्रणाली संबद्ध अधिकारियों के लिए ऋजु प्रणाली है फिर भी जनता के ऊपर एक बहुत भारी भार है और लोक कारबार संभालने में दक्ष अधिकारियों पर एक बड़ा वजन है। इसलिए समस्या इस बारे में है कि सभी अधिकारियों की प्रोन्नति की युक्तियुक्त संभावनाओं को कैसे सुनिश्चित किया जाए और उसी समय उक्त पदों को योग्यतम व्यक्तियों द्वारा भर कर लोक हित की कैसे रक्षा की जाए? दूसरे शब्दों में प्रश्न इस बारे में है कि ज्येष्ठता और योग्यता के बीच किसी उचित प्रोन्नति-नीति द्वारा एक सही संतुलन कैसे बनाया जाए इस संबंध में लियोनार्ड डी० व्हाइट ने इस प्रकार कथन किया है :—

"............कर्मचारी अक्सर ज्येष्ठता के नियम को पसन्द करते हैं जिसके द्वारा सेवा में सबसे अधिक समय तक सेवा करने वाले पात्र व्यक्तियों को ही स्वतः प्रोन्नति प्रदान की जाती है। कुछ सीमाओं के भीतर ज्येष्ठता चयन के मापदण्डों में से एक मापदण्ड के रूप में विचार में लिए जाने की

---

[1] 1968 (1) एस० सी० आर० 111.

1993(10) eILR(PAT) SC 1

हकदार है। इससे प्रोन्नतियों में पक्षपात या शंका समाप्त हो जाती है और सफल कर्मचारी बनाने के लिए अनुभव निश्चित रूप से एक पहलू होता है। निम्नतम पंक्ति से अन्य अधीनस्थ स्थानों पर प्रोन्नतियों में ज्येष्ठता को सबसे अधिक वजन दिया जाता है। चूंकि प्रोन्नति द्वारा कर्मचारी सीढ़ी पर ऊपर चढ़ते जाते हैं इसलिए इसको अधिक से अधिक वजन दिया जाना आवश्यक है। जब ज्येष्ठता को हर स्तर पर एकमात्र निश्चायक पहलू मान लिया गया है तब यह एक खतरनाक मार्गदर्शक है। इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि किसी विशिष्ट श्रेणी में सबसे अधिक सेवा करने वाला कर्मचारी किसी उचित श्रेणी में प्रोन्नति के लिए सबसे उपयुक्त व्यक्ति होता है ; इसके विपरीत स्थिति सत्य हो सकती है।" (स्टडी आफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, चतुर्थ संस्करण की प्रस्तावना में पृष्ठ 380 और 383)

421. योग्यता के आधार पर चयन के ढंग के विरुद्ध एकमात्र आलोचना यह हो सकती है कि ऐसे वातावरण में जहां पर सही मूल्यांकन उपलब्ध नहीं है और विषयनिष्ठता मृत हो गई है वहां पर यह ढंग असफल रहता है। चार दशकों से अधिक समय तक अखिल भारतीय सेवाओं की बाबत प्रोन्नतियों-नियमों के संतोषजनक प्रवर्तन से यह आलोचना गलत साबित हुई है। हर दशा में यह आलोचना न्यायपालिका के संदर्भ में पूर्णतः असंगत है। इस देश में न्यायपालिका के दक्ष क्रियाकलाप के संबंध में उचित मान्यताओं के बारे में पर्याप्त समझ है।

422. **एस० पी० गुप्ता** के मामले को उलटते हुए हमने यह अभिनिर्धारित किया है कि वरिष्ठ न्यायालयों में न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले में प्रमुखता न्यायपालिका में निहित है। विधि की ऐसी वर्तमान स्थिति होने के कारण यह भारत के मुख्य न्यायमूर्ति और सर्वोच्च न्यायपालिका में उनके वरिष्ठ सहयोगी ही हैं जिन्हें कार्यपालिका के साथ परामर्श के पश्चात् भारत के अगले मुख्य न्यायमूर्ति का चयन करना होता है। उन्हें विषयनिष्ठता और मूल्यांकन के नियमों का मापदण्ड अधिकथित करना है। हम "केवल ज्येष्ठता" के नियम को सुरक्षित रूप से अलविदा कह सकते हैं और यह अभिनिर्धारित करते हैं कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति का चयन केवल योग्यता के आधार पर ही किया जाए।

अन्य विवाद्यक

423. उच्चतम न्यायालय में नियुक्ति के लिए मापदण्ड क्या होना चाहिए ? न्यायमूर्ति वर्मा ने इस प्रश्न का विवेचन किया है और हम उनसे पूर्णतः सहमत हैं। न्यायमूर्ति अहमदी ने मत व्यक्त किया है "बार की तरफ से कोई दलील नहीं दी गई है।" बहस के दौरान कोई भी विनिर्दिष्ट विवाद्यक विरचित नहीं किया गया था और इसलिए "इस निमित्त कोई रूपरेखा अधिकथित करना जोखिमयुक्त होगा" इस सावधानी के साथ न्यायमूर्ति अहमदी ने न्यायमूर्ति वर्मा द्वारा उल्लिखित "विधिसम्मत प्रत्याशा" से सहमति व्यक्त नहीं की है।

424. वरिष्ठ न्यायालयों में न्यायाधीशों की नियुक्ति के संबंध में विवाद्यक, उसके अधीन आनुषंगिक विवाद्यकों और उनसे उद्भूत सभी संबद्ध प्रश्न हमारे समक्ष विस्तार में खुले हुए हैं। हमें एक ऐसी संस्था जिसे न्यायपालिका कहा जाता है के कार्यकलाप के संबंध

में सांविधानिक उपबंधों का निर्वचन करने के लिए कहा गया है। हम इस कार्य को अधूरा नहीं छोड़ सकते। हमें संविधान निर्माताओं के आशयों का पता लगाना होगा और इस संस्था को निर्बाध रूप से कार्य करने के लिए समर्थ बनाने हेतु एक पूर्ण क्रियाकलाप से संबंधित स्कीम अधिकथित करनी होगी।

425. उच्चतम न्यायालय में किसी व्यक्ति की प्रोन्नति एक नियुक्ति है अथवा आमंत्रण, कोई सारभूत विषय नहीं है। विचार के लिए प्रश्न इस बारे में है कि 400 से अधिक न्यायाधीशों के समूह में से 26 व्यक्तियों का चयन कैसे किया जाए ? यह नियुक्ति/आमंत्रण की प्रक्रिया में एक महत्वपूर्ण कड़ी है और इसे अनिश्चित स्थिति में नहीं छोड़ा जा सकता। इस बारे में कोई सन्देह नहीं हो सकता कि उच्चतम न्यायालय में नियुक्ति योग्यता के आधार पर चयन द्वारा है और "केवल ज्येष्ठता" कभी भी आधार नहीं रही है और न हो सकती है। इसके अन्यथा भी संविधान के अधीन ऐसे उच्च पद पर नियुक्ति केवल ज्येष्ठता के मापदण्ड के आधार पर नहीं की जा सकती। निस्संदेह, चयन योग्यता के आधार पर करना होगा किन्तु उक्त प्रक्रिया में ज्येष्ठता की सीमित भूमिका को भी अनदेखा नहीं किया जा सकता। उच्च न्यायालय में या अखिल भारत पदानुक्रम में सेवा काल की लंबाई उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों को विचार के घेरे में लाने के लिए एकमात्र आधार है। ऐसे कई उदाहरण हैं जहां पर उच्च न्यायालय से एक कनिष्ठ न्यायाधीश को प्रोन्नत किया गया था और कुछ समय पश्चात् उस उच्च न्यायालय के ज्येष्ठ न्यायाधीश को उच्चतम न्यायालय में नियुक्त किया गया था। ऐसी किसी मनमानी प्रक्रिया के लिए क्या कोई तर्क है ? ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहां पर ज्येष्ठता में नीचे के न्यायाधीशों की उच्चतम न्यायालय में उसी उच्च न्यायालय के उनसे ज्येष्ठ न्यायाधीशों को विचार में लिए बिना नियुक्तियां की गई थीं। इसी पृष्ठभूमि में न्यायमूर्ति वर्मा ने यह मत व्यक्त किया है कि उसके स्वयं के उच्च न्यायालय में किसी न्यायाधीश की ज्येष्ठता और उसकी विधिसम्मत अपेक्षाओं और आकांक्षाओं को विचार में लेना होगा। यद्यपि कहने के लिए तो बहुत कुछ है किन्तु इस विषय पर हम और अधिक नहीं जाना चाहते। हम न्यायमूर्ति वर्मा से सहमत हैं और यह अभिनिर्धारित करते हैं कि उच्चतम न्यायालय में नियुक्तियां "योग्यता के आधार पर चयन" के आधार पर की जाएंगी किन्तु चयन की प्रक्रिया में उसी न्यायालय का ज्येष्ठ न्यायाधीश अपने कनिष्ठ न्यायाधीश के अधिमान में विचार किए जाने का हकदार है। हम यह पुनः दोहराते हैं कि भारत के उच्चतम न्यायालय में न्यायाधीशों के चयन में योग्यता ही हमेशा निश्चायक पहलू होगी।

426. जहां तक एक उच्च न्यायालय से दूसरे उच्च न्यायालय में किसी न्यायाधीश के अन्तरण के संबंध में संविधान के अनुच्छेद 222 के निर्वचन का संबंध है, हम न्या० वर्मा द्वारा दिए गए तर्कों और निष्कर्षों से पूर्णतः सहमत हैं। हम यह पुनः दोहराते हैं कि अनुच्छेद 222 के अधीन निहित शक्ति का केवल "लोक हित" में ही प्रयोग किया जा सकता है। यहां केवल भारत के मुख्य न्यायमूर्ति ही हैं जो किसी मामले में की परिस्थितियों की परीक्षा कर सकते हैं और इस बारे में किसी निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि क्या किसी एक न्यायालय से दूसरे न्यायालय में किसी न्यायाशीश का अन्तरण या पुनः अन्तरण करना लोक हित में है अथवा नहीं। जब अनुच्छेद 222 में "लोक हित" की संकल्पना को पढ़ा जाए तो इससे यह बाध्यकारी हो जाता है कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय को कार्यपालिका द्वारा स्वीकार

किया जाता है। हम न्या० वर्मा की इस बात से भी सहमत हैं कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सिफारिश पर लोक हित में किए गए किसी अन्तरण को न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती।

427. हम न्या० वर्मा द्वारा न्यायाधीशों की संख्या की बाबत प्रश्न पर प्रस्तावित निर्णय से पूर्णतः सहमत हैं। हम केवल यह जोड़ना चाहते हैं कि श्री एम० सी० शीतलवाड की अध्यक्षता में विधि आयोग ने 26 सितम्बर, 1958 को अग्रेषित अपनी चौदहवीं रिपोर्ट में अध्याय 6 में पैरा 42 में इस प्रकार सिफारिश की थी—

> "किसी राज्य के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या में वृद्धि करने के लिए किए गए किन्हीं प्रस्तावों को, यदि इससे भारत के मुख्य न्यायमूर्ति ने भी सहमति दे दी है, किसी विलंब या नखरेबाजी के बिना स्वीकार किया जाना चाहिए।"

428. इसलिए हम न्या० वर्मा से इस बात से भी सहमत हैं कि भले ही किसी राज्य के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा प्रशासनिक और से कोई प्रस्ताव किया गया हो जिसे भारत के मुख्य न्यायमूर्ति ने भी सहमति प्रदान कर दी है, न्यायालय के विचार योग्य न होने के अलावा भी कार्यपालिका उस प्रस्ताव को स्वीकार करने के लिए बाध्य है। उस स्थिति में न्यायालय से कोई न्याय निर्णय प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं है।

429. इस निर्णय को पूरा करने से पहले हमें श्री शांति भूषण द्वारा दी गई मुख्य दलील का उल्लेख करना होगा जिसका श्री राम जेठमलानी और श्री एस० पी० गुप्ता द्वारा समर्थन किया गया है। श्री शांति भूषण के अनुसार वरिष्ठ न्यायालयों में न्यायाधीशों की नियुक्ति एक ऐसा विषय है जो संघ या राज्य की कार्यपालिक शक्ति के अन्तर्गत नहीं आता। यह कार्यपालिका के क्षेत्र से बाहर का विषय है। उनके अनुसार न्यायाधीशों की नियुक्ति विधायी क्षमता के परे एक स्वतंत्र सांविधानिक प्रक्रिया है और इसीलिए वह संघ या राज्य की कार्यपालिक शक्ति का अंग नहीं हो सकती। संक्षेप में दलील यह है कि भारत के संविधान का अनुच्छेद 74 वरिष्ठ न्यायालयों में न्यायाधीशों की नियुक्ति के विषय में कतई लागू नहीं होता है और इसलिए राष्ट्रपति परामर्श की प्रक्रिया में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा दी गई राय द्वारा आबद्ध है। यह दलील आकर्षक तो है किन्तु जो राय हमने इस मामले में व्यक्त की है, उसकी दृष्टि में उसके बारे में अब और विचार करने की आवश्यकता नहीं है।

430. विभिन्न विवाद्यकों पर तर्कों और विवेचन के आधार पर हम इस प्रकार निष्कर्ष देते हैं और अभिनिर्धारित करते हैं—

> 1. भारत के संविधान के अनुच्छेद 124(2) और 217(1) कार्यपालिका और न्यायपालिका के सर्वोच्च कृत्यकारियों पर सांविधानिक उत्तरदायित्व को पूरा करने अर्थात् उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों में एक दूसरे से परामर्श करने के पश्चात् सामूहिक रूप से न्यायाधीशों की नियुक्ति करने के उत्तरदायित्व को पूरा करने का आदेश अधिरोपित करते हैं। परामर्श की प्रक्रिया में असहमति की दशा में न्यायपालिका के दृष्टिकोण को प्रमुखता देनी होगी।

1993(10) eILR(PAT) SC 1

2. एस० पी० गुप्ता के मामले में (उपरोक्त) बहुमत का विचार जो वरिष्ठ न्यायालयों में न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले में केन्द्र सरकार को प्रमुखता देता है, सही विधि अधिकथित नहीं करता और उस सीमा तक उसे उलटा जाता है।

3. अनुच्छेद 124(2) और 217(1) में "राष्ट्रपति" अभिव्यक्ति को अनुच्छेद 74(1) के साथ पढ़ने पर यह स्पष्ट होता है कि राष्ट्रपति को उसके कृत्यों का प्रयोग मंत्रिपरिषद् जिसका प्रधान प्रधानमंत्री होता है, की सलाह पर करना होता है। प्रधानमंत्री और मंत्रिपरिषद् भारत के संविधान के अनुच्छेद 124(2) और 217(1) का इस न्यायालय द्वारा किए गए निर्वचन के अनुसार सलाह देने के लिए बाध्य है।

4. अनुच्छेद 124(2) के अधीन परामर्श की प्रक्रिया का अभिप्राय न्यायपालिका के प्रमुख के रूप में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श से है। भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय उसकी निजी राय नहीं होती बल्कि न्यायपालिका के सर्वोच्च न्यायालय के सभी न्यायाधीशों की सामूहिक रूप से राय मानी जाती है। ऐसी सामूहिकता के अन्तर्गत भारत के मुख्य न्यायमूर्ति और उच्चतम न्यायालय के दो ज्येष्ठतम न्यायाधीश और उच्चतम न्यायालय का वह ज्येष्ठ न्यायाधीश आता है जो उसी राज्य से आया है।

5. अनुच्छेद 217 के अधीन नियुक्ति की प्रक्रिया उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति की सिफारिश के साथ आरंभ होती है। उसे उक्त उच्च न्यायालय के दो ज्येष्ठतम न्यायाधीशों के विचारों को जान लेना चाहिए और उन विचारों को अपनी सिफारिश में समाविष्ट करना चाहिए। भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को उक्त सिफारिश की परीक्षा करते समय उच्चतम न्यायालय के दो ज्येष्ठतम न्यायाधीशों के विचारों को विचार में लेना चाहिए और ऐसे ज्येष्ठ न्यायाधीश की राय को भी विचार में लेना चाहिए जो संबद्ध उच्च न्यायालय के कार्यों की जानकारी रखता है।

6. ऊपर उल्लिखित रीति में अग्रेषित भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय प्रमुख होगी। राष्ट्रपति द्वारा संविधान के अनुच्छेद 124(4) और 217(1) के अधीन कोई भी नियुक्ति भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय के अनुरूप ही की जा सकती है।

7. भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की नियुक्ति "योग्यता के आधार पर चयन" के आधार पर की जाएगी और "अकेली ज्येष्ठता" का नियम लागू नहीं होगा।

8. उच्चतम न्यायालय में नियुक्ति "योग्यता के आधार पर चयन" द्वारा की जाएगी। अपने संबंधित उच्च न्यायालयों में न्यायाधीशों के बीच पारस्परिक ज्येष्ठता को उस समय ध्यान में रखना होगा जब उन न्यायाधीशों को उच्चतम न्यायालय में लाने के लिए उन पर विचार किया जा रहा हो। अखिल भारत स्तर पर संयुक्त ज्येष्ठता उक्त विचार की प्रक्रिया में सुसंगत होगी। योग्यता का महत्वपूर्ण तत्व उसी उच्च न्यायालय से किसी कनिष्ठ न्यायाधीश की उन्नति को न्यायोचित ठहराएगा।"

9. कार्यपालिका न्यायपालिका की ऐसी सिफारिश पर उस व्यक्ति की नियुक्ति करने के लिए बाध्य नहीं होगी। यदि उक्त सिफारिश अभिलेख पर उपलभ्य ऐसी सामग्री के आधार पर जो भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के समक्ष रखी गई थी, सुदृढ़ कारणों से अनुपयुक्त पाई जाती है। तथापि, यदि सम्यक् पुन: विचार करने के पश्चात् वही सिफारिश भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा अन्य न्यायिक परामर्शियों की सर्वसम्मति पर पुन: की जाती है तो कार्यपालिका उस सिफारिश द्वारा बाध्य होगी।

10. किसी मुख्य न्यायमूर्ति/न्यायाधीश को लोक हित में एक उच्च न्यायालय से दूसरे उच्च न्यायालय में अनुच्छेद 222 के अधीन अन्तरित किया जा सकेगा। किसी अन्तरित मुख्य न्यायमूर्ति/न्यायाधीश को पुन: अन्तरित किया जा सकता है और वह शक्ति प्रथम अन्तरण के पश्चात् नि:शेषित नहीं हो जाती। संबद्ध मुख्य न्यायमूर्ति/न्यायाधीश की सहमति संविधान के अधीन अपेक्षित नहीं है। इस सीमा तक भी एस० पी० गुप्ता के मामले को उलटा जाता है।

11. अनुच्छेद 222 के अधीन किसी मुख्य न्यायमूर्ति/न्यायाधीश के अन्तरण के लिए कोई प्रस्ताव भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा ही आरंभ किया जाएगा और उस संबंध में अंतिम सिफारिश कार्यपालिका पर बाध्यकारी होगी।

12. किसी मुख्य न्यायमूर्ति/न्यायाधीश के अन्तरण को विधि के किसी न्यायालय में केवल इसी आधार पर चुनौती दी जा सकती है कि उक्त अन्तरण भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सिफारिश पर किया गया था।

13. न्यायाधीशों का नियतन—उच्च न्यायालयों में न्यायाधीशों की संख्या पर न्यायालय द्वारा विचार किया जा सकता है। किसी राज्य के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा उक्त उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या में वृद्धि के लिए किया गया प्रस्ताव, यदि उस पर भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सम्मति प्राप्त कर ली गई है, कार्यपालिका पर बाध्यकारी है। उस सीमा तक एस० पी० गुप्ता का मामला उलट दिया गया।

431. इस निर्णय को पूरा करने से पहले यह कहना उचित होगा कि न्यायमूर्ति वर्मा द्वारा परिचालित राय उन सहयोगी न्यायाधीशों के बीच विस्तृत विचार-विमर्श पर आधारित थी जो विचार-विमर्श के दौरान उपलभ्य थे और उक्त विचार-विमर्श में जिन्होंने भाग लिया था। यद्यपि न्यायमूर्ति वर्मा ने अपने मूल प्रारूप में अनेक सुझावों को समाविष्ट किया है किन्तु फिर भी मैं यह महसूस करता हूं कि न्यायमूर्ति वर्मा द्वारा निकाले गए निष्कर्षों के समर्थन में मैं भी कुछ कहूं और इसलिए मैंने अलग राय रखने की जोखिम उठाई थी।

432. इस प्रकार निर्देशित प्रश्नों का उत्तर दिया गया है और इन मामलों का निपटारा किया गया है।

न्या० जे० एस० वर्मा —

433. मैं अपने विद्वान साथी न्या० कुलदीप सिंह की राय को जो उन्होंने प्रत्येक प्रश्न पर मेरी राय का व्यवहारिक रूप से बलपूर्वक समर्थन करने के लिए और उक्त निष्कर्ष का समर्थन करने के लिए विस्तृत और अधिक तर्क पेश किए हैं, कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करता हूं।

न्या० योगेश्वर दयाल—

434. मैं अपने सहयोगी न्या० वर्मा द्वारा हमारी ओर से व्यक्त राय में अंतर्विष्ट निष्कर्षों के समर्थन में विवाद्यक 1 से 5 पर अपने विद्वान् साथी न्या० कुलदीप सिंह द्वारा दिए गए अतिरिक्त निष्कर्षों से सम्मानपूर्वक सहमत हूं। अन्य विवाद्यकों पर मुझे खेद है कि मैं उनसे सहमत होने में असमर्थ हूं।

न्या० जी० एन० राय—

435. मैं अपने विद्वान् साथी न्या०कुलदीप सिंह द्वारा अपने विद्वान् साथी न्या० वर्मा के निर्णय में अपनी ओर से और मेरी ओर से तथा तीन अन्य विद्वान् साथियों की ओर से दिए गए निष्कर्ष के समर्थन में विवाद्यक 1 से 5 के संबंध में दिए गए अतिरिक्त तर्कों से सम्मानपूर्वक सहमत हूं। अन्य विवाद्यकों के संबंध में मुझे खेद है कि मैं उनसे सहमत होने में असमर्थ हूं।

डा० ए० एस० आनन्द—

436. मैं अपने विद्वान् साथी न्या० वर्मा द्वारा हमारी ओर से व्यक्त राय में अंतर्विष्ट निष्कर्ष के समर्थन में विवाद्यक 1 से 5 पर अपने विद्वान् साथी न्या० कुलदीप सिंह द्वारा दिए गए अतिरिक्त तर्कों से ससम्मान सहमत हूं। अन्य विवाद्यकों पर मुझे खेद है कि मैं उनसे सहमत होने में असमर्थ हूं।

न्या० एस० पी० भरूचा —

437. मैं सम्मानपूर्वक यह कहता हूं कि मेरे विद्वान् साथी न्या० वर्मा द्वारा मेरी ओर से, न्या० दयाल, राय और आनन्द की ओर से लिखित निर्णय का समर्थन करता हूं। तथापि मैं यह कह सकता हूं कि मैं इस बात से संतुष्ट हूं कि मेरे विद्वान् साथी न्या० कुलदीप सिंह ने विस्तार रूप में हम से सहमति व्यक्त की है और अपनी विद्वत्ता और वाग्मिता द्वारा हमारे निष्कर्षों का समर्थन किया है।

न्या० वर्मा—(के मतानुसार तथा साथ ही न्या० योगेश्वर दयाल, न्या० जी० एन० रे, न्या० ए० एस० आनंद और न्या० एस० पी० भरुचा के मतानुसार)

438 **सुभाष शर्मा और अन्य** बनाम **भारत संघ**[1] और उससे सम्बद्ध मामले में पारित किए गए तारीख 26 अक्तूबर, 1990 के आदेश द्वारा 1987 की रिट याचिका

[1] 1990 सप्ली० 2 एस० सी० आर० 433.

संख्या 1303—सुप्रीम कोर्ट एडवोकेट्स आन रिकार्ड एसोसिएशन और एक अन्य बनाम भारत संघ के कागजात उनमें निर्दिष्ट किए गए दो प्रश्नों अर्थात् प्राथमिकता (प्रधानता) के संदर्भ में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की स्थिति और न्यायाधीशों की संख्या को नियत करने की न्याय्यता की परीक्षा करने के लिए नौ न्यायाधीशों की न्यायपीठ का गठन करने के लिए भारत के विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति के समक्ष रखे जाने का निदेश देते हुए निर्देशित किए गए थे।

उक्त आदेश इसलिए किया गया था चूंकि निर्देश करने वाली न्यायपीठ का यह मत था कि **एस० पी० गुप्ता और अन्य बनाम भारत संघ और अन्य**[1] वाले मामले में बहुमत की राय की शुद्धता की बृहत्तर न्यायपीठ द्वारा पुनर्विचार किए जाने की आवश्यकता थी। इस प्रकार यह प्रश्न इस न्यायपीठ द्वारा विनिश्चय किए जाने के लिए उत्पन्न हुए हैं।

439. संदर्भ द्वारा जिसमें इस न्यायालय द्वारा विनिश्चय किए जाने के लिए पूर्वोक्त दो प्रश्न निर्दिष्ट किए गए हैं यह अपेक्षित है कि समस्या का व्यापक उत्तर देने के लिए उनका सभी पहलुओं पर विचार किया जाए, जैसी कि हमारे समक्ष सभी के द्वारा दलील दी गई थी। इसलिए दोनों प्रश्नों को निम्न प्रकार पुनः निरूपित करना समुचित है :—

1. उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्तियों और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों/मुख्य न्यायमूर्तियों के स्थानांतरणों के सम्बन्ध में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय की प्राथमिकता (अधिमानता); और

2. उच्च न्यायालयों में न्यायाधीशों की संख्या को नियत करते हुए इन विषयों की न्याय्यता।

440. अनेक सुप्रसिद्ध काउंसेलों द्वारा हमें उचित मदद दी गई थी, जो कि इन प्रश्नों के प्रत्येक पहलू पर ध्यान आकर्षित करने के लिए विभिन्न विचारों (दृष्टिकोणों) पर बहस करने के लिए हाजिर हुए थे। सर्वश्री एफ० एस० नारीमन, कपिल सिब्बल, राम जेठमलानी, पी० पी० राव और शांतीभूषण ने यह दलील देते हुए एस० पी० गुप्ता वाले मामले में बहुमत की राय पर पुनर्विचार करने के लिए दलील दी कि उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों में नियुक्तियों के मामले में और उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों और मुख्य न्यायमूर्तियों के स्थानांतरणों के विषय में भारत के विद्वान मुख्य न्यायमूर्ति की भूमिका प्रधान है, तथा कार्यपालिका की केवल भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय के अनुसार नियुक्तियां और स्थानांतरण करने की भूमिका है। सारतः यह उनकी दलील का सामान्य सार था। तथापि, उनके मध्य कार्यपालिका की भूमिका के अपवर्जन की सीमा के सम्बन्ध में मामूली अन्तर थे। एक दृष्टिकोण जिस पर बहस की गई थी यह मत था कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सभी मामलों में प्रधानता है; दूसरा मत यह था कि किसी आपवादिक मामले में कार्यपालिका, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा सिफारिश की गई किसी नियुक्ति को नहीं कर सकती यदि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को प्रकट किए गए कारणों से उक्त नियुक्ति अनुपयुक्त विचार की गई हो। उनके द्वारा यह भी दलील दी गई थी कि अनुच्छेद 216 के अधीन न्यायाधीशों की

[1] [1982] 4 उम० नि० प० 1=[1982] 2 एस० सी० आर० 365.

1993(10) eILR(PAT) SC 1

संख्या नियत करने का मामला उनके मध्य उसकी सीमा जिस तक यह न्याय्य है की बाबत कुछ मतभेद होने के कारण न्याय्य है 1993 की रिट याचिका संख्या 156 में याची श्री एस० सी० गुप्ता ने यह भी दलील दी कि **एस० पी० गुप्ता बनाम भारत संघ**[1] वाले मामले में बहुमत की राय गलत है ।

441. श्री के० पाराशरन ने यह दलील देते हुए एस० पी० गुप्ता वाले मामले में बहुमत की राय का समर्थन किया कि किसी भिन्न मत को अपनाने के लिए कोई कारण नहीं है, वह भी तब जबकि उक्त विनिश्चय के बावजूद वास्तविक कार्यप्रणाली में भारत सरकार, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय को सबसे अधिक महत्व देती है; और विरल अवसरों के सिवाए, नियुक्तियां केवल भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय के अनुसार ही की गई हैं। श्री पाराशरन ने दलील दी कि संविधान सभा डिबेट्स से यह दर्शित होता है कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की प्रधानता या नियुक्तियों को करने में उसकी सहमति की अपेक्षा के लिए अभिवचन पर संविधान का प्रारूपण करते समय विचार किया गया था और अभिव्यक्त रूप से त्यक्त किया गया था । उन्होंने यह भी दलील दी कि पद की शपथ; कार्यकाल की सीमा; न्यायाधीशों की नियुक्ति के पश्चात् उनके हित के प्रतिकूल सेवा की शर्तों को बदलने के विरुद्ध निर्बंधन; समेकित निधि पर प्रभावित वेतनों और पेंशनों; विधान मंडल में उनके आचरण की चर्चा पर निर्बंधन अवमान के लिए दण्ड देने की शक्ति; और न्यायालयों में खुली सुनवायी से संबंधित संविधान में अनके उपबंध न्यायपालिका की स्वतंत्रता के लिए पर्याप्त रक्षोपाय हैं और इसलिए न्यायाधीशों की नियुक्ति की प्रक्रिया में कार्यपालिका की भूमिका का कोई अतिरिक्त अपवर्जन अनुध्यात नहीं किया गया है ।

442. विद्वान महान्यायवादी ने सारतः एस० पी० गुप्ता वाले मामले में तत्कालीन न्यायमूर्ति पाठक की मध्य मार्ग का उपबंध करने वाली राय को सही मत के रूप में ग्रहण करने के लिए दलील दी है । कर्नाटक के विद्वान महाधिवक्ता ने एस० पी० गुप्ता वाले मामले में बहुमत की राय पर पुनर्विचार करने की दलील दी है । उन्होंने दलील दी कि कार्यपालिका की भूमिका उन व्यक्तियों के नामों की बाबत मुख्य न्यायमूर्ति को सुझाव देना मात्र है जिन्हें यह योग्य समझती है, किंतु प्रस्थापना मुख्य न्यायाधीश की ओर से की जानी चाहिए और भारत के मुख्य न्यायमूर्ति और उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति की राय और अधिक महत्व दिए जाने को दायी है । विद्वान महाधिवक्ता ने दलील दी कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा अननुमोदित किया गया कोई व्यक्ति न्यायाधीश नियुक्त नहीं किया जा सकता; और राष्ट्रपति प्रत्येक व्यक्ति को नियुक्त करने को बाध्य नहीं है जिसकी नियुक्ति की जाती है । उन्होंने यह भी दलील दी कि न्यायपालिका की राय अनुच्छेद 216 के अधीन न्यायाधीशों की संख्या नियत करने के विषय में भी नीति के रूप में कार्यपालिका को आबद्ध करती है । दूसरी ओर, सिक्किम राज्य के विद्वान महाधिवक्ता ने यह दलील दी कि प्रधानता कार्यपालिका में है, और एस० पी० गुप्ता वाले मामले में बहुमत की राय सही है । मध्य प्रदेश राज्य के विद्वान महाधिवक्ता की भी यही दलील थी ।

443. श्री आर० के० गर्ग ने दलील दी कि एस० पी० गुप्ता वाले मामले में न्यायमूर्ति पाठक (तत्कालीन) का मत अधिमानता दिए जाने योग्य है, यह कि नियुक्ति की

[1] [1982] 4 उम० नि० प० 1=[1982] 2 एस० सी० आर० 365.

प्रक्रिया में जो समेकित प्रक्रिया है, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की भूमिका प्रधानता (प्राथमिकता) रखती है। कुछ अन्यों की दलीलें, जिन्होंने हमें सम्बोधित किया, विरोधी दलीलों की व्यापक परिधि में आती है।

444. हमारे लिए यह अनावश्यक है कि इस राय की संपूर्ण ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का, जिसमें यह प्रश्न विनिश्चय किए जाने के लिए उद्भूत हुए, वर्णन किया जाए, चूंकि एस० पी० गुप्ता वाले मामले में इसका विस्तार से वर्णन किया गया है तथा इसके साथ ही निर्देश करने वाले आदेश में पश्चात्वर्ती प्रगति का, वर्णन किया गया है। तथापि, सुविधा के लिए, उस पृष्ठभूमि का संक्षिप्त वर्णन किया जा सकता है जिसमें इन प्रश्नों पर विचार किया जाना है।

पृष्ठभूमि—

445. इन प्रश्नों पर, लोकतांत्रिक पद्धति के परिरक्षण के लिए आवश्यक "विधि सम्मत शासन" को प्राप्त करने के लिए संविधान के आधारभूत ढांचे के भाग के रूप में न्यायपालिका की स्वतंत्रता के संदर्भ में विचार किया जाना है। निम्नतर स्तर पर भी न्यायपालिका के कार्यपालिका से पृथक्करण के निदेशक तत्व के साथ संविधान में अंगीकृत की गई शक्तियों के पृथक्करण की विस्तृत स्कीम न्यायपालिका के गठन के संबंध में संविधान में सुसंगत उपबंधों के सही अर्थ की बाबत कुछ जानकारी का उपबंध करती है। इन उपबंधों का अर्थान्वियन, स्थायित्व (ओजस्विता) के परिरक्षण और संविधान के जीवन्त स्वरूप को बनाए रखने के लिए आवश्यक विकास को प्रोत्साहित करने के लिए सांविधानिक स्कीम में इन मूल धारणाओं के अनुसार होना चाहिए।

446. **सब-कमेटी आन जुडीशियल एकाउंटेबिलिटी** बनाम **भारत संघ और अन्य**[1] वाले मामले में संविधान न्यायपीठ द्वारा व्यक्त की गई कतिपय मताभिव्यक्तियों के प्रति निर्देश करना उपयोगी होगा, जो निम्न प्रकार हैं—

> "......न्यायपालिका और इसकी स्वतंत्रता के संबंध में सांविधानिक उपबंधों का सिंहावलोकन करना आवश्यक है। इस क्षेत्र में सांविधानिक-उपबंधों का निर्वचन करने में न्यायालय को ऐसे अर्थान्वियन को स्वीकार करना चाहिए जो संविधान की आधारभूत विशिष्टताओं और आधारभूत स्वरूप को मजबूत करता हो। विधि सम्मत शासन संविधान की आधारभूत विशिष्टता है जो संपूर्ण सांविधानिक ढांचे में व्याप्त है और सांविधानिक संरचना का अभिन्न अंग है। न्यायपालिका की स्वतंत्रता विधि सम्मत शासन की एक आवश्यक विशेषता है।"

447. संविधान के सुसंगत उपबंधों का निर्वचन करते समय **एस० पी० गुप्ता**[2] वाले मामले में न्यायमूर्ति भगवती ने (जो वह तत्समय थे) न्यायपालिका की स्वतंत्रता की संकल्पना, जिसे ध्यान में रखना है, का इस प्रकार संक्षेपतः वर्णन किया :—

---

[1] **(1991)** 4 एस० सी० सी० 699.

[2] [1982] 4 उम० नि० प० 1=[1982] 2 एस० सी० आर० 365.

"न्यायाधीशों को दृढ़निश्चयी, आर्थिक या राजनीतिक शक्ति के समक्ष न झुकने वाला होना चाहिए, और उन्हें विधिसम्मत शासन के आधारभूत सिद्धांत को बनाए रखना चाहिए जिसमें यह कहा गया है कि, "आप कितने भी ऊंचे क्यों न हों, कानून आपसे ऊपर है।" यह न्यायपालिका की स्वतंत्रता का सिद्धांत है जो वास्तविक सहभागिता वाले लोकतंत्र की स्थापना, सक्रिय (गतिशील) संकल्पना के रूप में विधिसम्मत शासन के अनुरक्षण के लिए और समाज के कमजोर वर्गों को सामाजिक न्याय प्रदान करने के लिए महत्वपूर्ण है। न्यायपालिका की स्वतंत्रता का यह वह सिद्धांत है जिसे संविधान के सुसंगत उपबंधों का निर्वचन करते समय हमें ध्यान में रखना चाहिए।" (पृष्ठ 537-38)

448. न्यायमूर्ति पाठक ने (तत्समय) "एस० पी० गुप्ता वाले" मामले में विधिसम्मत शासन और न्यायप्रशासन के शीर्षक के अधीन इस प्रकार कथन किया :—

"…… ……जबकि न्याय-प्रशासन, संविधान से अपनी विधिक मान्यता प्राप्त करता है, इसकी विश्वसनीयता, जनता के विश्वास पर आधारित है। न्यायपालिका की स्वतंत्रता उक्त विश्वास से अपरिहार्य है। स्वतंत्र और निष्पक्ष न्यायपालिका न्यायिक संस्था के लिए औचित्य प्रदान करती है, यह सांविधानिक वातावरण को स्वरूप और संतुष्टि भी प्रदान करती है।

………न्यायपालिका से संबंधित उपबंधों की विरचना करने में न्यायाधीशों की स्वतंत्रता प्राप्त करने को सबसे अधिक महत्व दिया गया था और संविधान सभा डिबेटों में सर्वत्र उक्त सिद्धांत पर सबसे अधिक जोर दिया गया था।… संविधान निर्माताओं ने यह सुनिश्चित करने के लिए अत्यंत परिश्रम किया था कि एक और अच्छा और अधिक प्रभावी न्यायिक ढांचा संविधान में निगमित किया जाए जो न्यायिक स्वतंत्रता की उच्चतम आशाओं को तुष्ट करेगा…।"

(जोर देने के लिए रेखांकन किया गया है) (पृष्ठ 1155-56)

449. न्यायपालिका की स्वतंत्रता की संकल्पना की यह समझ, "न्यायपालिका की स्वतंत्रता पर आधारभूत सिद्धांतों के सामंजस्य में है और मिलन में हुई सातवीं संयुक्त राष्ट्र कांग्रेस द्वारा परिकल्पित और संयुक्त राष्ट्र साधारण सभा द्वारा 1985 में पृष्ठांकित किए गए न्याय प्रशासन में मानव अधिकार की सार्वभौमिकता का भागरूप है, जिसमें अन्य बातों के साथ निम्न उपबंधित है —

"10. न्यायिक पदों पर चयन किए गए व्यक्ति विधि में समुचित प्रशिक्षण या अर्हताओं के साथ सत्यनिष्ठ और योग्य व्यक्ति होंगे। न्यायिक चयन की प्रत्येक रीति अनुचित हेतुओं के लिए न्यायिक नियुक्तियों के विरुद्ध रक्षोपाय करेगी।

× × ×   × × ×   × × ×   × × ×

13. जहां कहीं ऐसी पद्धति विद्यमान है, वहां न्यायाधीशों की प्रोन्नति,

वस्तुनिष्ठ कारकों विशेष रूप से योग्यता, सत्यनिष्ठा और अनुभव पर आधारित होनी चाहिए।" (जोर देने के लिए रेखांकन किया गया है)

(ह्यूमेन राइट्स—ए काम्पाइलेशन आफ इंटरनेशनल इन्सट्रूमेंट्स 1988, पृष्ठ 267)

450. न्यायमूर्ति मैथ्यू ने **श्रीमती इंदिरा नेहरू गांधी** बनाम **श्री राज नारायण और एक अन्य**[1] वाले मामले में यह इंगित करने के पश्चात् कि "विधि सम्मत शासन, लोकतंत्र के अलावा संविधान की आधारभूत संरचना का भाग है" जैसा कि **केशवानन्द भारती**[2] वाले मामले में अभिनिर्धारित किया गया था, विधि सम्मत शासन की आधुनिक संकल्पना को सारगर्भित रूप से निम्न प्रकार प्रस्तुत किया :—

"......."विधि का शासन" एक ऐसी अभिव्यक्ति है जिसके द्वारा किसी ऐसी वस्तु को वास्तविकता प्रदान की गई है जिसको अभिव्यक्त करना सरल नहीं है। यही कारण है कि सर आइवर जैनिंग्ज ने यह कहा था कि यह उद्दण्ड घोड़े के समान है। ....

....

विधि के शासन की डायसी द्वारा विरचना अर्थात यह कि वह—

"मनमाने प्रभाव के मुकाबले में नियमित विधि पर आत्यंतिक आधिपत्य अथवा प्रभुत्व है जिसमें से सरकार द्वारा मनमाने रूप से काम करना, विशेषाधिकार को नहीं बल्कि व्यापक विशेषाधिकार को भी अपवर्जित कर दिया गया हो, उसकी पुस्तक के पश्चातवर्ती संस्करणों में से विलुप्त कर दी गई है।" इसका कारण यह था कि यह मान लिया गया था कि जहां विधि समाप्त होती है वहां नृशंसता प्रारम्भ हो जानी चाहिए यह आवश्यक नहीं है। जैसा कि कल्प डैविस ने कहा था जहाँ विधि समाप्त होती है वहां विवेकाधिकार प्रारम्भ होता है और विवेकाधिकार के प्रयोग से परोपकारिता अथवा नृशंसता, न्याय अथवा अन्याय, युक्तियुक्तता अथवा मनमानापन अभिप्रेत हो सकता है।..

....

ऐसी कोई सरकार विद्यमान नहीं रही है जिसमें केवल विधियों द्वारा ही शासन किया गया हो और व्यक्ति संबंधी तत्व को उसमें से निकाल दिया गया हो अर्थात समस्त विवेक संबंधी शक्तियों की उपेक्षा कर दी गई हो। सभी सरकारें ऐसी सरकारें होती हैं जिनमें विधियों द्वारा तथा व्यक्तियों द्वारा शासन किया जाता है।.........फैड्रिक ए० हैक ने "रोड टू सर्फडम" तथा "कांस्टिट्यूशन आफ लिबर्टी" नामक अपनी पुस्तकों में विधि के शासन की एक और परिभाषा दी है। यह परिभाषा लगभग वैसी ही है जैसी कि इंग्लैंड में फ्रेंक्स समिति द्वारा प्रतिपादित की गई थी—

[1] [1976] 1 उम० नि० प० 1=(1975) सप्ली० एस० सी० सी० 1.

[2] [1973] 2 उम० नि० प० 159=(1973) सप्ली एस० सी० सी० 1.

"विधि के शासन से यह दृष्टिकोण अभिप्रेत है कि विनिश्चय ज्ञात सिद्धांतों अथवा विधियों को लागू करके किया जाना चाहिए। सामान्य रूप से ऐसे विनिश्चयों का पहले से अनुमान लगाया जा सकेगा और नागरिक को इस बात का पता रहेगा कि उसकी स्थिति क्या है। दूसरी ओर वह विनिश्चय है जो कि मनमाना विनिश्चय होता है। कोई विनिश्चय किसी सिद्धांत के बिना और किन्हीं नियमों के बिना किया जा सकता है। इसलिए उसका पहले से अनुमान नहीं लगाया जा सकेगा और वह उस विनिश्चय के प्रतिकूल होगा जो कि विधि के शासन के अनुसार दिया जाता है।"

××× ××× ××× ×××

यदि यह बात विधि के शासन के प्रतिकूल हो कि वैवेकिक प्राधिकार सरकारी विभागों अथवा लोक अधिकारियों को दिया जाना चाहिए तो किसी भी आधुनिक राज्य में कोई विधि का शासन नहीं होगा।

....

विधि का कोई ऐसा शासन प्रतिपादित करना असंभव है जिसका आधार यह हो कि तब तक कोई विनिश्चय नहीं किया जा सकता है जब तक कि उस विनिश्चय को लागू होने वाला कोई नियम विशेष न हो।

विधि शासन के इन अतिव्यापक उपान्तरों पर न ध्यान देते हुए भी विधि के शासन का एक वास्तविक सिद्धांत है और उस सिद्धांत से विधि के समक्ष समता अथवा सभी वर्गों का समान रूप से साधारण विधि के अध्यधीन होना विवक्षित है। किंतु यदि विधि का शासन संविधान का आधारभूत ढांचा बन जाता है तो वह केवल तभी हो सकता जब कि संविधान में ऐसे विनिर्दिष्ट उपबंध विद्यमान हों जिनमें इस सिद्धांत के संविधायी तत्व समाविष्ट हों। मेरे विचार में विधि का शासन कोई ऐसा सितारा नहीं है जो संविधान से ऊंचा हो। आधारभूत ढांचा बनाने के लिए यह आवश्यक है कि वह सांसारिक सिद्धांत हो जिसका निवास स्थान संविधान की परिधि के अंतर्गत हो। संविधान के उपबंधों को विधि-शासन सुनिश्चित बनाने की दृष्टि से अधिनियमित किया गया था। यदि मैं यह मान भी लूं कि विधि शासन आधारभूत ढांचा है तो भी मुझे यह प्रतीत होता है कि इस अवधारणा का अर्थ और इसके संघटक तत्व संविधान के अधिनियमनकारी उपबंधों से ही एकत्रित किए जा सकते हैं। विधि शासन तथा लोकतंत्रात्मक गणराज्यवाद संबंधी समता के पहलू का उपबंध अनुच्छेद 14 में किया गया है। हो सकता है कि जिन अन्य अनुच्छेदों का उल्लेख किया गया है वे भी इसी कर्त्तव्य का निर्वहन करते हैं।"

(जोर देने के लिए रेखांकन किया गया है) (पृष्ठ 136-37)

451. इसलिए यह सत्य है कि विधि के शासन के भीतर में वैवेकिक प्राधिकारिता की गुंजाइश होनी चाहिए भले ही इसे उचित शासन के लिए आवश्यक न्यूनतम सीमा तक

1993(10) eILR(PAT) SC 1

कम किया गया हो। वैवेकिक प्राधिकार के क्षेत्र के भीतर उचित मार्गदर्शक सिद्धांतों या साधारण उपयोज्यिता के नियमों की विद्यमानता वैवेकिक प्राधिकारिता के किसी मनमाने प्रयोग का अपवर्जन करती हैं। ऐसी परिस्थिति में, उचित मार्गदर्शक सिद्धांतों या नियमों के अनुसार वैवेकिक प्राधिकार को व्यक्तियों पर लागू करना विवेकाधिकार के क्षेत्र को और कम करता है; किंतु पद्धति को कामचलाऊ बनाने के लिए उक्त सीमा तक वैवेकिक प्राधिकार दिया जाना चाहिए। सीमित क्षेत्र में वैवेकिक प्राधिकार किसी एक व्यक्ति को न देकर व्यक्तियों के निकाय को प्रदान करने वाला एक अन्य उपबंध किया गया है जिसमें उनसे, परस्पर संपर्क और प्रभावी परामर्श करने के पश्चात अंतिम विनिश्चय करने की अपेक्षा की गई है, जिससे कि दृष्टिकोण को सुनिश्चित किया जा सके और इस प्रक्रिया में जुड़े हुए उन सभी व्यक्तियों की सामूहिक प्रज्ञा का लाभ अंतिम विनिश्चय में बहुमत से प्राप्त किया जा सके। उच्चतम पदाधिकारियों में इस वैवेकिक प्राधिकार को प्रदत्त करना इसी दिशा में एक अतिरिक्त नियंत्रण है। सांविधानिक स्कीम किसी एक व्यक्ति में आत्यंतिक शक्ति प्रदत्त करने को अपवर्जित करती है। इसलिए उपबंधों का ऐसा अर्थान्वयन उस सांविधानिक स्कीम और सांविधानिक प्रयोजन से संगत है जिसके लिए इन उपबंधों को अधिनियमित किया गया था।

452. **सुभाष शर्मा**[1] वाले मामले में निर्देशकर्ता न्यायपीठ द्वारा व्यक्त किए गए कतिपय मतों को निर्दिष्ट करना भी उपयोगी होगा, जिनके महत्व पर संदेह नहीं किया जा सकता। उसमें निम्न मत व्यक्त किया गया था—

> "तथापि भारत में, न्यायिक संस्थाएं परम्परागत रूप से स्वीकृत अराजनीतिक वचनबद्धता रखती हैं और न्यायपालिका के अराजनीतिक स्वरूप के आश्वासन को नियुक्तियों की प्रक्रिया से अलग नहीं किया जा सकता। परामर्श की सांविधानिक शैली को इस सांविधानिक भाव को अग्रसर करने से संगत अर्थ में समझा और प्रतिपादित किया जाना चाहिए। यह विवक्षाएं वास्तव में महत्वपूर्ण हैं।..........
>
> बल्कि नियुक्ति सामूहिक सांविधानिक प्रक्रिया का परिणाम है। यह एक सहभागी सांविधानिक कृत्य है। कदाचित यह अनुचित है कि न्यायाधीशों को नियुक्त करने के लिए किसी "शक्ति" या "अधिकार" को निर्दिष्ट किया जाए। अनिवार्यत: यह सांविधानिक विश्वास का निर्वहन है जिसके कतिपय सांविधानिक कृत्यकारी सामूहिक रूप से निधान है।..................
>
> एडमण्ड बर्क ने जो कहा है उसे स्मरण किया जाना चाहिए : "शक्ति का पद धारण करने वाले सभी व्यक्तियों को इस विचार से प्रबलता से अत्यंत ही प्रभावित होना चाहिए कि वे विश्वास में कृत्य करें और उक्त विश्वास में अपने आचरण के लिए वे समाज के महान स्वामी, निर्माता के प्रति जवाबदेह है।"
>
> (जोर देने के लिए रेखांकन किया गया है)
>
> (एस० सी० आर० के पृष्ठ 457 से 58 पर)

---

[1] (1990) सप्ली० 2 एस० सी० आर० 433.

453. इस तथ्य को देखते हुए कि सांविधानिक कृत्यकारी, जिन्हें कार्य सौंपा गया है, एक "सहभागी सांविधानिक कृत्य" का निर्वहन करते हैं, भारत के संविधान को अंगीकृत करने के लिए अग्रसर होने के दौरान डा० राजेन्द्र प्रसाद द्वारा संविधान सभा के अध्यक्ष के रूप में दिए गए भाषण में उनके द्वारा भविष्यवाणी के रूप में की गई चेतावनी को स्मरण करना आवश्यक है। उन्होंने निम्न कथन किया —

> "हमने एक लोकतांत्रिक संविधान तैयार किया है। किंतु लोकतांत्रिक संस्थाओं की सफलतापूर्ण कार्य प्रणाली, उसमें कार्य करने वालों से अन्यों के विचारों का सम्मान करने की इच्छा रखने, समझौते और समायोजन के लिए क्षमता रखने की अपेक्षा करती है। बहुत सी बातें जो संविधान में नहीं लिखी जा सकतीं, परिपाटियों द्वारा की जाती है। मुझे आशा है कि हम उन क्षमताओं को दर्शाएंगे और उन परिपाटियों को विकसित करेंगे। मतगणना का सहारा लिए बिना और प्रकोष्ठों (सभाकक्ष) में किसी मतभेद (विभाजन) के बिना जिस रीति से हमने यह संविधान तैयार किया है वह उक्त आशा को बल प्रदान करता है।
>
> संविधान जिस किसी विषय में उपबंध करता है या नहीं करता, देश का कल्याण उस रीति पर निर्भर करता है जिसमें कि देश चलाया जाता है। वह उन व्यक्तियों पर निर्भर करेगा जो इसे चलाते हैं.........। यदि निर्वाचित व्यक्ति सक्षम हैं और सही प्रकृति और सत्यनिष्ठा वाले व्यक्ति हैं तो वे एक त्रुटिपूर्ण संविधान से भी अच्छा कर सकते हैं। यदि उनमें इनकी कमी है तो संविधान देश की सहायता नहीं कर सकता। आखिरकार, संविधान मशीन की भांति ही एक निर्जीव वस्तु है। यह व्यक्तियों के कारण ही जीवन प्राप्त करती है जो इस पर नियंत्रण करते और चलाते हैं और आज भारत को ईमानदार व्यक्तियों के समूह से अधिक कुछ की आवश्यकता नहीं है जिनके समक्ष देश का हित होगा। हमारे जीवन में विभिन्न तत्वों से उत्पन्न होने वाली विखंडनकारी प्रवृत्ति है। हमारे बीच साम्प्रदायिक विभिन्नताएं, जातिगत भिन्नताएं, भाषायी भिन्नताएं, प्रांतीय भिन्नताएं और इसी प्रकार की भिन्नताएं हैं। यह कठोर प्रकृति के व्यक्तियों, दूरदर्शी व्यक्तियों, ऐसे व्यक्तियों जो छोटे समूहों और क्षेत्रों के हित के लिए पूरे देश के हितों का बलिदान नहीं करेंगे और जो इन भिन्नताओं से उत्पन्न होने वाले पूर्वाग्रहों से ऊपर उठकर कार्य करेंगे, की अपेक्षा करता है। हम केवल यह आशा कर सकते हैं कि देश ऐसे व्यक्तियों को प्रचुर मात्रा में प्रस्तुत करेगा।.........मैं यह महसूस करता हूं कि भारत में आज जो कार्य हमें सुपुर्द किया गया है वह उस कार्य से भी अधिक कठिन है जो हमने किया था जब हम स्वतंत्रता संग्राम में लिप्त थे। तब हमारे पास सुलझाने के लिए कोई विरोधी दावे नहीं थे, वितरित करने के लिए कोई रोटी (पावरोटी) मछलियां नहीं थीं, बांटने की कोई शक्तियां नहीं थीं। अब हमारे समक्ष यह सभी हैं, और मोह (लालच) वास्तव में अधिक है। हम भगवान से प्रार्थना

1993(10) eILR(PAT) SC 1

करते हैं कि हमें उनसे ऊपर उठने और देश जिसे हम स्वतंत्र कराने में सफल हुए हैं की सेवा प्रदान करने को प्रज्ञान और शक्ति दे।"

(जोर देने के लिए रेखांकन किया गया।)

(बी० शिवा राव के, "दि फ्रेमिंग आफ इण्डियाज कान्स्टीट्यूशन, जिल्द IV पृष्ठ 957-58 पर)

454. इस विवाद के न्यायिक अवधारण की आवश्यकता केवल इस कारण से उत्पन्न हुई है क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि उन कृत्यकारियों द्वारा, जिन्हें डा० राजेन्द्र प्रसाद की चेतावनी पर, उच्चतर न्यायपालिका को उचित रूप से गठित करने और देश में न्यायप्रशासन के लिए इसके संतोषजनक कार्य को सुनिश्चित करने के लिए सांविधानिक बाध्यता सौंपी गई थी, सम्यक रूप से ध्यान नहीं दिया गया था। इस असफलता के प्रतिकूल परिणाम अनेक प्रकार से प्रकट होते हैं।

455. यह भलीभांति ज्ञात है कि वरिष्ठ न्यायाधीशों की नियुक्ति, विधि व्यवसाय में अच्छी पृष्ठभूमि और ख्याति रखने वाले परिपक्व आयु के व्यक्तियों में से की जाती है। उस समय तक व्यक्तित्व पूर्णतया विकसित हो जाता है और नियुक्त व्यक्ति की प्रवृति और पृष्ठभूमि भलीभांति ज्ञात हो जाती हैं। वरिष्ठ न्यायाधीशों को नियुक्त करने की प्रक्रिया में अंतर्ग्रस्त सांविधानिक कृत्यकारियों के सामूहिक प्रज्ञान से यह सुनिश्चित करने की आशा की जाती है कि इन उच्च पदों पर केवल अनिन्द्य सत्यनिष्ठा के व्यक्ति नियुक्त किए जाएं और कोई संदेहपूर्ण व्यक्ति इसमें नियुक्त न होने पाए। यह असंभावनीय नहीं है कि इस बाध्यता का निर्वहन करने में उनसे प्रत्याशित सावधानी और जिम्मेवारी सभी मामलों में निभाई नहीं गई है। इसलिए यह समय है कि वरिष्ठ न्यायाधीशों की नियुक्ति की प्रक्रिया अंतर्ग्रस्त सभी सांविधानिक कृत्यकारियों को अपनी सांविधानिक बाध्यता के गंभीर परिणामों के प्रति पूर्णतया सजग रहना चाहिए और यह सुनिश्चित करने के लिए अपने कर्तव्यों के निर्वहन में उत्साही होना चाहिए कि कोई संदेहपूर्ण नियुक्ति न की जाए। यह पूरा करना कठिन नहीं है।

456. न्यायपालिका की स्वतंत्रता को सुनिश्चित करने और तद्द्वारा लोकतंत्र का परिरक्षण करने के लिए आवश्यक उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय के गठन के लिए सबसे बेहतर उपलब्ध व्यक्ति का चयन करने के सांविधानिक प्रयोजन को प्राप्त करने के लिए और विभिन्न रंगों के मिश्रण से उद्भूत होने वाली सांविधानिक स्कीम की उचित रूप-रेखा के लिए न्यायाधीशों की नियुक्ति के संदर्भ में भारत के मुख्य न्यायाधीश की भूमिका की प्रधानता के प्रश्न पर, इस पृष्ठभूमि में विचार किया जाना चाहिए। सुतराम, सांविधानिक उपबंधों का कोई ऐसा अर्थान्वियन, जो इस सांविधानिक प्रयोजन के विरोध में है या इसके स्पष्ट उद्देश्य को नकारता है, से दूर रहना चाहिए क्योंकि वह संविधान के सही अर्थ और भाव के विरुद्ध है और इसलिए एक प्रतिकूल संकल्पना है।

457. इस बोध के साथ वर्तमान संदर्भ में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की प्रधानता की प्रकृति की यदि कोई है, सांविधानिक स्कीम को देखते हुए परीक्षा करनी होगी। उच्चतर न्यायपालिका के गठन के प्रयोजन के लिए जब परामर्श भारतीय न्यायपालिका के अध्यक्ष के

रूप में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के साथ किया जाता है, तो उसे समान शब्द 'परामर्श' के उस अर्थ से सुभिन्न किया जाना चाहिए जब वह सर्वोत्तम उपलब्ध सामग्री के चयन में मदद करने के लिए उस प्रक्रिया में सहयुक्त कार्यपालिका के संदर्भ में प्रयोग किया जाता है।

458. एस० पी० गुप्ता वाले मामले में, न्यायमूर्ति भगवती (जो वह तत्समय थे) न्यायमूर्ति फजल अली, न्या० देसाई और न्या० वेंकटरमय्या (जो वह तत्समय थे) को समाविष्ट करते हुए सारत: बहुमत की यह राय थी कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय, उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्तियों के मामले में प्राथमिकता नहीं रखती है; यह कि केन्द्रीय सरकार की राय को प्राथमिकता दी जाती है जिसे सभी सांविधानिक कृत्यकारियों से परामर्श करने के पश्चात् विनिश्चय करना होता है और केन्द्रीय सरकार उन सभी सांविधानिक कृत्यकारियों की राय के अनुसार जिनसे परामर्श किए गए हैं, कार्य करने को आबद्ध नहीं है भले ही उनकी राय एक जैसी ही क्यों न हों। एस० पी० गुप्ता वाले मामले में यह भी अभिनिर्धारित किया गया था कि उच्चतम न्यायालय या किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति के लिए प्रस्थापना लाए जाने के लिए कार्यपालिका पर प्रस्थापना को पेश करने पर कोई आवृत निषेध नहीं लगाया जा सकता, यद्यपि यह समुचित होगा कि कार्यपालिका के नियुक्ति करने के अधिकार को केवल उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति को या भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को उचित नामों के विषय में सुझाव देने तक सीमित किया जाए। यह एस० पी० गुप्ता वाले मामले में बहुमत की राय और विशेष रूप से सभी परामर्श देने वालों के संबंध में अनुच्छेद 124(2) और अनुच्छेद 217(1) में शब्द "परामर्श" को दिए गए समान शाब्दिक अर्थ के साथ केन्द्रीय सरकार को नियुक्तियों के विषय में दिया गया अंतिम प्राधिकार है, जो इसके पुनर्विचार के लिए अवसर उत्पन्न करता है।

459. यह भी महत्वपूर्ण है, जैसा कि सुभाष शर्मा के मामले में अवेक्षा की गई है कि "संघ सरकार ने प्राय: संसद के समक्ष और बाहर दोनों ही जगह यह कथन किया कि इसने नीति विषयक रूप में, नामों के भारत के मुख्य न्यायाधीश द्वारा पास न होने पर, उच्चतर न्यायपालिका में कोई नियुक्ति नहीं की थी।" भारत सरकार का यह प्राख्यान, हमारे समक्ष सुनवाई के समय शपथ पर यह कथन करते हुए दुहराया गया था कि कुछ अपवादों को छोड़कर, उच्चतर न्यायपालिका में सभी नियुक्तियां, एस० पी० गुप्ता वाले मामले में बहुमत की राय के होते हुए भी, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय के अनुसार ही की गई थीं। भारत सरकार के इस आधार का सही महत्व यह है कि इस प्रक्रिया की वास्तविक कार्य पद्धति में कार्य पालिका भी उच्चतर न्यायपालिका में नियुक्तियों के मामले में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की भूमिका को प्राथमिकता देती है, एस० पी० गुप्ता वाले मामले में इस विनिश्चय के होते हुए भी कि प्राथमिकता भारत सरकार के साथ है न कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के साथ।

460. इसलिए, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की भूमिका की प्राथमिकता का प्रश्न इस पृष्ठभूमि में उत्पन्न हुआ है।

461. संविधान के मुख्य उपबंध, मुख्य रूप से जिनके संदर्भ में निर्दिष्ट किए गए प्रश्नों का उत्तर दिया जाना है, निम्न प्रकार हैं —

1993(10) eILR(PAT) SC 1

124. उच्चतम न्यायालय की स्थापना और गठन—(1) भारत का एक उच्चतम न्यायालय होगा जो भारत के मुख्य न्यायमूर्ति और, जब तक संसद विधि द्वारा अधिक संख्या विहित नहीं करती है तब तक सात (1986 की अधिनियम संख्यांक 22 के अनुसार अब यह संख्या पच्चीस है) से अनधिक अन्य न्यायाधीशों से मिलकर बनेगा।

(2) उच्चतम न्यायालय के और राज्यों के उच्च न्यायालयों के ऐसे न्यायाधीशों से परामर्श करने के पश्चात् जिनसे राष्ट्रपति इस प्रयोजन के लिए परामर्श करना आवश्यक समझे, राष्ट्रपति अपने हस्ताक्षर और मुद्रा सहित अधिपत्र द्वारा उच्चतम न्यायालय के प्रत्येक न्यायाधीश नियुक्त करेगा और वह न्यायाधीश तब तक पद धारण करेगा जब तक वह पैंसठ वर्ष की आयु प्राप्त नहीं कर लेता है :

परंतु मुख्य न्यायमूर्ति से भिन्न किसी न्यायाधीश की नियुक्ति की दशा में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से सदैव परामर्श किया जाएगा :

परंतु यह और कि—

(क) कोई न्यायाधीश, राष्ट्रपति को सम्बोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा अपना पद त्याग सकेगा ;

(ख) किसी न्यायाधीश को खंड (4) में उपबंधित रीति से उसके पद से हटाया जा सकेगा।"

×× ×× ×× ××

216 उच्च न्यायालयों का गठन—प्रत्येक उच्च न्यायालय, मुख्य न्यायमूर्ति और ऐसे अन्य न्यायाधीशों से मिलकर बनेगा जिन्हें राष्ट्रपति समय-समय पर नियुक्त करना आवश्यक समझे।

217. उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति और उसके पद की शर्तें—(1) भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से, उस राज्य के राज्यपाल से और मुख्य न्यायमूर्ति से भिन्न किसी न्यायाधीश की नियुक्ति की दशा में उस उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श करने के पश्चात्, राष्ट्रपति अपने हस्ताक्षर और मुद्रा सहित अधिपत्र द्वारा उच्च न्यायालय के प्रत्येक न्यायाधीश को नियुक्त करेगा और वह न्यायाधीश अपर या किसी कार्यकारी न्यायाधीश की दशा में अनुच्छेद 224 में उपबंधित रूप में और किसी अन्य दशा में तब तक पद धारण करेगा जब तक वह बासठ वर्ष की आयु प्राप्त नहीं कर लेता है :

परन्तु—

(क) कोई न्यायाधीश, राष्ट्रपति को सम्बोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा अपना पद त्याग सकेगा;

(ख) किसी न्यायाधीश को उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश पद से हटाने के लिए अनुच्छेद 124 के खंड (4) में उपबंधित रीति से उसके पद से राष्ट्रपति द्वारा हटाया जा सकेगा;

(ग) किसी न्यायाधीश का पद, राष्ट्रपति द्वारा उसे उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त किए जाने पर या राष्ट्रपति द्वारा उसे भारत के राज्य क्षेत्र में किसी अन्य उच्च न्यायालय को अंतरित किए जाने पर रिक्त हो जाएगा।

(2) ....

....

(3) यदि उच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश की आयु के बारे में कोई प्रश्न उठता है तो उस प्रश्न का विनिश्चय भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श करने के पश्चात् राष्ट्रपति द्वारा किया जाएगा और राष्ट्रपति का विनिश्चय अंतिम होगा।"

"222. **किसी न्यायाधीश का एक उच्च न्यायालय से दूसरे उच्च न्यायालय को अंतरण**—(1) राष्ट्रपति, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श करने के पश्चात् किसी न्यायाधीश का एक उच्च न्यायालय से दूसरे उच्च न्यायालय को अंतरण कर सकेगा।

(2) जब कोई न्यायाधीश इस प्रकार अंतरित किया गया है या किया जाता है तब वह उस अवधि के दौरान, जिसके दौरान वह संविधान (पंद्रहवां संशोधन), अधिनियम, 1963 के प्रारंभ के पश्चात् दूसरे उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में सेवा करता है, अपने वेतन के अतिरिक्त ऐसा प्रतिकारात्मक भत्ता, जो राष्ट्रपति आदेश द्वारा नियत करे, प्राप्त करने का हकदार होगा।"

462. **भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को प्राथमिकता**—यह प्रश्न, संविधान के अनुच्छेद 124(2) के अनुसार उच्चतम न्यायालय में और अनुच्छेद 217(1) के अनुसार उच्च न्यायालयों में न्यायाधीशों की नियुक्तियों ; और संविधान के अनुच्छेद 222 के अनुसार एक उच्च न्यायालय से दूसरे उच्च न्यायालय को न्यायाधीश/मुख्य न्यायमूर्ति के अंतरण के प्रयोजनों के लिए उत्पन्न होता है।

463. इस पर चर्चा हम सावधानी के टिप्पण के साथ निम्न प्रकार आरम्भ करते हैं :—

"दानवी शक्ति का स्वामी होना अत्युत्तम है ; किंतु इसका दानव के रूप में प्रयोग करना क्रूरता (तानाशाही) है।"

(शेक्सपियर : "मेजर फार मेजर")

464. प्राथमिकता पर चर्चा यह अवधारण करने के लिए आशयित है कि नियुक्तियों की समेकित प्रक्रिया में अंतर्ग्रस्त सांविधानिक कृत्यकारियों में से कौन व्यक्ति उचित चुनाव

1993(10) eILR(PAT) SC 1

करने के लिए, प्राथमिकता की भूमिका से सलंग्न अत्यधिक भार का निर्वहन करने के लिए अधिक उपयुक्त है और यह चर्चा इसका अवधारण करने के लिए नहीं है कि उनमें से कौन अधिक महत्व पाने का या चर्चा के अंत में विजेता का इनाम का हकदार है। हमारे समक्ष कार्य इस अनुभूति के साथ किया जाना है।

465. किसी सांविधानिक कृत्यकारी की अन्यों जो इस कृत्य के संपादन में साथ-साथ भाग लेते हैं, के ऊपर प्राथमिकता केवल तभी महत्व धारण करती है जब वे एक सहमत निष्कर्ष पर नहीं पहुंच सकते। चर्चा सैद्धांतिक है जब विनिश्चय, जैसा कि मुख्यतया आशयित है, प्रक्रिया में साथ-साथ भाग लेने वाले प्रत्येक व्यक्ति की राय को गणना में लेते हुए सहमति द्वारा किया जाता है। अन्त में प्राथमिकता के प्रश्न को उठाते हुए भिन्नता की स्थिति का प्रत्येक सांविधानिक कृत्यकारी द्वारा यह स्मरण करते हुए अच्छी तरह परिवर्जन किया जाता है कि वे सभी एक संयुक्त प्रयास में भागीदार हैं, जिसका उद्देश्य सभी उपलब्ध व्यक्तियों की तुलनात्मक गुणता का मूल्यांकन करने के पश्चात् नियुक्ति के लिए सबसे अधिक उपयुक्त अभ्यर्थी का पता लगाना और चयन करना है। यह प्रक्रिया इन नियुक्तियों के उच्च महत्व को देखते हुए कार्यपालिका और न्यायपालिका से लिए गए उच्चतम कृत्यकारियों पर सामूहिक रूप से अधिरोपित की गई सांविधानिक बाध्यता का निर्वहन करने में पुनीत कर्तव्य के रूप में पालन की जानी चाहिए। अभिप्राप्त किए गए जाने वाला सामान्य प्रयोजन इस ओर इंगित करता है कि प्रयोजन के महत्व पर बल दिया जाना चाहिए, न कि प्रयोजन को प्राप्त करने के लिए साथ-साथ कार्य कर रहे भागीदारों के तुलनात्मक महत्व पर प्रयोजन पर ध्यान केन्द्रित किया जाना चाहिए जिससे कि प्रत्येक भागीदार की भूमिका के महत्व का उचित मूल्यांकन इस भाव के साथ करने को समर्थ किया जा सके कि उनमें से प्रत्येक की कुछ अंतर्निहित परिसीमाएं हैं और वे केवल सामूहिक रूप से चयनकर्ता के रूप में गठित होते हैं।

466. संयुक्त प्रयास में सामान्य सांविधानिक प्रयोजन को अभिप्राप्त करने की प्रत्येक की बाध्यता के संदर्भ में देखते हुए प्रत्येक कृत्यकारी द्वारा, उन्हें सौंपी गई भूमिका का निर्वहन उनके मध्य प्राथमिकता की संकल्पना से परे होने में समर्थ करेगा। तथापि, यदि उनके मध्य कोई असहमति है जो संयुक्त प्रयास द्वारा सुलझाई नहीं जा सकती तो गतिरोध को दूर करने के लिए प्राथमिकता का प्रश्न उत्पन्न होगा।

467. इस कारण से, यह देखा जाना चाहिए कि कौन सबसे अधिक बेहतर है और प्रयोजन को प्राप्त करने के लिए और कार्य को संतोषजनक रूप से करने के लिए अपने मत में संभाव्य रूप से अधिक सही हो सकता है। दूसरे शब्दों में, प्राथमिकता उस व्यक्ति में निहित होनी चाहिए जो उस क्षेत्र में "विशेषज्ञ" के रूप में व्यवहार किए (समझे) जाने के योग्य है। तब उसके मत को तुलनात्मक रूप से अधिक महत्व दिया जा सकता है।

468. स्वीकृत सामान्य प्रयोजन को प्राप्त करने के लिए समन्वित सहभागितापूर्ण परामर्श प्रक्रिया में सहयुक्त सभी सांविधानिक कृत्यकारियों में पूर्वोक्त बोध (अनुभूति) को सामान्यतया उस स्थिति को रोकना चाहिए जब प्राथमिकता का प्रश्न उत्पन्न होता है; और आपवादिक मामलों में जब यह उत्पन्न होता है तो—प्राथमिकता रखने वाला कृत्यकारी

अन्यों के विचारों का सम्मान करेगा और स्मरण रखेगा कि इससे उसके द्वारा एक बृहत्तर भार वहन करना विवक्षित है। यह उचित भावना में प्राथमिकता के साथ भूमिका को अच्छी प्रकार से करने को निश्चित करेगा और अन्यों के लिए प्राथमिकता को स्वीकार करना सुगम बनाएगा।

नियुक्तियां :

469. उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों में न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है और इसलिए, अंततः एक कार्यपालक कृत्य है। संविधान का अनुच्छेद 74(1) स्पष्ट रूप से उपबंध करता है और उसमें संविधान (चौवालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1978 द्वारा प्रविष्ट किया गया परंतुक यह पुनः प्रवर्तित करता है कि राष्ट्रपति अपने कृत्यों का प्रयोग करते हुए मंत्रिपरिषद द्वारा दी गई सलाह के अनुसार कृत्य करेगा। यदि अनुच्छेद 124(2) और 217(1), उनमें विनिर्दिष्ट कृत्यकारियों से बाध्यकारी परामर्श किए बिना राष्ट्रपति द्वारा न्यायाधीशों की नियुक्तियां किए जाने के लिए उपबंध करते हैं, तो अनुच्छेद 74 के पूर्ण प्रभाव के कारण, इस विवाद के लिए कोई स्थान नहीं होगा कि नियुक्तियां कार्यपालिका द्वारा इसके आत्यंतिक विवेकाधिकार में नहीं की जानी थीं। इस प्रकार की स्थिति संविधान पूर्व समय में भारत शासन अधिनियमों (गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट्स) के अधीन विद्यमान थीं जब प्रचलन में उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति से प्रायिक रूप से परामर्श किया जाता था, चूंकि उच्च न्यायालय का न्यायाधीश क्राउन (सम्राट) के आत्यंतिक विवेकाधिकार में नियुक्त किया जाता था।

470. भारत शासन अधिनियम, 1919 धारा 101 में उच्च न्यायालयों के गठन के लिए उपबंध है; और मुख्य न्यायमूर्ति और स्थायी न्यायाधीशों की नियुक्ति केवल पात्रता की विहित शर्तों के अध्यधीन क्राउन (शासक) के आत्यंतिक विवेकाधिकार में थी। धारा 102 के अनुसार उनके पद का कार्यकाल पूर्णरूप से क्राउन के प्रसाद पर आधारित था।

> *101. **उच्च न्यायालयों का गठन** :
>
> (1) ....
>
> (2) प्रत्येक उच्च न्यायालय में एक मुख्य न्यायमूर्ति और उतने अन्य न्यायाधीश होंगे जो महामहिम नियुक्त करना ठीक समझें।
>
> ××× ××× ×××

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

> **101. Constitution of High courts :**
>
> (1) ....
>
> (2) Each high court shall consist of a Chief Justice and as many other Judges as His Majesty may think fit to appoint,
>
> ××× ××× ××× ×××

1993(10) eILR(PAT) SC 1

102. **उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों का कार्यकाल :**

(1) उच्च न्यायालय का प्रत्येक न्यायाधीश महामहिम के प्रसाद के अधीन पद को धारण करेगा।

× × ×   × × ×   × × ×

471. इसके बाद भारत शासन अधिनियम, 1935 में, संघीय न्यायालय (फेडरल कोर्ट) की स्थापना और गठन के लिए धारा 200 में उपबंध किया गया था, जबकि उच्च न्यायालयों के गठन के लिए धारा 220 में उपबंध किया गया था। इन धाराओं के सुसंगत भाग निम्न प्रकार थे—

* "200. **संघीय न्यायालय की स्थापना और गठन :**

(1) ....

(2) संघीय न्यायालय का प्रत्येक न्यायाधीश महामहिम द्वारा रायल साइन मैन्युअल के अधीन वारंट द्वारा नियुक्त किया जाएगा और वह न्यायाधीश तब तक पद धारण करेगा जब तक वह पैंसठ वर्ष की आयु प्राप्त नहीं कर लेता है।"

परन्तु यह और कि—

(क) कोई न्यायाधीश, गवर्नर जनरल को संबोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख (त्यागपत्र) द्वारा अपना पद त्याग सकेगा।

(ख) किसी न्यायाधीश को उसके पद से, महामहिम द्वारा रायल साइन मैन्युअल के अधीन वारंट द्वारा कदाचार या मानसिक या शारीरिक दुर्बलता के आधार पर हटाया जा सकेगा, यदि प्रिवी कौंसिल की न्यायिक समिति महामहिम द्वारा उन्हें

---

102. **Tenure of Judges of High courts :**

(1) Every Judge of a high court shall hold office during His Majesty's pleasure.

× × ×   × × ×   × × ×   × × ×

*200. **Establishment and Constitution of Federal Court :**

(1) ....

(2) Every Judge of the Federal Court shall be appointed be His Majesty by warrant under the Royal Sign Manual and shall hold office until he attains the age of sixty five years.

Provided that—

(a) a Judge may by resignation under his hand addressed to the Governor-General resigns his office :

(b) a judge may be removed from his office by His Majesty by warrant under the Royal Sign Manual on the ground of misbehaviour or of infirmity of mind or body, if the Judicial Committee of the Privy Council on refernce being made to them by His

निर्देश किए जाने पर रिपोर्ट देती है कि न्यायाधीश को ऐसे किसी आधार पर हटाया जाना चाहिए।

××× ××× ×××

220. **उच्च न्यायालयों का गठन :**

(1) ....

(2) उच्च न्यायालय का प्रत्येक न्यायाधीश महामहिम द्वारा रायल साइन मैन्युअल के अधीन वारंट द्वारा नियुक्त किया जाएगा और वह न्यायाधीश तब तक पद धारण करेगा जब तक वह साठ वर्ष की आयु प्राप्त नहीं कर लेता है :

परंतु यह और कि—

(क) कोई न्यायाधीश, गवर्नर को सम्बोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख (त्यागपत्र) द्वारा अपना पद त्याग सकेगा ;

(ख) किसी न्यायाधीश को उसके पद से, महामहिम द्वारा रायल साइन मैन्युअल के अधीन वारंट द्वारा कदाचार या मानसिक या शारीरिक दुर्बलता (असमर्थता) के आधार पर हटाया जा सकेगा, यदि प्रिवी कौंसिल की न्यायिक समिति महामहिम द्वारा उन्हें निर्देश किए जाने पर रिपोर्ट देती है कि न्यायाधीश को ऐसे किसी आधार पर हटाया जाना चाहिए।

(ग) न्यायाधीश द्वारा अपना पद, महामहिम द्वारा उसे संघीय न्यायालय का

Majesty report that the Judge ought on any such ground to be removed.

××× ××× ×××

220. **Constitution of High Courts :**

(1) ....

(2) Every Judge of a High Court shall be appointed by His Majesty by warrant under the Royal Sign Manual and shall hold office until he attains the age of sixty years :

PROVIDED THAT—

(a) a Judge may, by resignation under his hand addressed to the Governor resigns his office :

(b) a Judge may be removed from his office by His Majesty by warrant under the Royal Sign Manual on the ground of Misbehaviour or of infirmity of mind or body if the Judicial Committee of the Privy Council on reference being made to them by His Majesty report that the Judge ought on any such ground to be removed.

(c) the office of a Judge shall be vacated by his being

या किसी अन्य उच्च न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त किए जाने पर रिक्त किया जाएगा ।

× × × × × × × × ×

472. इस प्रकार, भारत शासन अधिनियम, 1935 के अधीन भी, संघीय न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्तियां सम्राट (क्राउन) या दूसरे शब्दों में कार्यपालिका के आत्यंतिक विवेकाधिकार में की जाती थीं तथा नियुक्ति प्रक्रिया में मुख्य न्यायमूर्ति के साथ परामर्श के लिए कोई विनिर्दिष्ट उपबंध नहीं था । भारत शासन अधिनियमों के अधीन मुख्य न्यायमूर्ति के साथ यदि कोई परामर्श था भी तो वह, कार्यपालिका को यदि यह ऐसा चाहे तो उस मत को विचार में लेने के समर्थ मात्र करना था, किंतु मुख्य न्यायमूर्ति के साथ पूर्व परामर्श, अनिवार्य पूर्वापेक्षाएं नहीं थीं ।

473. जब संविधान प्रारूपित किया जा रहा था, तब सामान्य सहमति थी कि उच्चतर न्यायपालिका के न्यायाधीशों की नियुक्तियां कार्यपालिका के आत्यंतिक विवेकाधिकार के अधीन नहीं छोड़ी जानी चाहिए, और यही कारण था कि भारत के मुख्य-न्यायमूर्ति और उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श करने की बाध्यता अधिरोपित करते हुए संविधान में उपबंध किया गया था । यह उच्चतर न्यायपालिका के न्यायाधीशों की स्वतंत्रता उनकी नियुक्ति किए जाने के पश्चात् केवल कार्यकाल और सेवा की अन्य शर्तों की सुरक्षा के उपबंध तक सीमित करने के बजाए उनकी नियुक्ति के समय भी प्राप्त करने के लिए किया गया था । यह महसूस किया गया था कि न्यायपालिका की स्वतंत्रता, नियुक्ति के पश्चात् कार्य काल और सेवा की अन्य शर्तों की सुरक्षा का उपबंध मात्र करके भी (सुरक्षित) संरक्षित नहीं की जानी थी, अपितु नियुक्तियां करने में राजनीतिक विचारणाओं के प्रभाव को निवारित (रोकने) करके भी की जानी थी, यदि यह नियुक्ति प्राधिकारी के रूप में कार्यपालिका के आत्यंतिक विवेकाधिकार पर छोड़ी जाती है । यही वह कारण है जिसने भारत के मुख्य न्यायमूर्ति और उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति के साथ परामर्श करने की बाध्यता को अनुच्छेद 124 (2) और 217 (1) में निगमित करने को मजबूर किया था । संविधान सभा चर्चाएं इस प्रयोजन को ऐसे परामर्श के लिए विहित करके प्रकट करती हैं यद्यपि नियुक्ति अंततः एक कार्य पालिक कृत्य है ।

474. सांविधानिक स्कीमों में भारत शासन अधिनियमों में पूर्वतर पद्धति जिसमें नियुक्तियां सम्राट के आत्यंतिक विवेकाधिकार में थीं, से यह स्पष्ट विचलन निश्चित रूप से यह इंगित करता है कि नियुक्तियों के विषय में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की प्रधानता (प्राथमिकता) के प्रश्न का विचार किए बिना, उसमें दिए गए सांविधानिक उपबंधों का आत्यंतिक विवेकाधिकार के रूप में या भारत सरकार का परामर्श की अपेक्षा को औपचारिकता के रूप में पूर्ण करने के पश्चात् यद्यपि न्यायपालिका के परामर्शदाताओं द्वारा दी गई राय प्रतिकूल है, अपने रुचि की नियुक्तियां करने की प्राथमिकता के रूप में अर्थान्वयन नहीं किया

---

appointed by His Majesty to be a Judge of the Federal Court or of another High Court.

× × × × × × × × × × × ×

जा सकता। हमारे मत में, भारत के संविधान में, भारत शासन अधिनियमों के अधीन पूर्वतर स्कीम से किया गया यह विचलन, स्वयं में ही इस मत को नकारने के लिए एक ठोस (सशक्त) परिस्थिति है कि सांविधानिक स्कीम में, सभी मामलों में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के साथ बाध्यकारी परामर्श करने और किसी उच्च-न्यायालय में नियुक्ति के मामले में उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति के साथ बाध्यकारी परामर्श करने के आदेश के होते हुए भी, भारत सरकार की राय को प्राथमिकता दी गई है।

475. इसलिए, इस विचारणा को अन्य परामर्शदाताओं और केन्द्रीय सकार की राय के मुकाबले में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय को दिए जाने वाले तुलनात्मक महत्व तक सीमित किया जाना चाहिए।

476. इसको देखते हुए, न्यायमूर्ति भगवती (जो वह तत्समय थे) द्वारा **एस० पी० गुप्ता**[1] वाले मामले में किया गया मत, जो उसमें बहुमत की राय को प्रकट करता है, कम-से-कम इसमें इंगित की गई सीमा तक इस सांविधानिक स्कीम के विरोध में है, और इस संबंध में अनुच्छेद 124 (2) और 217 (1) में उपबंधों का सही अर्थान्वियन प्रतीत नहीं होता है। इस आशय के न्यायमूर्ति भगवती के मत के कुछ भाग निम्न प्रकार हैं :—

> "..........इन अनुच्छेदों का परिशीलन करने से यह स्पष्ट है कि भारत का मुख्य न्यायाधिपति (न्यायमूर्ति) उच्च न्यायालय का मुख्य न्यायमूर्ति और उच्च न्यायालयों तथा उच्चतम न्यायालय के ऐसे न्यायमूर्ति/न्यायाधिपति जिनसे परामर्श करना केन्द्रीय सरकार उचित समझे, मात्र सांविधानिक कृत्यशील होते हैं जिन्हें परामर्श देने की भूमिका निभानी होती है और नियुक्ति की शक्ति अनन्यता और अपवर्जित रूप से केन्द्रीय सरकार में निहित होती है।
>
> ....इसलिए केन्द्रीय सरकार को इस बात की स्वतंत्रता है कि वह परामर्श किए जाने के लिए अध्यपेक्षित सांविधानिक अंगों द्वारा प्रदत्त राय को अध्यारोहित करे और उच्च न्यायालय अथवा उच्चतम न्यायालय में क्रमशः न्यायाधीश अथवा न्यायाधिपति (न्यायमूर्ति) की नियुक्ति के बारे में स्वयं अपने विनिश्चय करे जहां तक ऐसा विनिश्चय सुसंगत विचार्य विषयों पर आधारित हो और अन्यथा असद्भावपूर्वक न हो। यद्यपि सभी सांविधानिक अंगों द्वारा, जिनसे परामर्श किया गया हो, दी गई राय समरूप हो, तथापि केन्द्रीय सरकार इस बात के लिए आबद्ध नहीं है कि वह ऐसी राय के अनुकूल कार्यवाही करे...............।" (जोर देने के लिए रेखांकन किया गया है।)
>
> (पृष्ठ 541-42)

477. यह स्पष्ट है कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के साथ और उच्च न्यायालयों के मामलों में उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति के साथ परामर्श के लिए इस बात को महसूस करने के कारण उपबंध किया गया था कि मुख्य न्यायमूर्ति अभ्यर्थी की योग्यता और वरिष्ठ

[1] [1982] 4 उम० नि० प० 1=1982 (2) एस० सी० सी० 365.

न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति के लिए उसकी उपयुक्तता को जानने और उसका निर्धारण करने के लिए बेहतर स्थिति में है; और यह किसी न्यायाधीश की नियुक्ति के प्रारम्भिक प्रक्रम पर राजनीतिक प्रभाव को समाप्त करने के लिए भी आवश्यक था, चूंकि नियुक्ति के पश्चात् उसकी स्वतंत्रता को सुनिश्चित करने के लिए उपबंध, स्वतंत्र न्यायपालिका के लिए अकेले ही पर्याप्त नहीं थे। इसी बीच प्रयुक्त की गई शब्दावली इंगित करती है कि नियुक्तियों के मामले में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को वैयक्तिक रूप में आत्यंतिक विवेकाधिकार या निषेध-अधिकार देना, वांछनीय विचार नहीं किया गया था, जिससे कि कार्यपालिका के पास कुछ शक्ति बनी रहे, जो जब कभी आवश्यक हो, नियंत्रण के रूप में प्रयोग की जा सके। यह इंगित करता है कि नियुक्ति के लिए उपयुक्त अभ्यर्थी के चुनाव में, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय को अधिकतम महत्व दिया जाना चाहिए; चयन सहभागितापूर्ण परामर्श प्रक्रिया के परिणाम के रूप में किया जाना चाहिए जिसमें सांविधानिक प्रयोजन को प्राप्त करने के लिए कार्यपालिका में भारत के मुख्य-न्यायमूर्ति द्वारा शक्ति के प्रयोग पर मात्र नियंत्रण के रूप में कृत्य करने की शक्ति होनी चाहिए। इस प्रकार नियुक्ति प्रक्रिया में कार्यपालिका की भागीदारी को न्यूनतम कर दिया गया है और राजनीतिक प्रभाव को समाप्त किया गया है। यह इस कारण से था कि शब्द "सहमति" के स्थान पर "परामर्श" प्रयुक्त किया गया था, किन्तु वह मात्र यह इंगित करने के लिए किया गया था कि आत्यंतिक विवेकाधिकार किसी को भी यहां तक कि वैयक्तिक रूप में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को भी नहीं दिया गया था, और कार्यपालिका का तो प्रश्न ही नहीं है जिसे पूर्व में भारत शासन अधिनियमों के अधीन आत्यंतिक विवेकाधिकार प्राप्त था।

478. मुख्य उद्देश्य सभी परामर्शदाताओं के विचारों को गणना में लेते हुए और भारत के मुख्य न्यायमूर्ति जो जैसा कि पहले ही कथन किया जा चुका है, नियुक्त व्यक्ति की योग्यता को जानने के लिए सबसे बेहतर है, की राय को अधिकतम महत्व देते हुए एक सहमत निनिश्चय पर पहुंचने का होना चाहिए। प्राथमिकता का तब कोई प्रश्न उद्भूत नहीं होगा जब विनिश्चय सहमति द्वारा इस तरीके से राय की कोई भिन्नता के बिना किया जाता है। तथापि, यदि प्रक्रिया के अंत में परस्पर विरोधी मत उद्भूत होते हैं केवल तभी किसी परामर्शदाता के मत को प्राथमिकता देने का प्रश्न उत्पन्न होता है। पूर्व में इंगित किए गए कारणों से कार्यपालिका के मत को प्राथमिकता ऐतिहासिक परिवर्तन और प्रत्येक द्वारा किए जाने को अपेक्षित कृत्यों की प्रकृति द्वारा अस्वीकार (नकारना) की जाती है। इसलिए, प्राथमिकता भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की अंतिम राय को दी जाती है, जब तक कि कार्यपालिका को ज्ञात और भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को प्रकट किए गए अत्यंत अच्छे कारणों से उक्त नियुक्ति उपयुक्त विचारगत नहीं की जाती।

479. यह आश्चर्यजनक नहीं है यदि हम यह स्मरण करें कि यूनाइटेड किंगडम (ब्रिटेन) में भी जहां कि इसी भाँति की न्यायिक नियुक्तियां कार्यपालिका के आत्यंतिक विवेकाधिकार में हैं, यह नियुक्तियां प्रधानमंत्री द्वारा लार्ड चांसलर के साथ परामर्श करने के पश्चात् जो अपना चुनाव करने से पूर्व स्वयं न्यायपालिका के वरिष्ठ-सदस्यों से परामर्श करता है या प्रधानमंत्री के साथ परामर्श करता है, प्रधान मंत्री की सलाह पर कान्वेंशन द्वारा की जाती है और "प्रधान मंत्री केवल अत्यंत ही आपवादिक मामलों में लार्ड चांसलर की

1993(10) eILR(PAT) SC 1

सिफारिशों से विचलन करेगा।" (देखिए "दि पालिटिक्स ऑफ जुडीशियरी"—जे० ए० जी० ग्रिफिथ, पृष्ठ 17, 18) लार्ड चांसलर, लार्ड मेके, ने हाल ही में, "लोकतंत्र में न्यायाधीश की भूमिका" पर बोलते हुए कहा कि :—

> "हमारे लोकतंत्र में लार्ड चांसलर की अत्यंत महत्वपूर्ण जिम्मेदारियों में से एक जिम्मेदारी न्यायिक नियुक्तियों के लिए है। यह सुनिश्चित करना मेरा कर्तव्य है कि न्यायाधीशों की नियुक्ति में न तो राजनीतिक पक्षपात की कोई भूमिका हो और न ही वैयक्तिक पक्षपात की और न ही विद्वेष की ओर यह कि वे लिंग, मूल वंश, उत्पत्ति या धर्म का विचार किए बिना उनका न्यायिक पद की सत्यनिष्ठ (महत्वपूर्ण) जिम्मेदारी का वहन करने की योग्यता के आधार पर चयन किया जाता है। मुझे ऐसे लोगों की खोज है जो सत्यनिष्ठा, व्यावसायिक योग्यता, अनुभव, अवस्थिति, सही मनोदशा और अच्छे स्वास्थ्य से युक्त हैं। इसे हासिल करने के लिए मैं न्यायाधीशों, ला लार्डस और विधिक व्यवसाय के अन्य सदस्यों के साथ और विस्तृत रूप से और नियमित रूप से परामर्श करता हूं। मैं नैसर्गिक रूप से उच्च न्यायालय की डिवीजनों की राय को विशिष्ट महत्व देता हूं। इसलिए न्यायाधीशों की न्यायिक नियुक्तियों में एक महत्वपूर्ण भूमिका है, जोकि कानून द्वारा विहित किए जाने के बजाए यद्यपि अनौपचारिक है।" (जोर देने के लिए रेखांकन किया गया है।)
>
> ("कामनवैल्थ ला बुलेटिन", जिल्द 18, संख्या 4, अक्तूबर, 1992, पृष्ठ 1257)।

480. भारतीय संविधान में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के साथ परामर्श के लिए स्पष्ट उपबंध होने पर, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की भूमिका, यूनाइटेड किंगडम (ब्रिटेन) में लार्ड चांसलर की भूमिका के मुकाबले कम महत्व की नहीं है।

481. एस० पी० गुप्ता वाले मामले में इस आशय की बहुमत की राय कि कार्यपालिका को प्राथमिकता प्राप्त होनी चाहिए, चूंकि यह जनता के प्रति जवाबदेह है, जबकि न्यायपालिका की ऐसी कोई, जवाबदेही नहीं है, यह एक ऐसा मिथक (भ्रम) है जो सुगमता से निर्मूल सिद्ध किया जा सकता है, एक बुलबुले के समान जो मात्र स्पर्श करने पर समाप्त हो जाता है। वरिष्ठ न्यायाधीशों की नियुक्तियों के मामले में कार्यपालिका की जनता के प्रति जवाबदेही की धारणा की गई है और इसका कोई वास्तविक आधार नहीं होता है। संविधान के अनुच्छेद 121 और 211 द्वारा आरोपित निर्बन्धन के कारण विधानमंडल में किसी वैयक्तिक नियुक्ति के गुणागुण पर चर्चा करने के लिए कोई कारण नहीं है। अनुभव से यह मालूम होता है कि यह किसी राजनीतिक दल के घोषणापत्र का कोई भाग रूप भी नहीं है और यह ऐसा विषय नहीं है जिस पर चुनाव प्रचार के दौरान चर्चा की गई है या की जा सकती है। इस प्रकार ऐसी कोई रीति नहीं है, जिसमें किसी वैयक्तिक—न्यायाधीश की नियुक्ति के मामले में कार्यपालिका की धारणाकृत जवाबदेही को उठाया जा सके, या उसे किसी समय उठाया गया हो। दूसरी-ओर, वास्तविक स्थिति में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति और उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति को न्यायालयों की कार्य प्रणाली के लिए जिम्मेदार

होने के कारण उन्हें किसी ऐसी अनुपयुक्त के परिणाम का सामना करना होता है जो सदा सतर्क बार (संयुक्ततः बैरिस्टर और अधिवक्ता) द्वारा की गई आलोचनाओं के कारण व्युत्पन्न होता है। उक्त विवाद मुख्यतः न्यायालयों में उठाया जाता है। इसी भांति उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय के न्यायाधीश जो न्यायालयों की कार्य प्रणाली में मुख्य न्यायमूर्ति के साथ भाग लेते हैं और जिनकी राय चयन प्रक्रिया में विचार में ली जाती है, परिणामों को वहन करते हैं और उनके लिए उत्तरदायी होते हैं। इस प्रकार, वास्तविक स्थिति में वरिष्ठ न्यायाधीशों की नियुक्तियों के मामले में वास्तविक उत्तरदायित्व, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति और उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायमूर्तियों का होता है, न कि कार्यपालिका का, जिसने सदैव यह कहा है, जैसा कि इसने हमारे समक्ष सुनवाई के दौरान कहा है कि विरल उदाहरणों के सिवाय, कार्यपालिका नियुक्तियों के विषय में, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय द्वारा मार्गदर्शित होती है।

482. यदि वरिष्ठ न्यायाधीशों की नियुक्तियों के संबंध में सांविधानिक उपबंधों की यही वास्तविक स्थिति है, जिसमें कार्यपालिका स्वयं यह विनिश्चय करती है कि यह भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय को प्राथमिकता देती है, और उत्तरदायित्व के मामले में भी यह मुख्य रूप से भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के उत्तरदायित्व को इंगित करती है, तो यह बात तर्क संगत प्रतीत होती है कि वास्तविक पद्धति को भी सांविधानिक स्कीम के अनुरूप होने के कारण, अनुज्ञेय सांविधानिक निर्वचन द्वारा विधिक मंजूरी प्रदान की जानी चाहिए। एस० पी० गुप्ता वाले मामले में बहुमत द्वारा अपनी राय के लिए दिया गया यह तर्क कि, कार्यपालिका को प्राथमिकता प्राप्त है, संवीक्षा पर खरा नहीं उतरता है और प्रचलित पद्धति और कार्यपालिका के दृष्टिकोण के भी अनुरूप नहीं है।

483 तथापि, इस पर जोर देने की आवश्यकता कोई नहीं है कि इस सन्दर्भ में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय की प्राथमिकता, वास्तविक रूप में सामूहिक रूप से विरचित की गई भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय की प्राथमिकता है, अर्थात् अपने वरिष्ठ सहकर्मियों, जिनसे उन्हें अपनी राय बनाने के लिए परामर्श करना अध्यपेक्षित है, की राय को विचार में लेने के पश्चात् बनायी गई राय।

484 संविधान के अनुच्छेद 74(1) में उपबंध को देखते हुए, अनुच्छेद 124(2) और 217(1) में अभिव्यक्ति "राष्ट्रपति" से यह अभिप्रेत है कि राष्ट्रपति, मन्त्रिपरिषद जिसका अध्यक्ष प्रधानमंत्री होगा, की सलाह के अनुसार कार्य करेगा; और मंत्रिपरिषद द्वारा दी गई सलाह संविधान में दिए गए आदेश के अनुसार होनी चाहिए, या दूसरे शब्दों में, संविधान का निर्वचन करने के अपने सांविधानिक कर्त्तव्य का निर्वहन करने में इस न्यायालय द्वारा अनुच्छेद 124(2) और अनुच्छेद 217(1) के किए गए अर्थान्वयन के अनुसार होनी चाहिए। सुतराम, मंत्रिपरिषद् द्वारा दी गई सलाह, जो राष्ट्रपति को आबद्ध करती है और उससे उसके अनुसार कार्य करने की अपेक्षा करती है सांविधानिक उपबंधों के अनुसार दी गई सलाह होनी चाहिए, जैसा कि इस न्यायालय द्वारा निर्वचन किया गया है।

485. भारत के मुख्य न्यायमूर्ति और उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति से आज्ञापक रूप से परामर्श करने की अनुच्छेद 124(2) और अनुच्छेद 217(1) की अध्यपेक्षा के

होते हुए भी, यदि यह अभिनिर्धारित किया जाए कि मंत्रिपरिषद् को भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय की अनदेखी करते हुए प्रतिकूल सलाह देने का असीमित विवेकाधिकार है और राष्ट्रपति उक्त सलाह के अनुसार कृत्य करने को संविधान के अनुच्छेद 74(1) द्वारा आबद्ध है, तब अनुच्छेद 124(2) और अनुच्छेद 217(1) में परामर्श करने की आज्ञापक अध्यपेक्षा पुरःस्थापित (प्रविष्ट) करने का सांविधानिक प्रयोजन, निरर्थक हो जाएगा। यह इस कारण से है कि उच्चतर न्यायपालिका के न्यायाधीशों की नियुक्तियों के मामले में अनुच्छेद 74(1) का अनुच्छेद 124(2) और अनुच्छेद 217(1) के साथ पारस्परिक प्रभाव और सामंजस्यीकरण को सांविधानिक प्रयोजन पूरा करने के लिए ध्यान में रखना होगा। संक्षेप में उच्चतर न्यायपालिका के न्यायाधीशों की नियुक्तियों के मामले में सांविधानिक अध्यपेक्षा यह है कि राष्ट्रपति को जैसा कि अनुच्छेद 74(1) में उपबंध किया गया है मंत्रिपरिषद् की सलाह के अनुसार कार्य करना होता है और मंत्रिपरिषद की सलाह संविधान के अनुच्छेद 124(2) और अनुच्छेद 217(1) के अनुसार दी जानी चाहिए जैसा कि इस न्यायालय द्वारा अर्थान्वियन किया गया है। इस विषय में अनुच्छेद 74(1) को अनुच्छेद 124(2) और अनुच्छेद 217(1) की अध्यपेक्षा द्वारा सीमित किया गया है और इन सभी को एक साथ पढ़ा जाना चाहिए।

486. पूर्वोक्त मत, संविधान में उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों को पद से हटाने से संबंधित उपबंधों से मेल भी खाता है। उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश का अनुच्छेद 124 के खण्ड (4) और (5) के अनुसार और इसी भांति किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश का जैसा कि अनुच्छेद 218 में उपबंध किया गया है, पद से हटाए जाने के संबंध में एक भिन्न स्कीम का अनुसरण करना अपेक्षित है, जिसे अपने निबंधनों में अनुच्छेद 74(1) स्पष्टतः लागू नहीं होता हैं। यह सुझाव नहीं दिया जा सकता कि उच्चतम न्यायालय या किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश को पद से हटाने का आदेश करते समय राष्ट्रपति, संविधान में निगमित न्यायाधीश को पद से हटाए जाने से संबंधित विशेष उपबंधों को अनदेखा करते हुए अनुच्छेद 74(1) के अनुसार मंत्रिपरिषद् की सलाह द्वारा पूर्णतः विनियमित होना चाहिए। इसी भांति नियुक्तियों के मामले में नियुक्ति के लिए प्रक्रिया विहित करने वाले विशेष उपबंध महत्वपूर्ण हैं और सही अर्थान्वियन करने के लिए अनुच्छेद 74(1) को उसके साथ पढ़ा जाना चाहिए न कि अलग करके।

487. भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की भूमिका की प्राथमिकता के प्रश्न की परीक्षा मात्र इस तथ्य के संदर्भ में कि नियुक्ति कार्यपालिक कृत्य है या केवल प्रक्रिया में अंतर्ग्रस्त विभिन्न परामर्शदाताओं की तुलनात्मक सांविधानिक प्रास्थिति के संदर्भ में ही नहीं की जानी है अपितु इन उपबंधों द्वारा प्राप्त किए जाने के ईप्सित सांविधानिक प्रयोजन और उस रीति में जिसमें, उक्त प्रयोजन को अच्छी प्रकार प्राप्त किया जा सकता है, के भी संदर्भ में की जानी है।

488. नियुक्ति की समाकलित प्रक्रिया में न्यायपालिका और इसी भांति कार्यपालिका की भूमिका से सम्बन्धित उपबंध मात्र यह इंगित करते हैं कि यह एक सहभागितापूर्ण परामर्शकारी प्रक्रिया है और यह प्रयोजन तभी अच्छी तरह पूरा होता है यदि सभी परामर्शदाताओं

के मध्य प्रभावी परामर्शकारी प्रक्रिया के अंत में परस्पर सहमति द्वारा विनिश्चय किया जाता है और तब किसी परामर्शदाता को प्राथमिकता देने का कोई प्रश्न नहीं उठता। सांविधानिक उपबंधों द्वारा मुख्यत: यही इंगित होता है। सांविधानिक प्रयोजन तभी अच्छी तरह से पूरा होगा यदि विनिश्चय परामर्शदाताओं में से किसी को उनमें किसी भिन्न राय के कारण प्राथमिकता देने की आवश्यकता के बिना सबकी सहमति से किया जाता है। सांविधानिक कृत्यकारियों में से किसी की राय को प्राथमिकता देने का प्रश्न-केवल तभी उत्पन्न होगा यदि परामर्शकारी प्रक्रिया का परिणाम, सर्वसम्मति द्वारा व्यक्त की गई एक राय नहीं है।

489. इन उपबंधों द्वारा पूरा किए जाने वाला सांविधानिक प्रयोजन उन कृत्यकारियों के साथ जो चयन करने के लिए सभी प्रकार से योग्य हैं, परामर्श करने के पश्चात् उच्चतर न्यायपालिका के न्यायाधीशों के रूप में नियुक्ति के लिए उपलब्ध अभ्यर्थियों में से सर्वश्रेष्ठ का चयन करना है। यह स्पष्ट है कि उच्चतर न्यायपालिका के न्यायाधीशों के रूप में नियुक्त किए जाने के लिए केवल उन व्यक्तियों पर विचार किया जाना चाहिए जो एक योग्य, स्वतंत्र और निडर न्यायाधीश बनने के लिए आवश्यक योग्यताएं रखते हैं। ऐसा व्यक्तित्व गठित करने के लिए अनेक योग्यताएं एक साथ सम्मिलित होती है। विधिक निपुणता (सुविज्ञता), मामलों को निपटाने (सम्हालने) की योग्यता, उचित व्यक्तिगत आचरण और नीतिपरक व्यवहार, दृढ़ता और निडरता, एक वरिष्ठ न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति के लिए उपयुक्त व्यक्ति की स्पष्ट आवश्यक योग्यताएं (गुण) हैं। उच्च न्यायालयों में न्यायाधीशों की आरम्भिक नियुक्ति बार और अधीनस्थ न्यायपालिका से की जाती है। उच्चतम न्यायालय में नियुक्ति मुख्य रूप से उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के बीच से की जाती है और किसी अवसर पर बार से सीधे की जाती है। उन व्यक्तियों का कार्यक्षेत्र न्यायालय हैं। इसलिए, यह स्पष्ट है कि उनकी योग्यता और गुणों का मूल्यांकन करने के लिए अधिकतम अवसर न्यायालयों में है और इसलिए न्यायाधीशों के रूप में नियुक्ति के लिए उनकी सही योग्यता और उपयुक्तता का मूल्यांकन करने के लिए न्यायाधीश सबसे अधिक उपयुक्त हैं। सभी न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के साथ और किसी उच्च न्यायालय में न्यायाधीश के पद पर नियुक्ति के मामले में उस उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति के साथ परामर्श करने की अध्यपेक्षा को प्रविष्ट करने के लिए स्पष्टतया यही कारण है। यहां तक कि बार के सदस्यों और न्यायाधीशों के व्यक्तिगत गुणों की भी भारत के मुख्य न्यायमूर्ति और उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति को पूर्ण रूप से प्राय: जानकारी होती है जो विभिन्न स्रोतों से उक्त सूचना को प्राप्त करते हैं। तथापि, किसी वैयक्तिक अधिवक्ता या न्यायाधीश के कुछ ऐसे व्यक्तिगत गुण हो सकते हैं जो कार्यपालिका को अच्छी प्रकार ज्ञात हों और भारत के मुख्य न्यायमूर्ति और उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति को उनकी जानकारी न हो जो एक अच्छा न्यायाधीश होने के लिए उसके सामर्थ्य का मूल्यांकन करने के लिए सुसंगत हो सकते हैं। यह इस कारण से है कि कार्यपालिका भी नियुक्ति की प्रक्रिया में परामर्शदाताओं से से एक है। उच्चतर न्यायपालिका के गठन के लिए सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों का चयन करने का उद्देश्य केवल न्यायपालिका के साथ परामर्श की अपेक्षा करके प्राप्त किया जाता है अपितु कार्यपालिका से भी परामर्श करने की अध्यपेक्षा करके प्राप्त किया जाता है जिससे यह सुनिश्चित हो सके

कि अभ्यर्थी के संबंध में प्रत्येक सुसंगत विशिष्टि ज्ञात हो सके और नियुक्ति किए जाने के पूर्व सभी परामर्शदाताओं के मध्य प्रभावी परामर्श के परिणामस्वरूप उसका सम्यक् रूप से मूल्यांकन किया जा सके। यह न्यायाधीशों की नियुक्ति की प्रक्रिया में न्यायपालिका और कार्यपालिका को सुपुर्द की गई भूमिका है जो उनकी राय में किसी भिन्नता की दशा में उनके मध्य प्राथमिकता के प्रश्न का विनिश्चय करने के लिए सही कसौटी है। वह उत्तर, जो इस सांविधानिक प्रयोजन को पूरा करता है, सही उत्तर होगा।

490. यह इंगित किया गया है कि न्यायपालिका के इस निमित्त सबसे अधिक उपयुक्त होने के कारण और उसे उसके अभ्यर्थियों की सही योग्यता का मूल्यांकन करने के लिए अत्युत्तम अवसर प्राप्त होने के कारण वरिष्ठ न्यायाधीशों के रूप में नियुक्ति के लिए उपलब्ध सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों का चयन करने के लिए सांविधानिक प्रयोजन, न्यायपालिका को एक परामर्शदाता के रूप में नियुक्ति की प्रक्रिया में एक अधिक महत्वपूर्ण भूमिका सौंपने के द्वारा अच्छी प्रकार पूरा किया जाता है। इस संदर्भ में एकमात्र प्रश्न इसके महत्व की सीमा और भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की भूमिका की प्राथमिकता का सही अर्थ है।

491. यह अधिक महत्व की बात है कि न्यायमूर्ति भगवती (जैसा वह तत्समय थे), ने एस० पी० गुप्ता वाले मामले में बहुमत की राय से सहमति व्यक्त करने के पश्चात्, **अशोक कुमार यादव और अन्य बनाम हरियाणा राज्य और अन्य**[1] वाले मामले में संविधान न्यायपीठ की ओर से बोलते हुए सर्वसम्मत दृष्टिकोण अपनाते हुए निम्न कथन किया :—

> "हम यह भी संकेत करना चाहेंगे कि कुछ राज्यों में, और हरियाणा राज्य उनमें से एक है, यहां परिपाटी अपनाई जाती है कि उच्च न्यायालय के सेवानिवृत्त न्यायाधीश को राज्य की न्यायिक-सेवा में भर्ती के लिए चयन के समय विशेषज्ञ के रूप में बुलाया जाता है और ऐसे सेवानिवृत्त उच्च न्यायालय के न्यायाधीश द्वारा दी गई सलाह, जो मौखिक परीक्षा में एक विशेषज्ञ के रूप में भाग लेता है, लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष और सदस्यों द्वारा कभी-कभी उपेक्षित कर दी जाती है। हमारी राय में यह परिपाटी, अवांछनीय है और हमें अच्छी नहीं लगती। जब राज्य की न्यायिक सेवा में चयन किए जा रहे हों तो यह देखने के लिए अत्यंत सावधानी बरतने की आवश्यकता है कि अत्यंत उच्च कोटि में योग्यता और निष्ठा रखने वाले सक्षम और योग्य व्यक्ति चुने जाएं क्योंकि यदि हमारे पास अच्छे, सक्षम और ईमानदार न्यायाधीश नहीं होंगे तो स्वयं राज्य का लोकतांत्रिक ढांचा गम्भीर खतरे का शिकार हो जाएगा। अतः आवश्यक है कि जब न्यायिक सेवा में चयन किए जा रहे हों तो राज्य के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा नामनिर्दिष्ट किए जाने वाले उच्च न्यायालय के वर्तमान न्यायाधीश को साक्षात्कार में विशेषज्ञ के रूप में भाग लेने के लिए आमंत्रित किया जाना चाहिए और चूंकि ऐसा वर्तमान न्यायाधीश एक विशेषज्ञ के रूप में आता है, जो इस तथ्य के कारण कि वह उच्च न्यायालय का एक वर्तमान न्यायधीश है, साक्षात्कार के लिए आए अभ्यर्थियों की गुणता और चरित्र को जानता है, अतः

[1] [1985] 3 एस० सी० आर० 1061=(1985) 4 एस० सी० सी० 417.

सामान्यतया उसके द्वारा दी गई सलाह स्वीकार की जानी चाहिए, जब तक कि ऐसी सलाह को स्वीकार न करने के बहुत प्रबल और उपयुक्त कारण न हों और ऐसे प्रबल और उपयुक्त कारण लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष और सदस्यों द्वारा लेखबद्ध किए जाने चाहिए। हम यह निदेश प्रत्येक राज्य के लोक सेवा आयोग को दे रहे हैं क्योंकि हम इस बात के लिए चिन्तित है कि न्यायिक सेवा में सर्वश्रेष्ठ प्रतिभा की भर्ती हो और ऐसा एक वास्तविक विशेषज्ञ द्वारा ही सम्भव हो सकता है, जिसकी सलाह चयन प्रक्रिया में एक निश्चायक तत्व होती है।" (जोर देने के लिए रेखांकन किया गया है) (पृष्ठ 456-57)

492. हम अधीनस्थ न्यायपालिका के संदर्भ में व्यक्त किए गए पूर्वोक्त मत से सादर सहमत हैं और हम यह भी कहना चाहेंगे कि यह उच्चतर न्यायपालिका को की गई नियुक्तियों के संदर्भ में और भी अधिक सही है। एस० पी० गुप्ता वाले मामले में न्यायमूर्ति भगवती की बहुमत की राय अशोक कुमार यादव वाले मामले में संविधान पीठ की पूर्वोक्त सर्वसम्मत राय के साथ पढ़ी जानी चाहिए।

493. यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि गैर-मनमानेपन का सिद्धांत जो विधिसम्मत शासन का एक आवश्यक गुण है, संविधान में सर्वत्र व्याप्त है और इस सिद्धांत का एक गुण सांविधानिक क्रियाकलाप के किसी भी क्षेत्र में एक व्यक्ति में आत्यंतिक शक्ति का न होना है। सांविधानिक निर्वचन में मनमानेपन के अनुचित प्रवेश की संभावना को ध्यान में रखना चाहिए और उससे परहेज (दूर रहना) करना चाहिए और इसलिए प्राथमिकता के संदर्भ में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय का अर्थ अभिनिश्चित किया जाना चाहिए। कोई सामंजस्यपूर्ण मिश्रण जो सांविधानिक प्रयोजन और इसकी प्रकृति के अनुसार है यह इंगित करता है कि यह भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय द्वारा प्रतीक रूप में अभिव्यक्त की गई न्यायपालिका की राय है जिसे नियुक्तियों के मामले में अत्यंत महत्व या प्राथमिकता दी गई है। दूसरे शब्दों में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति का मत न्यायपालिका की राय के सही प्रतिबिम्ब के रूप में परामर्शकारी प्रक्रिया में अभिव्यक्त किया जाना चाहिए, जिससे यह अभिप्रेत है कि इसके गठन में विविधता का तत्व आवश्यक रूप से होना चाहिए। इससे प्रचलित पद्धति में यह दर्शित होता है कि भारत का मुख्य न्यायमूर्ति किस प्रकार कार्य करता है और उससे कृत्य करने की प्रत्याशा की जाती है जिससे कि उसके द्वारा अभिव्यक्त की गई अंतिम राय मात्र उसकी वैयक्तिक राय न हो, अपितु कुछ अन्य न्यायाधीशों जो इस कृत्य से परम्परागत रूप से सहयुक्त हैं, के विचारों को गणना में लेने के पश्चात् विरचित की गई सामूहिक राय हो।

494. इस प्रक्रिया में न्यायपालिका की प्राथमिकता को देखते हुए अगला प्रश्न इस प्रयोजन को प्राप्त करने के लिए रीति का है। सांविधानिक उपबंधों में यह संकेत भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के पद के प्रति निर्देश से पाया जाता है, जिसे इस उद्देश्य को व्यावहारिक रीति में प्राप्त करने के लिए नामित किया गया है। भारत के मुख्य-न्यायमूर्ति द्वारा प्रतीक रूप में अभिव्यक्त की गई न्यायपालिका की राय, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के साथ परामर्श करके प्राप्त की जानी है और वह यह राय है जो प्राथमिकता रखती है।

495. विधिसम्मत शासन, गैर मनमानेपन को सुनिश्चित करने के लिए केवल ज्ञात सिद्धांतों या मार्गदर्शक सिद्धांतों के लागू होने की अध्यपेक्षा करते हुए विवेकाधिकार के क्षेत्र को न्यूनतम होना परिकल्पित करता है किन्तु उक्त सीमित क्षेत्र तक विवेकाधिकार एक व्यावहारिक आवश्यकता है। जब कभी आवश्यक हो उच्च कृत्यकारियों को विवेकाधिकार प्रदान करना और सामूहिक विनिश्चय की अध्यपेक्षा करते हुए विविधता का तत्व शामिल करना मनमानेपन के विरुद्ध अतिरिक्त नियंत्रण है। इसी प्रकार आदर्श और व्यवहार में तालमेल बैठाकर समाकलित किया जाता है जिससे कि पद्धति को संतोषजनक ढंग में कारगर बनाया जा सके। उच्च सांविधानिक कृत्यकारियों पर वरिष्ठ न्यायाधीशों की नियुक्ति के कार्य को सौंपने में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के मत को जो, अभ्यर्थियों की उपयुक्तता का निर्णयन करके उनकी सही योग्यता का मूल्यांकन करने में सबसे अधिक सक्षम है, सबसे अधिक महत्व दिया गया है; भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की ऐसी राय जो उनके कुछ सहकर्मियों की राय पर विचार करने के पश्चात् दी गई हो सामूहिक राय होगी। भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को प्रकट किए गए सशक्त कारणों से कार्यपालिका को अनुपयुक्त पायी गई नियुक्ति को रोकने को अनुज्ञात करते हुए; न्यायपालिका या कार्यपालिका किसी एक व्यक्ति की तो बात ही क्या चाहे वह भारत का मुख्य न्यायमूर्ति या प्रधानमंत्री ही क्यों न हो किसी को भी आत्यंतिक विवेकाधिकार प्रदान किए बिना, सांविधानिक प्रयोजन को प्राप्त करने के लिए सांविधानिक स्कीम में सर्वोत्तम रीति है।

496. प्रचलित पद्धति में विकसित नियम, जो इस निमित्त कान्वेंशनों में स्पष्ट (परिलक्षित) किए गए हैं, तथा संविधान सभा में राष्ट्रपति के भाषण में प्रकट हुए हैं, बाद में वर्णन किए गए हैं।

स्थानान्तरण—

497. किसी लोक प्राधिकारी में निहित प्रत्येक शक्ति लोक प्रयोजन के लिए उपयोगी है और लोक हित को उन्नत करने के लिए निरपवाद रूप से प्रयोग की जानी चाहिए। यह मार्ग दर्शक सिद्धांत प्रत्येक ऐसे उपबंध में और इसी प्रकार अनुच्छेद 222 में भी अंतर्निहित हैं। इस उपबंध में राष्ट्रपति द्वारा इस शक्ति का भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श करने के पश्चात् ही प्रयोग करने की अपेक्षा की गई है और किसी अन्य कृत्यकारी के साथ परामर्श करने की अपेक्षा का अभाव, इस मामले में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय के अवधारणात्मक न कि मात्र प्राथमिकता की प्रकृति के होने का स्पष्ट रूप से सूचक हैं। न्यायाधीशों के स्थानांतरण के बारे में सम्पूर्ण विषय **"भारत संघ बनाम सांकल चन्द हिम्मत लाल सेठ और एक अन्य"**[1] और "एस० पी० गुप्ता और अन्य **बनाम** भारत संघ और अन्य", वाले मामलों के अंतर्गत आता है। दोनों विनिश्चयों में बहुमत द्वारा यह अभिनिर्धारित किया था कि अनुच्छेद 222 के अधीन न्यायाधीश के स्थानांतरण से पूर्व उसकी पूर्व सहमति की कोई अध्यपेक्षा नहीं है। तब से यह शक्ति इसी प्रकार प्रयोग की गई है, और मुख्य न्यायमूर्तियों का स्थानांतरण सामान्य नियम है। उसे दोहराना अनावश्यक है।

---

[1] [1978] 3 उम० नि० प० 1129=[1978] 1 एस० सी० आर० 423.

498. किसी न्यायाधीश/मुख्य-न्यायमूर्ति के स्थानांतरण के लिए प्रस्थापना अकेले भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा की जानी चाहिए। स्थानांतरण के मामले में यह अध्यपेक्षा अधिक है, चूंकि केवल भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श विहित किया गया है। तथापि, जम्मू और कश्मीर के मामले में कोई प्रस्थापना करते समय उक्त राज्य से संबंधित विशेष उपबंध को ध्यान में रखना चाहिए।

499. स्थानांतरण की शक्ति केवल "लोक हित" में प्रयोग की जा सकती है" अर्थात् देश में सर्वत्र अच्छे न्याय प्रशासन को बढ़ावा देने के लिए। स्थानांतरण नीति को अंगीकृत करने के पश्चात्, और अनुच्छेद 222 में स्थानांतरण के लिए स्पष्ट उपबंध होने के कारण, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सिफारिश के अनुसार कोई स्थानांतरण दण्डात्मक या न्यायपालिका की स्वतंत्रता में कोई अपक्षय नहीं समझा जा सकता। इसमें इसके पश्चात् स्थानांतरित किए गए ऐसे अधिकतर न्यायाधीश स्थानांतरण नीति अंगीकृत किए जाने के पश्चात् आरम्भिक रूप से नियुक्त किए गए थे और इस न्यायालय द्वारा न्यायिक रूप से मान्य ठहराए गए थे। उनमें से किसी के लिए भी यह सोचने के लिए कोई कारण नहीं होगा कि उसका स्थानांतरण दण्डात्मक है, जब यह भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सिफारिश के अनुसार किया जाता है। उनके मामले में स्थानांतरण उनके कार्यकाल की एक स्पष्ट प्रसंगति था। यह, स्थानांतरण नीति के अंगीकृत किए जाने के पश्चात् नियुक्त किए गए सभी न्यायाधीशों पर समान रूप से लागू है, इसका विचार किए बिना कि क्या उन्होंने स्थानांतरण पर जाने के लिए परिवचन किया था या नहीं।

500. संविधान सभा चर्चाएं यह इंगित करती हैं कि उच्च-न्यायालय के न्यायाधीश से अखिल भारतीय काडर (आल इंडिया काडर) गठित करना चाहते थे। यह स्थिति, अन्य न्यायालयों से (बाहर से) मुख्य न्यायमूर्तियों को नियुक्त करने की नीति के अंगीकृत करने के पश्चात् और सभी उच्च न्यायालयों को समान व्यवहार करते हुए, आरम्भिक नियुक्ति की तारीख पर आधारित एक अखिल भारतीय ज्येष्ठता को बनाए रखने पर अब संदेह नहीं किया जा सकता है। यदि किसी न्यायाधीश का मुख्य-न्यायमूर्ति के रूप में नियुक्ति किए जाने पर स्थानांतरण दण्डात्मक नहीं है, तो किसी अन्य न्यायाधीश के स्थानांतरण को दण्डात्मक समझने का कोई कारण नहीं है।

501. अनुच्छेद 222 में ऐसा कुछ भी नहीं है जो किसी न्यायाधीश/मुख्य न्यायमूर्ति से उसके प्रथम या पश्चात्वर्ती स्थानांतरण के लिए सहमति की अपेक्षा करता हो। चूंकि उसकी सहमति प्रथम स्थानांतरण के लिए अध्यपेक्षा के रूप में नहीं समझी जाती है, इसलिए इसी उपबंध के अनुसार किसी पश्चात्वर्ती स्थानांतरण के लिए उसकी सहमति की अपेक्षा करने के लिए कोई कारण नहीं है। अनुच्छेद 222 के अधीन शक्ति, उच्च न्यायालय न्यायाधीश/मुख्य न्यायमूर्ति के सम्पूर्ण कार्यकाल के दौरान उपलब्ध है और यह प्रथम स्थानांतरण किए जाने के पश्चात् समाप्त नहीं होती है। एस० पी गुप्ता वाले मामले में व्यक्त किए गए प्रतिकूल मत का संविधान में कोई आधार नहीं है। यह धारणा करना युक्तिसंगत है कि भारत का मुख्य न्यायमूर्ति किसी पश्चात्वर्ती स्थानांतरण की सिफारिश सर्वत्र देश के भीतर न्याय-प्रशासन को अच्छा बनाने के लिए या संबंधित न्यायाधीश की प्रार्थना पर केवल लोकहित में ही करेगा। एस० पी० गुप्ता वाले मामले में विनिश्चय किए जाने

के पश्चात् एक दशक से भी अधिक के व्यतीत हो जाने के पश्चात् अब जैसा कि इंगित किया गया है, किसी स्थानांतरण को दण्डात्मक समझने के लिए कोई कारण नहीं है और इसलिए एस० पी० गुप्ता वाले मामले में व्यक्त किया गया मत कि दण्डात्मक स्थानांतरण अनुज्ञेय नहीं है, की अब कोई सार्थकता नहीं है, जैसा कि हमारे द्वारा बाद में इंगित किया किया है, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सिफारिश के अनुसार किया गया स्थानांतरण न्याय्य नहीं है।

502. उच्च न्यायालयों की उचित कार्य पद्धति द्वारा लोकहित का संवर्धन और उस कारण से किसी न्यायाधीश/मुख्य-न्यायमूर्ति का एक उच्च न्यायालय से दूसरे उच्च न्यायालय को स्थानांतरण, भारतीय न्यायपालिका की अध्यक्ष के रूप में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति पर सौंपे गए इस कर्तव्य के संपादन के लिए मार्गदर्शक सिद्धांत होना चाहिए। इसके पश्चात इंगित किए गए नियमों को सम्मिलित करते हुए उपयुक्त नियम, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा वैयक्तिक मामलों पर चर्चा करते समय अपने मार्गदर्शन के लिए अनुसरण किए जाने चाहिए।

503. **राष्ट्रपति का अर्थ :**

अनुच्छेद 124(2), 217(1) और 222 में अभिव्यक्ति "राष्ट्रपति" से, अनुच्छेद 74(1) के अनुसार मंत्रिपरिषद् की सहायता और सलाह पर कृत्यों का प्रयोग करने वाला राष्ट्रपति अभिप्रेत है; और मंत्रिपरिषद् द्वारा दी गई सलाह, संविधान में दिए गए आदेश के अनुसार होने के लिए भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय की प्राथमिकता की धारणा और इसमें इंगित किए गए नियमों के अनुसार होनी चाहिए। सुतराम, संविधान के अनुसार मंत्रिपरिषद् द्वारा दी गई सलाह राष्ट्रपति को आबद्ध करती है, और इसलिए, सलाह इसमें इंगित किए गए सिद्धांतों के अनुसार होनी चाहिए।

नियम :

504. अधिनियमित उपबंधों में विनिर्दिष्ट मार्गदर्शक सिद्धांतों का अभाव जान-बूझकर प्रतीत होता है, चूंकि शक्ति उच्च सांविधानिक कृत्यकारियों में निहित की गई है और उनसे यह प्रत्याशा की गई थी कि वास्तविक कार्यपद्धति में कान्वेंशन द्वारा अपेक्षणीय नियम विकसित करें, जैसे कि संविधान सभा के अध्यक्ष के समापन भाषण में परिकल्पित किए गए थे। इसमें इसके पश्चात् वर्णन किए गए; वास्तविक पद्धति से उद्भूत हुए और कान्वेंशनों के रूप में उजागर हुए नियम जो निःशेषकारी नहीं हैं, कृत्यकारियों द्वारा नियुक्तियों और स्थानांतरणों के मामलों में अपनी वैवेकिक शक्ति के प्रयोग को विनियमित करने के लिए पालन किए जाने प्रत्याशित हैं।

505. **नियुक्तियां :—**

(1) "भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के मत द्वारा प्रतीक स्वरूप व्यक्त की गई न्यायपालिका की राय, का क्या अर्थ है ?

1993(10) eILR(PAT) SC 1

यह राय व्यवहारिक रीति में गठित की जानी चाहिए और कान्वेंशन पर आधारित पूर्व पद्धति सुरक्षित मार्गदर्शक है। उच्चतम न्यायालय में नियुक्तियों से संबंधित मामलों में, परामर्शकारी प्रक्रिया में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा दी गई राय उच्चतम न्यायालय के दो वरिष्ठतम न्यायाधीशों के विचारों को गणना में लेते हुए बनायी जानी चाहिए। भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से भी उच्चतम-न्यायालय के वरिष्ठतम न्यायाधीश के मतों को अभिनिश्चित करने की प्रत्याशा की जाती है जिसकी राय अभ्यर्थी की उपयुक्तता का निर्णयन करने में इस तथ्य के कारण सम्भाव्य रूप से महत्वपूर्ण हो सकती है कि वह उसी उच्च न्यायालय से या (अन्य) अन्यथा से आया है। अनुच्छेद 124(2) इस बात का सूचक है कि उच्चतम न्यायालय के कुछ अन्य न्यायाधीशों के मतों को अभिनिश्चित करना अपेक्षणीय है। अनुच्छेद 124(2) के अधीन उद्देश्य इस रीति से प्राप्त किया जाता है क्योंकि भारत का मुख्य न्यायमूर्ति, अपनी राय बनाने के लिए उनसे परामर्श करता है। अनुच्छेद 124(2) में यह उपबंध विद्यमान कान्वेंशन के लिए आधार है जो भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से अपनी सिफारिश करने के पूर्व उच्चतम न्यायालय के कुछ न्यायाधीशों से परामर्श करने की अध्यपेक्षा करता है। यह सुनिश्चित करता है कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय मात्र उसकी वैयक्तिक राय नहीं है अपितु न्यायपालिका में सर्वोच्च स्तर के व्यक्तियों के निकाय द्वारा सामूहिक रूप से बनायी गई राय है।

उच्च न्यायालयों में नियुक्तियों से संबंधित मामलों में, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से उच्चतम न्यायालय के अपने सहकर्मियों के विचारों को गणना में लेने की प्रत्याशा की जाती है, जिनका संबंधित उच्च न्यायालय के क्रियाकलापों से जानकार होना सम्भाव्य है। भारत का मुख्य न्यायमूर्ति उस उच्च न्यायालय के एक या अधिक वरिष्ठ न्यायाधीशों के विचारों को भी अभिनिश्चित कर सकता है जिनकी राय, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के अनुसार उसकी राय बनाने में सम्भाव्य रूप से महत्वपूर्ण हो सकती है। भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय को गठित करने में, उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति की राय सबसे अधिक महत्व दिए जाने को दायी होगी, और अंतर्ग्रस्त अन्य कृत्यकारियों की राय को सम्यक् महत्व दिया जाना चाहिए। उच्च-न्यायालय के मुख्य-न्यायमूर्ति की राय, उच्च-न्यायालय के कम-से-कम दो वरिष्ठतम न्यायाधीशों के विचारों को अभिनिश्चित करने के पश्चात बनायी जानी चाहिए।

भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को अपनी राय बनाने के लिए, एक प्रक्रिया अंगीकृत करनी होगी जो, उसे उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के पद पर सर्वश्रेष्ठ उपलब्ध व्यक्तियों का चयन करने के उसके कर्त्तव्य का वस्तुपरक रूप से निर्वहन करने को समर्थ करेगी। भारत के मुख्य न्यायमूर्ति और उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा अन्य न्यायाधीशों की राय को अभिनिश्चित करना और उनकी राय की अभिव्यक्ति, किसी अस्पष्टता को दूर करने के लिए लिखित होनी चाहिए।

(2) भारत का मुख्य न्यायमूर्ति, उस व्यक्ति जिसके लिए प्रस्थापना की गई

थी, तो भिन्न व्यक्ति की उच्च न्यायालय में आरम्भिक नियुक्ति के लिए सिफारिश कर सकता है परंतु यह तब जबकि, सांविधानिक अध्यपेक्षाएं संतुष्ट की जाती हैं।

(3) न्यायाधीशों के बीच उनके उच्च न्यायालय में परस्पर ज्येष्ठता और अखिल भारतीय स्तर पर उनकी समुच्चयित ज्येष्ठता भावी अवसरों (सम्भाव्यताओं) के मामले में स्वीकृत महत्व रखती है। उच्चतम न्यायालय में न्यायाधीशों के बीच नियुक्ति की तारीख पर आधारित परस्पर ज्येष्ठता, इसी प्रकार महत्वपूर्ण है। इसलिए, यह युक्तियुक्त है कि उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के बीच से उच्चतम न्यायालय पर नियुक्तियां करते समय इस पहलू को विचार में रखना चाहिए और सम्यक् बल दिया जाना चाहिए। जब तक विचलन को न्यायोचित ठहराने के लिए कोई सशक्त तर्कपूर्ण कारण न हो, ज्येष्ठता की उक्त क्रम संख्या, उच्चतम न्यायालय में उनकी नियुक्ति करते समय उनके मध्य बनाए रखी जानी चाहिए। उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की उच्चतम न्यायालय में उनकी ज्येष्ठता के आधार पर नियुक्ति के लिए विचार किए जाने की विधि सम्मत प्रत्याशा को मान्यता देने के अलावा यह नियुक्ति की प्रक्रिया को अधिक विश्वसनीयता प्रदान करेगा और उसी उच्च न्यायालय से लिए गए नियुक्त व्यक्तियों के मध्य ज्येष्ठता में किसी विकृति का परिवर्जन करेगा। उच्चतम न्यायालय की उन व्यक्तियों की सेवाओं के फायदे से वंचित होने की सम्भाव्यता को भी दूर किया जा सकेगा, जो नियुक्ति के लिए उपयुक्त विचार किए गए हैं, किंतु विलम्बित प्रस्थापना के कारण इंकार कर देते हैं।

(4) विनिश्चयकारी प्रक्रिया में प्रत्येक विधिसम्मत प्रत्याशा पर सम्यक् विचार करना गैर-मनमानेपन के नियम की अपेक्षा है और इसलिए यह भी उच्चतम न्यायालय में नियुक्तियों की सिफारिश करने में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा पालन किए जाने वाला नियम है। स्पष्टतः यह पहलू भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा उच्चतम न्यायालय में नियुक्ति के लिए उपयुक्त विचार किए गए और कम से कम समान रूप से योग्यता वाले विचार किए गए व्यक्तियों पर लागू होता है। जिस प्रकार, उच्च न्यायालय का न्यायाधीश अपनी आरम्भिक नियुक्ति के समय, सामान्य अनुक्रम में अपनी बारी आने पर उच्च न्यायालय का मुख्य न्यायमूर्ति होने की विधि सम्मत प्रत्याशा रखता है, इसी प्रकार उसे ज्येष्ठता के अनुसार अपनी बारी आने पर उच्चतम न्यायालय में नियुक्ति के लिए विचार किए जाने की विधि सम्मत प्रत्याशा होती है।

यह विधि सम्मत प्रत्याशा, न्यायपीठ पर लम्बे समय के अनुभव के आधार पर सुसंगत है और नियुक्त व्यक्ति की उपयुक्तता का अवधारण करने के लिए एक तात्विक सामग्री है। अन्य पहलुओं जैसे, देश के समस्त भागों से जनता के सभी वर्गों के उचित प्रतिनिधित्व के साथ, उपयुक्त और समान रूप से योग्यता वाले न्यायाधीशों की अपनी बारी आने पर विचार किए जाने की विधि सम्मत प्रत्याशा सर्वोच्च न्यायालय के लिए सर्वोत्तम उपलब्ध व्यक्ति का चयन करने के लिए, उनके बीच अत्यंत उपयुक्त और योग्यता रखने वाले व्यक्ति का चयन करते समय सम्यक् विचार किए जाने के लिए एक सुसंगत पहलू है, जिसमें योग्यता सबसे अधिक महत्व रखती है।

(5) अनुच्छेद 124(2) और अनुच्छेद 217 (1) में दिए गए प्रयोजनों के लिए भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय सभी नियुक्तियों के मामलों में प्राथमिकता रखती है, और राष्ट्रपति द्वारा इन उपबंधों के अधीन उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों में कोई नियुक्ति नहीं की जा सकती जब तक कि यह ऊपर इंगित की गई रीति में गठित भारत के मुख्य न्यामूर्ति की अंतिम राय के अनुसार न हो।

(6) भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय के अनुसार नियुक्ति करने और भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा सिफारिश की गई नियुक्ति न करने के मध्य सुभिन्नता को ध्यान में रखना चाहिए। यद्यपि कोई नियुक्ति नहीं की जा सकती जब तक कि यह भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय के अनुसार न हो, तब भी किसी आपवादिक मामले में, जहां तथ्य, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा सिफारिश किए गए व्यक्ति को, जो यदि अभिलेख पर उपलब्ध और भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के समक्ष रखी गई सकारात्मक सामग्री के आधार पर अनुपयुक्त विचार किया जाता है को न्यायोचित ठहराते हैं, वहां वह नियुक्त नहीं किया जा सकता सिवाए बाद में इंगित की गई स्थिति में। प्राथमिकता, नियुक्ति करने में है ; और जब नियुक्ति नहीं की गई है, वहां प्राथमिकता का प्रश्न उत्पन्न नहीं होता। अभ्यर्थी की उपयुक्तता से संबंधित कोई निश्चित क्षेत्र हो सकता है जेसे उसके पूर्ववृत्त और व्यक्तिगत चरित्र जानने के लिए किसी समय भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के बजाए परामर्शदाता अच्छी स्थिति में हों। उस क्षेत्र में, अन्य परामर्शदाताओं की राय सम्यक् महत्व दिए जाने को दायी है, और इसके पश्चात् इंगित की गई स्थिति के सिवाए, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा सिफारिश किए गए अभ्यर्थी की नियुक्ति न करने को (अनुज्ञात) मंजूर करती है।

यह केवल, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा सिफारिश किए गए व्यक्ति की, उसे नियुक्ति के लिए अनुपयुक्त इंगित करने वाली सकारात्मक सामग्री के आधार पर, नियुक्त न करने की सीमित सीमा है जिसमें कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को इसके पश्चात् इंगित की गई स्थिति में के सिवाए उस सिफारिश किए गए व्यक्ति की नियुक्ति के लिए आग्रह करने की प्राथमिकता नहीं है। यह न्यायालयों के केवल उन व्यक्तियों की नियुक्ति द्वारा गठन को सुनिश्चित करेगा जो भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा अनुमोदन किए गए हैं, जो उसकी राय की प्राथमिकता का वास्तविक उद्देश्य है और न्यायपालिका की स्वतंत्रता और असंदिग्ध प्रत्यायकों के साथ उपलब्ध सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति की नियुक्ति को प्राप्त करना आशयित करते हैं।

(7) अनुपयुक्तता के आधार पर सिफारिश किए गए किसी व्यक्ति की नियुक्ति न करना भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को स्पष्ट किए गए अच्छे कारणों से होनी चाहिए, जिससे कि वह उन विचारों (बातों) के आधार पर अपनी सिफारिश पर पुनर्विचार करने और वापस लेने को समर्थ हो सके। यदि भारत का मुख्य न्यायमूर्ति इसके पश्चात् भी अपनी सिफारिश को वापस लेना आवश्यक नहीं समझता है, किंतु उच्चतम न्यायालय के अन्य न्यायाधीशों का जो इस मामले में परामर्श किए गए हैं, यह मत है कि यह वापस ली जानी चाहिए, तो उस व्यक्ति की नियुक्ति न करना अभिलिखित

किए जाने वाले कारणों से लोक हित में अनुज्ञेय है। यदि किसी बिरल मामले में इस आधार पर नियुक्ति न करना, भूल (गलती) साबित होती है तो अंततः लोक हित में उक्त भूल, गलत नियुक्ति के मुकाबले कम हानिकर है। तथापि, यदि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को प्रकट किए गए कारणों पर सम्यक् विचार करने के पश्चात्, उक्त सिफारिश, मामलों में परामर्श किए गए उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की सर्वसम्मति के साथ भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा सिफारिश को वापस न लेने के लिए कारण देते हुए दोहरायी जाती है तब एक अच्छे (स्वरूप) कान्वेंशन के रूप में उक्त नियुक्ति की जानी चाहिए।

(8) कुछ उदाहरण दिए जा सकते हैं जिनमें नियुक्ति न करना अनुज्ञात और न्यायानुमत है। मान लीजिए कि, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की अंतिम राय, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा परामर्श किए गए उच्चतम न्यायालय के वरिष्ठ न्यायाधीशों की राय के प्रतिकूल है और वरिष्ठ न्यायाधीशों का यह मत है कि सिफारिश किया गया व्यक्ति वर्णित कारणों से जो, राष्ट्रपति द्वारा स्वीकार किए गए हैं, अनुपयुक्त है, तब भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा सिफारिश किए गए अभ्यर्थी की नियुक्ति न करना अनुज्ञेय होगा। इसी भांति, जब सिफारिश उच्च न्यायालय में नियुक्ति के लिए है, और उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति की राय, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय से मतभेद करती है तो अभिलिखित किए जाने वाले और भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को संसूचित किए गए विधिक कारणों से नियुक्ति न करना अनुज्ञेय होगा। यदि अभ्यर्थी का न्यायाधीश के रूप में सेवाकाल सम्भाव्य रूप से अत्यधिक संक्षिप्त है तो चरित्र और आचरण से सम्बन्धित संदेहपूर्ण पूर्ववृत्त के कारणों से भी नियुक्ति न करना अनुज्ञेय होगा। पद के लिए अभ्यर्थी की स्वास्थ्य की दशा और उसकी उपयुक्तता से संबंधित ऐसा कोई कारण भी नियुक्ति न करने को न्यायोचित ठहरा सकता है।

(9) प्रक्रिया में अंतर्वलित सभी सांविधानिक कृत्यकारियों के मध्य प्रभावी परामर्श को सुनिश्चित करने के लिए मतभेद (असहमति) के लिए कारणों, यदि कोई हों, को सभा अन्यों को प्रकट करने चाहिए, जिससे कि उस आधार पर पुनर्विचार किया जा सके। परामर्श किए गए सभी न्यायाधीशों को सम्मिलित करते हुए अंतर्वलित प्रत्येक व्यक्ति के साथ सभी परामर्श लिखित में होने चाहिए और उच्च न्यायालय में नियुक्ति के मामले में उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति और सभी मामलों में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा अपनी राय के साथ उसके द्वारा परामर्श किए गए सभी न्यायाधीशों की राय अभिलेख के भाग के रूप में भेजी जानी चाहिए।

अभिव्यक्ति "की लिखित में राय", शक्ति के प्रयोग पर स्वयं में एक नियंत्रण है और सम्यक् सावधानी को सुनिश्चित करता है। यहां इसके पश्चात् इंगित किए गए इस क्षेत्र में न्याय्यता के अपवर्जन को, स्वतंत्र और निडर राय की अभिव्यक्ति के विरुद्ध किसी अवरोध का निवारण (दूर करना) करना चाहिए। सांविधानिक कृत्य-कारियों के मध्य ऐसे प्रभावी परामर्श के पश्चात् भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा दी गई अंतिम राय इंगित की गई रीति में प्राथमिकता रखती है।

1993(10) eILR(PAT) SC 1

(10) इस उद्देश्य को प्राप्त करने और नियुक्ति की प्रक्रिया को विधिमान्यता और अधिक विश्वसनीयता प्रदान करने के लिए, प्रक्रिया उच्चतम न्यायालय के मामले में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा, और उच्च न्यायालयों के मामले में उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा आरम्भ की जानी चाहिए। यह वर्षों से कान्वेंशन द्वारा अनुसरण की जाने वाली अभिभावी सामान्य पद्धति है और एस० पी० गुप्ता वाले मामले के पश्चात् अब भी सामान्य नियम के रूप में सतत् है। एस० पी० गुप्ता वाले मामले के होते हुए भी, स्वयं कार्यपालिका ने सही प्रक्रिया को इस प्रकार समझा है, और इससे विचलन करने का कोई कारण नहीं है जब यह न्यायपालिका की स्वतंत्रता की धारणा के अनुसार है।

(11) अनुच्छेद 217(1) में अभिव्यक्ति "राज्यपाल" से तात्पर्यित सांविधानिक कृत्यकारी, अनुच्छेद 166(3) और अनुच्छेद 167 के साथ पठित अनुच्छेद 163(1) के अनुसार अपनी मंत्रिपरिषद् की "सहायता और सलाह" पर कार्य करने वाला राज्यपाल है।

(12) समय के अनुसार निर्धारित कार्यक्रम का पालन करना नियुक्ति की प्रक्रिया में किसी भी असम्यक् विलम्ब को दूर करेगा और विलम्बकारी रीतियों का परिवर्जन करेगा। जैसा कि मामला हो, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा या उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा प्रस्थापना किए जाने पर, किसी अन्य सांविधानिक कृत्यकारी की विनिर्दिष्ट अवधि के भीतर अपनी राय अभिव्यक्त करने में असफलता से, उस कृत्यकारी की सिफारिश के साथ सहमति का अर्थ लगाया जाना चाहिए और राष्ट्रपति से भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की अंतिम राय के अनुसार नियुक्ति करने की प्रत्याशा की जाती है। ऐसी स्थिति में, विनिर्दिष्ट समय के व्यतीत होने के पश्चात् जिसके भीतर सभी सांविधानिक कृत्यकारियों को अपनी राय देनी है। भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से यह प्रत्याशा की जाती है कि वह परामर्श प्रक्रिया के पूरा होने पर राष्ट्रपति से कोई अतिरिक्त विलम्ब किए बिना नियुक्ति करने की प्रार्थना करे।

(13) भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा या उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा जैसा कि मामला हो प्रस्थापना किए जाने पर उसकी प्रतियां अंतर्वलित सभी अन्य सांविधानिक कृत्यकारियों को तुरन्त भेजी जानी चाहिए। उसकी प्राप्ति की तारीख से छह सप्ताह की अवधि के भीतर, अन्य कृत्यकारियों द्वारा अपनी राय भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को संसूचित की जानी चाहिए। ऐसे किसी कृत्यकारी के असहमत होने की दशा में, उसे अपनी असहमति अन्यों को उक्त अवधि के भीतर संसूचित करनी चाहिए। अन्य कृत्यकारी यदि अपनी पूर्वतर राय को बदलते हैं तो, उन्हें भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को छह सप्ताह की अतिरिक्त अवधि के भीतर इसे संसूचित करना चाहिए। भारत का मुख्य न्यायमूर्ति तब अपनी अंतिम राय बनाएगा और, अंतिम कार्रवाई किए जाने के लिए, इसे राष्ट्रपति को चार सप्ताह के भीतर संसूचित करेगा। यह समुचित है कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श करने के पश्चात् और उपांतरणों के साथ यदि कोई हों जो प्रयोजन को प्रभावी करने के लिए

भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा सुझाए गए हों, भारत सरकार इस प्रभाव के प्रक्रिया ज्ञापन को जारी करे।

(14) नियुक्ति की प्रक्रिया के पूर्वानुमानित रिक्ति की तारीख से कम-से-कम एक माह पूर्व पूरा होने को सुनिश्चित करने के लिए इसे सही समय के भीतर आरंभ किया जाना चाहिए, और किसी अनुमान या अनिश्चितता का परिवर्जन करने के लिए नियुक्ति को तत्पश्चात् शीघ्र ही सम्यक् रूप से घोषित किया जाना चाहिए। किसी महत्वपूर्ण अवधि के लिए संस्था के प्रमुख रहित होने से बचने के लिए उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायमूर्तियों और भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की नियुक्ति में यह कार्यक्रम कठोरता से और अनिवार्यतः अनुसरण किया जाना चाहिए। किसी उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति की उच्चतम न्यायालय में नियुक्ति के मामलों में, उस उच्च न्यायालय में उत्तरवर्ती (उत्तराधिकारी) मुख्य न्यायमूर्ति की नियुक्ति सामान्यतया रिक्ति की तारीख से एक माह के भीतर की जानी चाहिए।

(15) दो सुविख्यात विचलनों के सिवाए, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के पद पर नियुक्ति, कान्वेंशन द्वारा उच्चतम न्यायालय के पद को धारण करने के लिए उपयुक्त (ठीक) विचार किए गए वरिष्ठतम न्यायाधीश की, की जाती है; और प्रस्थापना अग्रिम रूप से भारत के निवर्तमान मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा की जाती है। अनुच्छेद 124(2) में किसी अन्य न्यायाधीश के साथ परामर्श करने को समर्थ करने वाला उपबंध, ऐसे परामर्श के लिए उपबंध करता है, यदि पद को धारण करने के लिए वरिष्ठतम न्यायाधीश की उपयुक्तता (ठीक होते) की बाबत कोई संदेह है, जो अकेले ही लम्बे समय से चले आ रहे कान्वेंशन से विचलन को मंजूर कर सकता है और उसे न्यायोचित ठहरा सकता हो। इस कारण से कोई अन्य सारभूत परामर्श प्रक्रिया अंतर्वलित नहीं है। विद्यमान कान्वेंशन से विचलन करने का कोई कारण नहीं है और, इसलिए, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की नियुक्ति में अनुच्छेद 124(2) के कार्य करने के लिए कोई अतिरिक्त नियम अनावश्यक है।

506. स्थान्तरण :

(1) उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति से भिन्न किसी न्यायाधीश के स्थानांतरण के मामले में, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से अपनी राय बनाने में, उच्च न्यायालय जिससे न्यायाधीश स्थानांतरित किया जाना है के मुख्य न्यायमूर्ति के विचारों को, और उच्चतम न्यायालय के किसी न्यायाधीश, जिसकी राय उस क्षेत्र में महत्वपूर्ण हो सकती है, की राय और इसी भांति कम से कम किसी उच्च न्यायालय के एक अन्य वरिष्ठ मुख्य न्यायमूर्ति के विचारों या किसी अन्य व्यक्ति, जिसके विचार भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा सुसंगत विचार किए गए हैं, को विचार में लेने की प्रत्याशा की जाती है। संबंधित न्यायाधीश से संबंधित व्यक्तिगत पहलू और स्थानांतरण के स्थानों की बाबत उसकी वरीयता को सम्मिलित करते हुए प्रस्थापना के प्रति उसकी प्रतिक्रिया, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा अच्छे न्याय प्रशासन के लिए लोक हित में, उपलब्ध सामग्री के आधार पर वस्तुपरक रूप से अपनी अंतिम राय बनाने के पूर्व विचार में लिए जाने चाहिए।

(2) यह सुनिश्चित करने के लिए सावधानी बरतनी चाहिए कि कोई मुख्य न्यायमूर्ति अपने पद उत्तरवर्ती की समसामयिक नियुक्ति के बिना स्थानांतरित न किया जाए, और सामान्यतया कामचलाऊ व्यवस्था एक माह से अधिक नहीं होनी चाहिए, जो मुख्य न्यायमूर्तियों के अपने नए पदों पर जाने के लिए प्रायिक रूप से आवश्यक महसूस की गई अत्यधिक अवधि है। यह उच्च न्यायालयों की उचित कार्य पद्धति के लिए, और किसी महत्वपूर्ण अवधि के लिए किसी उच्च न्यायालय को प्रमुख रहित होने, जो उस राज्य की न्यायपालिका की कार्यपद्धति को प्रतिकूल रूप से प्रभावित करती है, से बचाने के लिए आवश्यक है।

(3) लम्बी अवधियों के लिए कार्यकारी मुख्य न्यायमूर्तियों को रखने की सतत् पद्धति, स्थायी मुख्य न्यायमूर्तियों को स्थानांतरित करना, और उन्हें कार्यकारी मुख्य न्यायमूर्तियों के साथ बिना बारी के लम्बी अवधियों के लिए प्रतिस्थापित करना, कुछ अन्य उच्च न्यायालयों, न्यायाधीशों की अपनी ज्येष्ठता के अनुसार बारी आने के सिवाय किसी असाधारण स्थिति के, मुख्य न्यायमूर्ति नियुक्त किए जाने की विधि सम्मत प्रत्याशा को निराशा में परिणाम करते हुए एक ही उच्च न्यायालय से एक से अधिक मुख्य न्यायमूर्ति नियुक्त करने, का विरोध किया जाना चाहिए और बचना (परिवर्जन करना) चाहिए। नीति को प्रायः चयनात्मक आधार पर सीमित किया गया है और किसी अन्याय को रोकने के लिए इसे एक रूपात्मक बनाना आवश्यक है।

(4) यह वांछनीय है कि उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति के रूप में नियुक्त होने वाले वरिष्ठतम न्यायाधीश को अग्रिम तौर पर उच्च न्यायालय में स्थानांतरित कर दिया जाए जहां उसका मुख्य न्यायमूर्ति के रूप में नियुक्त होना संभाव्य है, जिससे कि वह रिक्ति के उत्पन्न होते ही मुख्य न्यायमूर्ति के रूप में पद-भार ग्रहण करने में समर्थ हो सके और इसी दौरान नए उच्च न्यायालय के साथ स्वयं को परिचित कर ले। यह मुख्य न्यायमूर्ति के पद को भरने में किसी (विलम्ब) अंतराल के बिना सुचारू रूप से परिवर्तन को सुनिश्चित करेगा। उत्तरवर्ती न्यायाधीशों के स्थानांतरण में, जहां तक सम्भव हो उच्च न्यायालयों के मध्य स्थानांतरित न्यायाधीशों के अनुपात में समानता कायम रखी जानी चाहिए।

(5) बकाया कार्य समिति की रिपोर्ट (1989-90) में सिफारिशें कुछ पहलुओं का वर्णन करती हैं जो स्थानांतरणों को करते समय स्थानांतरित न्यायाधीशों को, कोई कठिनाई होने को दूर (परिवर्जन) करने की दृष्टि से ध्यान में रखने चाहिए। इनको विचार में लिया जाना चाहिए।

न्याय्यता

नियुक्तियां और स्थानांतरण

507. न्यायपालिका की नियुक्तियों के मामले में प्राथमिकता और स्थानांतरणों में इसकी अवधारक प्रकृति, प्रक्रिया में न्यायिक तत्व को प्रविष्ट करती है और उन विनिश्चयों के अतिरिक्त न्यायिक पुनर्विलोकन, जो सम्भाव्य कार्यकारी अतिक्रमण या मनमानेपन के विरुद्ध नियंत्रण के रूप में सामान्यतया आवश्यक महसूस किया गया है, की आवश्यकता के

अभाव के लिए स्वयं में एक पर्याप्त न्यायौचित्य है। जैसा कि इंगित किया गया है, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय को बनाने में न्यायाधीशों की अनेकता मनमानेपन या पक्षपात की सम्भाव्यतया और किसी व्यक्ति की अवचेतना के विरुद्ध भी एक अन्य अंतर्निमित नियंत्रण है। नियुक्तियों के मामले में न्यायिक तत्व की प्रमुखता होने और स्थानांतरणों में निश्चयात्मक होने के कारण जैसा कि इंगित किया गया है, अन्य कार्यकारी कार्रवाईयों में अतिरिक्त न्यायिक पुनर्विलोकन के लिए आवश्यकता समाप्त हो जाती है। विवेकाधिकार की परिधि न्यूनतम पर कम करना, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय को बनाने में न्यायाधीशों की अनेकता का तत्व, लिखित में प्रभावी परामर्श, और विवेकाधिकार के क्षेत्र को विनियमित करने के अभिभावी नियम, मनमानेपन के विरुद्ध पर्याप्त नियंत्रण है।

508. नियमों के रूप में इन मार्गदर्शक सिद्धांतों का स्थानांतरित न्यायाधीशों में किसी न्याय्य अधिकार प्रदत्त करने के रूप में अर्थान्वियन नहीं किया जाना चाहिए। किसी स्थानांतरण के केवल भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सिफारिश पर किए जाने की सांविधानिक अध्यपेक्षा के अलावा स्थानांतरण का विवाद्यक स्थानांतरण के लिए कारणों को सम्मिलित करते हुए किसी अन्य आधार पर या उसकी पर्याप्तता के आधार पर न्याय्य नहीं है। इंगित की गई रीति में गठित भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय किसी मनमानेपन या पक्षपात और इसी भांति न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के किसी क्षय (क्षरण) के विरुद्ध पर्याप्त रक्षोपाय और संरक्षण है।

509. यह बात इन नियुक्तियों और स्थानांतरणों को मुकदमेबाजी से बचाने (अपवर्जित करने) और विनिश्चयों की विश्वसनीयता में किसी क्षय का परिवर्जन करने के लिए निष्ठापूर्वक और सभी सांविधानिक कृत्यकारियों द्वारा दी गई राय की स्वतंत्र और निडर अभिव्यक्ति जो प्रभावी परामर्श के लिए और सही विनिश्चय करने के लिए आवश्यक है, को सुनिश्चित करने के लिए लोक हित के अनुसार भी है। सुने जाने के अधिकार की संकल्पना को विस्तृत करते समय एस० पी० गुप्ता वाले मामले में सावधानी के बावजूद, लोक हित वाद के रूप में (वेश में) न्यायपालिका की कार्यपद्धति में बाहरी व्यक्तियों और व्यस्त-निकायों द्वारा अनावश्यक अतिक्रमण (उल्लंघन) की बढ़ती हुई प्रवृत्ति का संविधानपीठ द्वारा, **राज कंवर एडवोकेट बनाम भारत संघ और एक अन्य**[1] वाले मामले में हाल ही में उल्लेख किया गया था। इसलिए भविष्य में समरूप स्थितियों का परिवर्जन करने के लिए, ऐसे मामलों में न्यायिक पुनर्विलोकन की सीमित परिधि को स्पष्ट रूप से व्यक्त करना आवश्यक है। नामित सांविधानिक कृत्यकारियों के साथ परामर्श के अभाव के आधार पर या किसी नियुक्ति के मामले में पात्रता की किसी शर्त के अभाव, या भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सिफारिश के बिना किए गए किसी स्थानांतरण, के आधार के सिवाए यह मामले पक्षपात को सम्मिलित करते हुए जो हर हालत में विनिश्चयकारी प्रक्रिया में अनेकता के तत्व द्वारा अपवर्जित किया गया है, किसी अन्य आधार पर न्याय्य नहीं हैं।

न्यायाधीशों की संख्या का नियत किया जाना—

510. अनुच्छेद 216 उच्च न्यायालयों के गठन के संबंध में है। यह उपबंध

[1] **(1992) 4** एस० सी० सी० **605.**

करता है कि "प्रत्येक उच्च न्यायालय मुख्य न्यायमूर्ति और ऐसे अन्य न्यायाधीशों से मिलकर बनेगा जिन्हें राष्ट्रपति समय-समय पर नियुक्त करना आवश्यक समझे ।" "अन्य न्यायाधीशों" की नियुक्ति के इस कृत्य के उचित प्रयोग को समर्थ करने के लिए यह आवश्यक है कि बकाया मामलों और प्रत्याशित भविष्य में की जाने वाली नियुक्तियों को गणना में लेते हुए, मामलों के निपटारे के लिए महसूस की गई आवश्यकता के संदर्भ में प्रत्येक उच्च न्यायालय की न्यायाधीश संख्या का समय-समय पर पुनर्विलोकन किया जाए । यह "यह अभिप्राप्त करने के लिए कि विधिक पद्धति का प्रवर्तन न्याय का संवर्धन करता है" जो देश के शासन में मूलभूत एवं नीति निर्देशक सिद्धांत है तथा जो राज्य का इसकी सभी कार्रवाईयों का पालन किए जाने वाला कर्तव्य है, के लिए मामलों के शीघ्र निपटारे को सुनिश्चित करने, और संविधान के भाग III में मूलभूत अधिकारों की गारंटी को अर्थपूर्ण बनाने के लिए आवश्यक है । तद्नुसार विधि विलम्ब द्वारा विधिसम्मत शासन की अस्वीकृति को जन्म देने वाली इस बाध्यता का निर्वहन करने में असफलता उक्त कर्तव्य का पालन कराने के लिए न्याय्य होनी चाहिए ।

511. तद्नुसार, यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि किसी उच्च न्यायालय में न्यायाधीश-संख्या का नियत किया जाना न्याय्य है; और यदि यह दर्शित किया जाता है कि विद्यमान संख्या जनता को शीघ्र न्याय प्रदान करने में, विद्यमान संख्या की अत्यधिक सक्षमता के बावजूद अपर्याप्त है—जबकि शीघ्र विचारण अनुच्छेद 21 की एक अध्यपेक्षा है, तब महसूस की गई आवश्यकता का मूल्यांकन करने के लिए और शीघ्र न्याय प्रदान करने की राज्य की बाध्यता को पूरा करने के लिए और तद्द्वारा यह सुनिश्चित करने के लिए कि विधिक पद्धति का प्रवर्तन न्याय का संवर्धन करता है—जो संविधान की उद्देशिका में भी एक सत्यनिष्ठ संकल्प के रूप में घोषित किया गया है, आवश्यकता के अनुसार न्यायाधीशों की संख्या नियत करने के लिए निदेश जारी किया जा सकता है । किसी उच्च न्यायालय में न्यायाधीशों की संख्या का पुनर्विलोकन करने में, राष्ट्रपति को उस उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति और भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय को अधिक महत्व देना चाहिए, और यदि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति ऐसी सिफारिश करते हैं तो यह कार्य सम्यक् शीघ्रता के साथ किया जाना चाहिए ।

512. एस० पी० गुप्ता वाले मामले में यह मत व्यक्त करते हुए किया गया विनिश्चय कि यह मामला किसी सीमा तक न्याय्य नहीं है हमें संविधान के अनुच्छेद 216 में सांविधानिक बाध्यता और इसको अधिनियमित करने के सांविधानिक उद्देश्य की सही व्याख्या के रूप में स्वीकार्य नहीं है । इस उपबंध का सभी सांविधानिक उपबंधों के समान पृथक् रूप से अर्थान्वयन नहीं किया जाना चाहिए, अपितु सांविधानिक प्रयोजन और इसकी प्रकृति के अनुरूप सम्पूर्ण सांविधानिक स्कीम के भाग के रूप में अर्थान्वयन किया जाना चाहिए । ऐसे अर्थान्वयन किए जाने पर, यह मामला इंगित की गई सीमा तक और रीति में न्याय्य है । निस्संदेह भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सिफारिश के अनुसार उक्त प्रयोग के पालन की अपेक्षा करने के बजाए, न्याय्यता का क्षेत्र और आगे नहीं जाता, जिससे कि न्यायालय को पुनर्विलोकन करने और स्वयं ही वास्तविक न्यायाधीशों की संख्याओं को नियत करने को समर्थ किया जा सके ।

निष्कर्षों का सार

513. पूर्वतर विस्तृत रूप से कथन किए गए निष्कर्षों का संक्षिप्त सामान्य सार संविधान के लिए निम्न प्रकार दिया जा रहा है—

(1) उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति की प्रक्रिया नियुक्ति के लिए उपलब्ध सर्वोत्तम और सर्वाधिक उपयुक्त व्यक्तियों की चयन करने के लिए एक एकीकृत सहभागितापूर्ण परामर्शकारी प्रक्रिया है; और सांविधानिक प्रयोजन की पूर्ति करने के लिए समस्त सांविधानिक कृत्यकारियों को इस कर्तव्य का निर्वहन सामूहिक रूप से मुख्यतः एक सहमतिगत विनिश्चय पर पहुंचने की दृष्टि से करना चाहिए जिससे कि प्राथमिकता का अवसर उत्पन्न न हो।

(2) उच्चतम न्यायालय के मामले में नियुक्ति के लिए प्रस्थापना की शुरूआत भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा की जानी चाहिए, और उच्च न्यायालय के मामले में, उस उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा की जानी चाहिए और किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश/मुख्य न्यायमूर्ति के स्थानांतरण के लिए प्रस्थापना भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा आरंभ की जानी चाहिए। यह वह रीति है जिसमें, उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों में नियुक्तियों के लिए और इसी भांति उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों/मुख्य न्यायमूर्तियों के स्थानांतरणों के लिए प्रस्थापनाएं अनिवार्यतः की जानी चाहिए।

(3) सांविधानिक कृत्यकारियों की राय में मतभेद होने की दशा में "भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के मत द्वारा परिलक्षित" और इंगित की गई रीति में गठित न्यायपालिका की राय, प्राथमिकता रखती है।

(4) उच्चतम न्यायालय या किसी उच्च न्यायालय में किसी न्यायाधीश की नियुक्ति तब तक नहीं की जा सकती जब तक कि यह भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय के अनुसार न हो।

(5) केवल आपवादिक मामलों में, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को यह इंगित करते हुए कि सिफारिश किया गया व्यक्ति नियुक्ति के लिए उपयुक्त नहीं है, प्रकट किए गए सशक्त तर्कपूर्ण कारणों के, भारत से मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा सिफारिश की गई उक्त नियुक्ति नहीं की जा सकती। तथापि, यदि कथन किए गए कारण भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा और उच्चतम न्यायालय के अन्य न्यायाधीशों, जो मामले में परामर्श किए गए हैं, द्वारा स्वीकार नहीं किए गए हैं, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा सिफारिश दोहराए जाने पर नियुक्ति, एक स्वस्थ्य कान्वेंशन के रूप में की जानी चाहिए।

(6) भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के पद पर नियुक्ति, पद को धारण करने के लिए उचित (ठीक) विचार किए गए उच्चतम न्यायालय के वरिष्ठतम न्यायाधीश की जानी चाहिए।

(7) उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों/मुख्य-न्यायमूर्तियों के स्थानांतरणों के मामले में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय मात्र प्राथमिकता ही नहीं अपितु अवधारक भी है।

(8) किसी एक उच्च न्यायालय से दूसरे उच्च न्यायालय को प्रथम या किसी पश्चात्वर्ती स्थानांतरण के लिए स्थानांतरित न्यायाधीश/मुख्य न्यायमूर्ति की सहमति लेना अपेक्षित नहीं है।

(9) भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सिफारिश पर किया गया कोई स्थानांतरण दण्डात्मक नहीं समझा जाना चाहिए और ऐसा स्थानांतरण किसी आधार पर न्याय्य नहीं है।

(10) सभी नियुक्तियों और स्थानांतरणों को करने में इंगित किए गए नियमों का पालन किया जाना चाहिए। तथापि, यह किसी में कोई न्याय्य अधिकार प्रदान नहीं करते हैं।

(11) नियुक्तियों और स्थानांतरणों के मामलों में पूर्वतर विनिर्दिष्ट आधारों पर केवल सीमित न्यायिक पुनर्विलोकन उपलब्ध है।

(12) किसी उच्च न्यायालय में उस व्यक्ति जिसके लिए प्रस्थापना की गई थी, से भिन्न व्यक्ति की न्यायाधीश के रूप में प्रारंभिक नियुक्ति की जा सकती है।

(13) उच्च न्यायालयों में न्यायाधीश संख्या का नियत करना न्याय्य है, किन्तु केवल इंगित की गई सीमा तक और रीति में।

(14) "**एस० पी० गुप्ता बनाम भारत संघ**[1]" वाले मामले में बहुमत की राय जहां तक यह नियुक्तियों और स्थानांतरणों के मामलों में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की भूमिका की प्राथमिकता के सम्बन्ध में और इन मामलों की न्याय्यता और इसी भांति न्यायाधीशों की संख्या के मामले में प्रतिकूल मत व्यक्त करती हैं, हमें सही मत होने के रूप में प्रभावित नहीं करती। सांविधानिक स्कीम को सम्मिलित करते हुए संविधान के सुसंगत उपबंध हमारे द्वारा इसमें इंगित की गई रीति में अर्थान्वियन किए जाने, समझे जाने और क्रियान्वित किए जाने चाहिए।

514. यह संक्षिप्त विवरण पूर्वतर भाग के साथ पठन किया जाना चाहिए, जिसमें निष्कर्ष विस्तृत रूप से कारणों सहित कथन किए गए हैं।

515. पूर्वोक्त चर्चा निर्दिष्ट किए गए प्रश्नों का उत्तर देती है और इन विषयों का तद्नुसार निपटारा करती है।

[1] [1982] 4 उम० नि० प० 1=[1982] 2 एस० सी० आर० 365,

न्या० पंछी

516. यह राय उपसंहार की प्रकृति की है यद्यपि कठोर अर्थ में नहीं । इस न्यायपीठ के निर्देशाधीन दो विषयों पर और बिना निर्देश के विषयों पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है । मैं अपनी ओर से उसमें और कुछ जोड़ने से बचना पसंद करता किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि घटनाक्रम में मेरे पास कोई विकल्प शेष नहीं बचा है । मैं यह महसूस करता हूं कि जो कुछ कहने की आवश्यकता है, उसमें सहयोग न देने और उसे अनकहा छोड़ देने से कर्तव्य पालन में चूक होगी ।

517. इस महत्वपूर्ण विषय पर सुनवाई करने के लिए 7 अप्रैल, 1993 से नौ न्यायाधीशों वाली इस न्यायपीठ की बैठक हुई और ग्रीष्म कालीन अवकाश के प्रारंभ होने के पहले 11 मई, 1993 को इसकी सुनवाई समाप्त हुई । मुझे यह विश्वास था कि यदि पहले नहीं तो न्यायालय के पुनः खुलने पर हम सभी 12 जुलाई, 1993 के पश्चात् एक साथ बैठेंगे तथा इस न्यायालय के संबंध में मुख्य रूप से भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की संस्था से संबंधित इस ऐतिहासिक विषय में एकमत विनिश्चय की आशा करते हुए कतिपय अर्थपूर्ण बैठकें करेंगे जिसमें उन सभी पहलुओं पर स्वतन्त्र और खुले तौर से चर्चा की जाएगी जिसने हमारा ध्यान आकर्षित किया है । वस्तुतः उस समय मुझे सदमा-सा लगा जब मुझे बन्धु न्या० जे० एस० वर्मा और बन्धु न्या० योगेश्वर दयाल, न्या० जी० एन० राय, न्या० डा० ए० एस० आनन्द और न्या० एस० पी० भरुचा की ओर से मेरे बन्धु न्या० जे० एस० वर्मा द्वारा लिखित तारीख 14 जून, 1993 का प्रारूप-मत प्राप्त हुआ । सम्पन्न-कार्य कठोर वास्तविकता प्रतीत हुआ । बहुसंख्यक न्यायाधीशों की राय एक उपलब्धि होती है । मुक्त और स्वतन्त्र चर्चा की मेरी आशा समाप्त हो गई । किन्तु इसके पश्चात् मेरे विद्वान बन्धु न्या० अहमदी की तारीख 24 अगस्त, 1993 की राय निराशा के अम्बार में से आशा की एक किरण की तरह सामने आई और इसके पश्चात् मेरे बन्धु न्या० कुलदीप सिंह और पांडियन की क्रमशः तारीख 7 सितम्बर और 9 सितम्बर, 1993 की राय सामने आई । इसके पश्चात् कोई अर्थपूर्ण बैठक संभव नहीं थी क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय दृष्टिकोण स्थिर हो गया था । इसलिए अब तक आठ विद्वान बन्धुओं की राय जैसी कि मुझे संसूचित की गई थी, मुझे ज्ञात हो चुकी थी । इन रायों तथा विशेष रूप से उस कर्तव्य से जो मुझे सौंपा गया है और जिसे करने के लिए मैंने शपथ ली है, मैं इस निर्देश की सुनवाई करने वाले न्यायाधीशों का एक भाग होने के कारण मैं अपनी राय व्यक्त करता हूं ।

518. मुझे आरम्भ में ही **एस० पी० गुप्ता** बनाम **भारत संघ**[1] वाले मामले के निर्देश आदेश की पुनर्शुद्धता की अन्तर्वस्तुओं और प्रभाव से संबंधित सन्देह को दूर कर देना चाहिए । यह राय भारत के तत्कालीन मु० न्या० रंगनाथ मिश्र द्वारा अभिलिखित की गई थी और जिससे भारत के वर्तमान मु० न्या० श्री एम० एन० वेंकटाचल्लया (जो उस समय न्यायाधीश थे) तथा मेरे द्वारा सहमति व्यक्त की गई थी । हमने अनन्तिम पैरा में यह स्पष्ट करते हुए कि पूर्वोक्त इंगित दो प्रश्नों के अतिरिक्त सभी अन्य पहलू जिन पर विचार किया जा चुका है, उक्त आदेश द्वारा अंतिम होने आशयित थे । हमने नौ न्यायाधीशों वाली

[1] [1990] सप्ली० 2 एस० सी० आर० 433.

न्यायपीठ को, केवल दो प्रश्न निर्दिष्ट किए हैं अर्थात् भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की परामर्श करने की प्रास्थिति और महत्व तथा उनकी हैसियत की प्रधानता से संबंधित बी० पी० गुप्ता वाले मामले में बहुसंख्यक न्यायाधीशों की राय की शुद्धता की जांच करने के लिए और अनंतिम पैरा में यह स्पष्ट करते हुए कि ऊपर इंगित दो प्रश्नों के अतिरिक्त अन्य सभी पहलू जिन पर विचार किया गया था, उक्त आदेश द्वारा अंतिम होने आशयित थे, नियत किया जाना न्याय्य नहीं था। जैसे कि मैंने इसका अवलोकन किया है, इसके निबन्धनों की कठोरता के कारण, सिवाय विनिर्दिष्टः निर्दिष्ट दो प्रश्नों के, कोई और विषय प्राख्यान के लिए खुला नहीं रह गया जैसा कि किया गया प्रतीयमान है। और हमारे द्वारा निर्देश का समर्थन करने या उसे उचित ठहराने के लिए जो कुछ कहा गया था, वह ऐसा दृष्टिकोण था जो किसी भी प्रकार से अन्तिम और तय नहीं कहा जा सकता और स्पष्टतः पुनः विचार किए जाने योग्य है। बल्कि, इसके निबन्धनों के अनुसरण में जब नौ न्यायाधीशों वाली न्यायपीठ की, जिसकी अध्यक्षता न्या० एम० एन० वेंकटाचलय्या (जैसे कि उस समय माननीय मुख्य न्यायमूर्ति थे) द्वारा की गई थी, इस विषय में अनुसूचित सुनवाई के लिए, बैठक हुई, तब इसने (इस न्यायपीठ ने) स्वयं की ओर से तथा मेरी ओर से निर्णय देते हुए स्पष्टतः और सुस्पष्ट निबंधनों में यह महसूस किया कि यद्यपि हम निर्देशित आदेश के पक्षकार थे, तथापि इसमें व्यक्त किए गए दृष्टिकोण अस्थायी और सन्देहयुक्त प्रकृति के अधिक थे और हम अन्यथा दो प्रश्नों से संबंधित विश्वास में सुधार करने के लिए सहमत थे। इसके अतिरिक्त जैसा कि मुझे प्रतीत होता है, यह अन्यथा विधि की दृष्टि से सही स्थिति है। कोई भी न्यायाधीश ऐसे विषय में विचार नहीं कर सकता जिसके संबंध में वह प्रतिबद्ध हो, न्यायायिक अनुशासन के संबंध में तो और भी नहीं। वर्तमान संयोजन में न्यायपीठ के पुनर्गठन पर स्थिति बदल नहीं सकती थी। कई स्थानों पर, व्यक्त की गई राय को देखते हुए, यद्यपि इससे बचते हुए, यह धारणा की गई है कि परामर्श आदेश में विधि की व्याख्या के अंतिम कथन अर्न्तविष्ट हैं और यह कि हम सांविधानिक संशोधन के माध्यम से राष्ट्रीय न्यायिक आयोग स्थापित करना चाहते थे। इस संबंध में अभिलेख ठीक किए जाने की आवश्यकता है।

519. निर्देश करने वाली न्यायपीठ द्वारा यह दृष्टिकोण अपनाया गया था कि एस० पी० गुप्ता वाले मामले में बहुमत की राय के कारण भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की विशेष और विशेषाधिकार संस्थागत स्थिति, या अन्य शब्दों में मुख्य न्यायमूर्ति की प्रधानता समाप्त हो गई। इसके कारण बृहत्तर न्यायपीठ द्वारा इस बात की परीक्षा करना आवश्यक हो गया है कि क्या उच्चतर न्यायपालिका के न्यायाधीशों की नियुक्ति के संदर्भ में उनकी प्रधानता संस्थागत रूप में पुनः प्राप्त और प्रत्यावर्तित की जा सकती है। इस विचार के साथ, किन्तु भिन्न आधार पर यह सन्देह व्यक्त किया गया कि क्या कतिपय परिस्थितियों के अधीन यह कहा जा सकता है कि केन्द्रीय सरकार भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा इस प्रकार सिफारिश किए गए किसी न्यायाधीश की नियुक्ति करने के लिए बाध्य नहीं है और द्वितीयतः किसी व्यक्ति की, उसको अननुमोदित किए जाने के बावजूद या राज्य उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति या भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा सिफारिश न किए जाने पर भी, नियुक्त करने के लिए कार्यपालिका में शक्ति अनुध्यात की जा सकती है और क्या यह शक्ति का मनमाना प्रयोग माना जावे हुए पूर्णतया अनुचित नहीं होगा।

520. अब भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की प्रधानता के, जैसा कि मैं समझता हूं, दो पहलू हैं—एक संस्थागत किन्तु भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की बाबत व्यक्तिगत और दूसरा सांविधानिक संस्थागत प्रधानता के लिए थोड़ी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि असंगत नहीं होगी। यह प्रतीत होता है कि उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति की प्रास्थिति, रैंक और वरीयता के संबंध में कानूनी मान्यता सर्वप्रथम भारत शासन अधिनियम (गवर्नमेन्ट आफ इंडिया ऐक्ट), 1915-19 द्वारा शब्दों में व्यक्त की गई थी। इसकी उद्देशिका के एक भाग को प्रस्तुत करना उपयोगी होगा—

> "यत: सम्राट के अंगभूत भाग के रूप में ब्रिटिश-भारत में उत्तरदायी सरकार की क्रमिक उपलब्धि को देखते हुए भारतीय प्रशासन की हर शाखा में भारतीयों की बढ़ती हुई साझेदारी के लिए और स्वशासित संस्थाओं के क्रमिक विकास के लिए उपबंध करने हेतु संसद की यह घोषित नीति है :
>
> और जहां इस नीति को कार्यान्वित करने में केवल क्रमिक प्रक्रमों द्वारा ही प्रगति की जा सकती है और यह समीचीन है कि इस दिशा में अब महत्वपूर्ण कदम उठाए जाने चाहिए :
>
> और जहां प्रत्येक प्रगति का समय और रीति केवल संसद् द्वारा ही अवधारित की जा सकती है जिसमें भारतीयों के कल्याण और प्रगति के लिए दायित्व है :
>
> और जहां ऐसे मामले में संसद् की कार्रवाई उन व्यक्तियों से जिनमें सेवा के नवीन अवसर प्रदत्त किए गए हैं, प्राप्त सहयोग द्वारा मार्गदर्शित होना चाहिए और उस सीमा तक जिस तक यह प्रतीत होता है कि विश्वास उनके उत्तरदायित्व-बोध में पुन: अधिरोपित किया जा सकता है।
>
> ....
>
> ....।"

पूर्वोक्त अधिनियम की धारा 101 में यह उपबन्धित है कि प्रत्येक उच्च न्यायालय में मुख्य न्यायमूर्ति और उतने अन्य न्यायाधीश होंगे जितने कि महामहिम नियुक्त करना चाहें। धारा 103, में यह उपबंध है कि उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति का "रैंक और अग्रता" उसी न्यायालय के अन्य न्यायाधीशों के पहले होगी और उच्च न्यायालय के अन्य सभी न्यायाधीशों का रैंक और अग्रता उनकी नियुक्तियों की ज्येष्ठता के अनुसार होगी जब तक कि उनके पेटेंट्स में अन्यथा उपबंधित न हो। जहां तक न्यायपालिका का संबंध है, प्रयोग के तौर पर भारत में उसकी भागीदारी का आरम्भ अच्छे ढंग से हुआ और जैसी आशा की गई थी, न्यायपालिका की स्वतंत्रता स्थापित करने में अच्छा मानदण्ड स्थापित किया गया था। ऐसा तब भी था जबकि सपरिषद् गवर्नर जनरल नियुक्ति करने वाला प्राधिकारी था—राजनैतिक सरकार नहीं जैसा कि अब हमारी सरकार है जो निर्वाचक मंडल के प्रति उत्तरदायी है। इस प्रकार न्यायपालिका के उत्तरदायित्व-बोध में बहुत अधिक विश्वास और आस्था विकसित हुई है। इसलिए कोई उपबंध अर्थात् रैंक और अग्रता (वरीयता) से संबंधित धारा 103 गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट, 1935 में दुहराने की

आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई थी जिसके अधीन प्रान्तीय उच्च न्यायालय स्थापित किए गए थे और प्रत्येक में मुख्य न्यायमूर्ति तथा अन्य अवर न्यायाधीश होते थे। उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति की प्रास्थिति रैंक और अग्रता का बोध इतना स्थापित और मान्य था कि उसकी पुनः अभिपुष्टि आवश्यक नहीं थी और तब से उसी रूप में बना हुआ है। इसी प्रकार ऐसी धारणा पर धारा 200 के अधीन संघीय न्यायालय की स्थापना की गई थी जिसमें भारत के मुख्य न्यायमूर्ति और कई अन्य न्यायाधीश होते थे। तथापि 1919 के अधिनियम की उद्देशिका विश्वास और नीति से संबंधित अनुच्छेद होने के कारण निरसित नहीं हुई और 1919 वाले अधिनियम के निरसित कर दिए जाने पर भी 1935 वाले अधिनियम की धारा 321 के परन्तुक में स्वतः अनुरक्षित बनी रही। उस समय बिन्दु से एक लम्बा मार्ग भारत की स्वतन्त्रता तथा संविधान विरचित करने तथा उसे अपनाने की ओर अग्रसर हुआ। इसके अधीन हमारे पास संविधान के अनुच्छेद 124 (1) के अधीन उच्चतम न्यायालय के आवश्यक संघटक के रूप में भारत का मुख्य न्यायमूर्ति है। सरल शब्दों में वह स्वतः एक संस्था है। इसके अतिरिक्त वह भारत के उच्चतम न्यायालय के रूप में ज्ञात न्यायिक संस्था का एक संघटक भी है। अनुच्छेद 124 (2) के अधीन तथा अनुच्छेद 217 के अधीन भी भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों तथा उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायमूर्तियों और न्यायाधीशों की नियुक्ति के विषय में बाध्यकर परामर्शक कार्य सौंपा गया है। संविधान विरचित करते हुए, जो मार्च, 1948 में किया गया था, संघीय न्यायालय के दृष्टिकोण का और भारत संघ के सभी प्रान्तीय उच्च न्यायालयों का प्रतिनिधित्व करने वाले मुख्य न्यायमूर्तियों के दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करने वाला ज्ञापन बी० शिवरामकृत "फ्रेमिंग आफ इंडियाज कान्स्टीट्यूशन" जिल्द 4 पृष्ठ 194 में उपलब्ध और पुरोधृत है, देश में ब्रिटिश द्वारा स्थापित न्याय-प्रशासन की पद्धति को धन्यवाद दिया गया था और इस बात की अवेक्षा की गई थी कि न्यायपालिका ने तब तक कार्यपालक शक्ति द्वारा अधिक्रमण और आक्रमण के विरुद्ध व्यष्टि नागरिकों के अधिकारों का संरक्षण करने के लिए मुख्यतः महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी किन्तु इसमें यह आशंका (भय) व्यक्त की गई थी कि इस प्रकार प्राप्त की गई न्यायपालिका की प्रास्थिति और प्रतिष्ठा इसकी शक्ति, अधिकारों और प्राधिकार को कम करने का प्रयत्न निरर्थक हो गया था। संस्थागत अर्थ में मुख्य न्यायमूर्ति की रैंक और अग्रता का अनिर्मित प्रतिधारण संविधान के पूर्व की अवधि में उसी न्यायालय के, चाहे यह राज्यों का उच्च न्यायालय हो अथवा भारत का उच्चतम न्यायालय हो, अन्य न्यायाधीशों के समक्ष (पूर्व) संस्थागत अर्थ में मुख्य न्यायमूर्ति के रैंक और अग्रता का अनिर्मित प्रतिधारण स्वीकृत अधिक्रम (श्रेणीक्रम) सन्नियम है और इस प्रकार उसकी संस्थागत प्रधानता का स्रोत है।

521. विचित्र बात यह है कि सामान्य बोलचाल में तथा आंग्ल शब्दकोष में भी "रैंक" शब्द विशेष रूप से शासकीय उच्च सामाजिक क्रम या अन्य स्थायी हैसियत के सामाजिक संगठन के भीतर एक स्थिति, विशेष रूप से शासकीय स्थिति को निर्दिष्ट करता है। इसी प्रकार शब्द "अग्रता" उच्च सामाजिक विधान के अवसर पर माने जाने वाले आनुष्ठानिक क्रम या अग्रता को इंगित करता है। उसी प्रकार शब्द "प्राथमिकता" रैंक में प्रथम होने या औपचारिक स्थिति अर्थात् अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थिति वाला होना इंगित करता है। इस प्रकार यह दृष्टव्य है कि न केवल शब्द "प्रधानत" शब्द "रैंक" और

"अग्रता" से भली-भांति जुड़ा हुआ है बल्कि ये सभी वैचारिक दृष्टि से भी एक ही कुटुम्ब (वर्ग), नस्ल, समूह तथा तत्व के हैं। न्यायिकत: कार्य करते हुए, यथास्थिति, भारत का मुख्य न्यायमूर्ति या उच्च न्यायालय का मुख्य न्यायमूर्ति प्रधान (प्राइमस् इनटर परिस) के रूप में जाना जाता है, अर्थात् समकक्ष व्यक्तियों के बीच प्रथम किन्तु न्यायिक विषयों से भिन्न विषयों में अपने पद के कारण प्रास्थिति रैंक और अग्रता की अद्वितीय स्थिति का उपभोग करता है। यह विशिष्टता जब कभी उसे शब्द न्यायालय की तुलना में संविधान में विशिष्टता निर्दिष्ट किया जाता है तो यह जहां भी आता है, पहले मस्तिष्क में पैदा होती है और उसके पश्चात् सांविधानिक रूप से बनी रहती है। इस आधार पर ही उसका कार्य प्रधान तत्व वाला होने के कारण अविभाज्य है।

522. विधायी इतिहास हमें यह बताता है कि संविधान के पूर्व और ब्रिटिश शासन के दौरान किसी भी विधि में यह आवश्यक नहीं था कि कार्यपालिका पूर्वोक्त न्यायालयों में न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिए संघीय न्यायालय और/या उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श लें। ऊपरनिर्दिष्ट मार्च, 1948 के संघीय न्यायालय और उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्तियों के ज्ञापन में यह सुझाव देते हुए कि उच्च न्यायालय के प्रत्येक न्यायाधीश की नियुक्ति राज्य के राज्यपाल से परामर्श के पश्चात् तथा भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सहमति से उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति की सिफारिश पर राष्ट्रपति द्वारा की जाएगी यह मत व्यक्त किया गया था कि राष्ट्रपति द्वारा प्रस्थापित नियुक्ति से सहमत होने से इंकार करते हुए भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की संभावना को शामिल करने के लिए संविधान में कोई उपबंध करना आवश्यक नहीं था क्योंकि दोनों ही सर्वोच्च उत्तरदायित्व वाले अधिकारी थे और उस समय तक ऐसी इंकारी संबंधी कोई मामला उद्भूत नहीं हुआ था यद्यपि ऐसी परिपाटी (कन्वेंशन) थी कि ऐसी नियुक्ति मुख्य न्यायमूर्ति को उनकी सहमति प्राप्त करने के लिए मामला निर्देशित करने के पश्चात् की जाएगी। यह भी सुझाव दिया गया था कि यदि कभी ऐसी स्थिति उत्पन्न भी होती है तो वस्तुत: इसका समाधान भिन्न प्रस्तावना करके राष्ट्रपति द्वारा किया जाएगा और इस निमित्त कोई अभिव्यक्त उपबंध करने की आवश्यकता नहीं है। यह भी सुझाव दिया गया था कि जो कुछ उच्च न्यायालय के बारे में कहा गया है वही सब कुछ यथावश्यक परिवर्तन सहित उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति के संबंध में भी लागू होगा। न्यायाधीशों के निकाय ने यह भी सुझाव दिया कि इस बात की प्रशंसा नहीं की जा सकती कि क्यों उच्चतम न्यायालय के किसी न्यायाधीश की नियुक्ति करने के पूर्व उच्चतम न्यायालय या राज्यों में उच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश या न्यायाधीशों से परामर्श करने की सांविधानिक बाध्यता राष्ट्रपति पर सौंपी जाए क्योंकि राष्ट्रपति को उनसे परामर्श करने से जब कभी वह (राष्ट्रपति) ऐसा करना आवश्यक समझे, निवारित करने वाला कुछ भी नहीं है। देश के उच्चतर न्यायाधीशों के निकाय के सुझावों के प्रति पूर्णत: जागरूक निकाय, उच्चतम/सर्वोच्च न्यायिक कृतकारी एक मात्र कार्यपालक पर नियुक्तियां छोड़ने के बजाए, संविधान के अनुच्छेद 124 या 217 के निबंधनों में नियुक्तियां करने के पूर्व भारत के मुख्य न्यायाधीश की प्रास्थिति और रैंक की मान्यता के लिए उनके बाध्यकर भागीदार कार्य का उपबंध करते हुए जब राष्ट्रपति द्वारा परामर्श किया जाना अपेक्षित हो, विधिक सेतू निर्मित करने के लिए अग्रसर हुआ। डा० बी० आर०

अम्बेडकर की टिप्पणियां, जैसा कि मेरे बन्धु न्या० पांडियन द्वारा उद्धृत की गई हैं, पुरोधृत करने के लिए किया जा रहा है मेरे द्वारा चयन की गई हैं—

"मुझे प्रतीत होता है उन परिस्थितियों में जिसमें हम आज रह रहे है, जहां उत्तरदायित्व की भावना उसी सीमा तक नहीं है जिस सीमा तक हमें संयुक्त राज्य अमरीका में ज्ञात होती है, बिना किसी शर्त या सीमा के अर्थात् तत्कालीन कार्यपालक के सलाह मात्र पर नियुक्तियों का किया जाना राष्ट्रपति पर छोड़ना खतरनाक होगा। इसी प्रकार मुझे यह प्रतीत होता है कि ऐसी प्रत्येक नियुक्ति करना जिसे कार्यपालिका करना चाहती है, विधानमण्डल की सहमति से करना भी बहुत उपयुक्त उपबंध नहीं है।"

523. उच्चतर न्यायपालिका में नियुक्तियों के विषय में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा सहमति देने की मांग के संबंध में जैसा संविधान-सभा के कतिपय सदस्यों द्वारा की गई है, उत्तर देते हुए, डा० अम्बेडकर ने इस विषय पर चर्चा परिसमाप्त करते हुए निम्नलिखित विचार व्यक्त किया था—

"मुख्य न्यायमूर्ति की सहमति के प्रश्न के संबंध में मुझे यह प्रतीत होता है कि जो व्यक्ति इस प्रतिपादना का समर्थन (वकालत) करते हैं विवक्षित रूप से मुख्य न्यायमूर्ति की निष्पक्षता और उनके निर्णय की युक्तियुक्तता दोनों पर अवलंब लिया जाना प्रतीत होता है। मैं व्यक्तिगत रूप से यह महसूस करता हूं कि निस्संदेह मुख्य न्यायमूर्ति एक बहुत ही विशिष्ट व्यक्ति हैं तथापि उनमें वे सभी कमियां, सभी मनोभाव (विचारों) तथा प्रतिकूल बातें हैं जो हम में आम व्यक्तियों के रूप में हैं और मैं समझता हूं व्यवहारिक रूप से न्यायाधीशों की नियुक्ति के संबंध में मुख्य न्यायमूर्ति को प्राधिकार अन्तरित करना है, जिसे हम राष्ट्रपति या तत्कालीन सरकार में निहित करने के लिए तैयार नहीं है। इसलिए मैं यह समझता हूं कि यह भी एक खतरनाक प्रतिपादना है।"

(रेखांकन बल देने के लिए किया गया है)

524. इस परिस्थिति में पहले भारत शासन अधिनियम, 1919 की उद्देशिका के शब्दों को "उत्तरदायित्व-बोध" की संकल्पना के रूप में स्मरण करना चाहिए। डा० अम्बेडकर के अनुसार उत्तरदायित्व बोध में आवश्यकता की सीमा तक इतनी वृद्धि नहीं हुई है जिससे कि कार्यपालिका पर न्यायिक नियुक्तियां करने वाले के रूप में विश्वास किया जा सके जैसा कि क्राउन के अधीन इसके पद-पूर्ववर्ती का कार्य था। यहां तक कि उसने किसी प्रकार की शर्त या सीमा के बिना ही कार्यपालक के परामर्शमात्र पर नियुक्तियां राष्ट्रपति द्वारा करने के लिए छोड़ा जाना खतरनाक बताया है। संभवतः उस समय वह विचार किया गया था कि कार्यपालक के प्रस्ताव अस्वीकार करने के लिए राष्ट्रपति में कतिपय विवेकाधिकार निहित हैं क्योंकि वर्तमान रूप में अनुच्छेद 74 नहीं था जिसके अधीन मंत्रिपरिषद् की सलाह राष्ट्रपति पर बाध्यकर है। इसके पश्चात् उसने मुख्य न्यायमूर्ति के भागीदारी कार्य के संबंध में यह दृष्टिकोण अपनाया कि "सहमति" का अभिप्राय नियुक्ति पर वीटो से है जिसका प्रसंग के अनुसार अर्थ मुख्य न्यायमूर्ति को नियुक्ति करने वाला प्राधिकारी बनाना था और संवि-

धान सभा यह आत्यंतिक शक्ति राष्ट्रपति या तत्कालीन सरकार में निहित करने के लिए तैयार नहीं थी। इस प्रकार स्पष्ट विचार यह था कि कुछ क्षण के लिए राष्ट्रपति के हस्ताक्षर और मुद्रा के अधीन नियुक्तियां करने के सचिवीय कार्य को पृथक रखते हुए, राष्ट्रपति या तत्कालीन सरकार को भी स्वतः सहमति देने वाले बनकर और परिणामतः मान्य नियुक्ति प्राधिकारी बनकर और स्वतः वीटो की शक्ति धारण करके परामर्शदाता मुख्य न्यायमूर्ति की सिफारिश की उपेक्षा करते हुए नियुक्ति करने की आत्यंतिक शक्ति नहीं दी गई थी। इस प्रकार भाग लेने वालों के दोनों अनन्य कार्यों पर संविधान सभा में सन्देह किया गया था और इसलिए उस स्तर पर और केवल उस स्तर पर प्रयोग करने के लिए बहुमत की संकल्पना पुरःस्थापित की गई थी।

525. जैसा कि प्रकट है, इसके परिणामस्वरूप वर्तमान रूप में अनुच्छेद 124 और 217 हैं। यद्यपि प्रतियोगी शब्द "परामर्श" और "सहमति" में से शब्द "परामर्श" का, संविधान-विषयक और शालीन शब्द होने के कारण इस विषय में वर्चस्व रहा है किंतु यह दृष्टिकोण अपनाया गया कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को जब राष्ट्रपति द्वारा अपेक्षित प्रस्थापना की जाए तब न्यायाधीशों की नियुक्ति के संबंध में वीटो (शक्ति) रखने के लिए अनुज्ञात नहीं किया जा सकेगा। इसी प्रकार डा० अम्बेडकर के कथन के वे शब्द जिन पर बल दिया गया है, जो इसमें ध्यान आकर्षित करने में असफल रहे, उस समय की इस समसामयिक विचारधारा का सुझाव देते हैं कि वीटो की समरूप शक्ति राष्ट्रपति या तत्कालीन सरकार में भी निहित नहीं थी। प्रथम उद्धरण इस मत का समर्थक है कि बिना किसी शर्त या परिसीमा के नियुक्तियों का किया जाना राष्ट्रपति अर्थात् तत्कालीन कार्यपालिका की सलाह पर छोड़ना खतरनाक महसूस किया गया था। यह प्रकटतः अनुच्छेद 74 के, जैसा कि यह तब था, पालन में था। अब मंत्रिपरिषद् की सलाह बाध्यकारी है। इससे यह अभिप्रेत है कि जहां तक राष्ट्रपति का संबंध है उच्चतर लाट के न्यायाधीशों की नियुक्ति का विषय भारत के मुख्य न्यायमूर्ति और प्रधानमंत्री (विधि मन्त्री सहित) के बीच छोड़ दिया गया है और वह दी गई सलाह का अनुसरण करेगा। इस प्रकार यह प्रधानमंत्री के स्तर की बात है कि मुख्य न्यायमूर्ति की प्रधानता की तलाश करने के लिए निदेश देने की आवश्यकता होती है इसके अतिरिक्त भी जबकि शाब्दिक दृष्टि से साधारणतया परामर्श लेने वाले के कर्तव्य को न्यायिक श्रृंखला (चैनल से) में परामर्श लेने वाले की शक्ति पर कारगर चेक परिसीमा या शर्त नहीं माना गया है। कोई नियुक्ति करने का प्रस्ताव कार्यपालिका द्वारा किए जाने और विधानमंडल द्वारा सहमति दिए जाने का आनुकल्पिक प्रस्ताव भी अस्वीकार कर दिया गया था क्योंकि ऐसी शक्ति के प्रयोग पर चेक अन्य उच्च सांविधानिक पदाधिकारी अर्थात् भारत के मुख्य न्यायमूर्ति पर था।

526. हमें संविधान के प्रति नतमस्तक होने में परेशानी नहीं महसूस होनी चाहिए जैसा कि यह विद्यमान है। संभवतः हमारा संविधान संसार में सबसे बड़ा संविधान है—एक उदारतापूर्वक लिखा गया दस्तावेज। इसमें शब्दों के प्रयोग में कोई कृपणता नहीं की गई है। पूर्णतः सुव्यवस्थित रूप में इसकी कल्पना करने के लिए यह एक जीवित प्रतिमान है—वेस्टमिनिस्टर माडल। ये सभी समस्याएं जिनका राष्ट्र सामना कर रहा है विधि की सहायता से समाधेय हैं और संविधान की भाषा और ढांचा के माध्यम से उत्तर पाया जा सकता

है। सभी प्रकार के नए विचार और अनुभव की गई नई समस्याओं के समाधान जिन्हें संविधान निर्माताओं द्वारा परिकल्पित नहीं किया गया है स्वयं संविधान के शब्दों के माध्यम से (अर्थ) निकाला जाना चाहिए। समय की सबसे बड़ी समस्याओं का समाधान भी केवल समयानुकूल किए गए निर्वचनों द्वारा नहीं किए जाते हैं। संविधान में नियोजित शब्दों के सुराग के माध्यम से गुजरने के लिए अन्य वैध पद्धति उपलब्ध हैं। बहुमत द्वारा शब्दों की उपेक्षा करना भी इसका उत्तर नहीं है। वर्तमान समस्या के लिए भारत सरकार द्वारा दिए गए तथ्यों और आंकड़ों को देखें जहां भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय ऐसे व्यक्ति की नियुक्ति करके, जिसका उनके (मुख्य न्यायमूर्ति) द्वारा अननुमोदन किया गया था या जिसकी उनके द्वारा सिफारिश नहीं की गई थी, अभिखंडित कर दी गई थी। श्री एस० के० बोस के तारीख 2 अप्रैल, 1993 के शपथपत्र में यह कथन किया गया है कि पिछले दशक में की गई 547 नियुक्तियों में से 540 भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय के अनुसरण में की गई थीं और शेष 7 नियुक्तियां ऐसी राय के अनुसरण में नहीं की गई थीं। हमें इस बारे में ब्यौरे नहीं दिए गए हैं कि ये नियुक्तियां किस न्यायालय से संबंधित थीं। सिवाय इस बात के कि सात प्रश्नगत किए जाने योग्य (संदिग्ध) नियुक्तियों में से पांच 1983 में, एक 1985 में और एक 1991 में की गई थी। **एस० पी० गुप्ता**[1] वाले मामले का यही परिणाम है। यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि क्या ये नियुक्तियां उच्च न्यायालय से संबंधित थीं और क्या ये कम-से-कम संबंधित उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायमूर्तियों की राय के अनुसरण में की गई थीं। किसी भी दशा में शपथपत्र में यह कथन नहीं किया गया है कि ये नियुक्तियां भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के अतिरिक्त उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति की राय के विरुद्ध की गई थीं। अन्यथा, यदि ऐसी चूक नहीं हुई होती, जिसके लिए कार्यपालिका ने विभिन्न न्यायालयों में क्षति-पूर्ति करने के लिए कहा है, तो कार्यपालिका ने भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय की प्रधानता को स्वीकार किया होता जो कि उसकी सहमति से हो रही 540 नियुक्तियों के तथ्य से प्रकट है। इस प्रकार समसामयिक दृष्टिकोण से जब संविधान अपनाया गया था और इसके पश्चात् के वर्षों में उसके वास्तविक कार्यकरण से यह स्थिति प्रकट होती है कि परामर्शदाता प्रभावी परामर्शदाता रहा है और दोनों में से किसी को भी दूसरे को चुप करने की शक्ति नहीं है। उच्च प्रभावी सांविधानिक पदधारी अर्थात् विधि मन्त्री सहित, यदि कोई है, भारत का प्रधानमन्त्री और भारत का मुख्य न्यायमूर्ति से पारस्परिक और समायोजन की भावना से परस्पर प्रभाव डालने और इसके विपरीत प्रयोजन से कार्य न करने की प्रत्याशा की जाती हैं। संविधान सभा के अध्यक्ष/सभापति के रूप में डा० राजेन्द्र प्रसाद का भाषण जब भारत के संविधान को अपनाया जाने लगा जो कि बहुमत की राय में विस्तार से उद्धृत किया गया है, यहां भागतः उद्धृत किया जाना उपयोगी है—

> "हमने एक लोकतांत्रिक संविधान तैयार किया है किंतु लोकतांत्रिक संस्थाओं के सफलतापूर्वक कार्य करने के लिए उनकी आवश्यकता है जिन्हें अन्य व्यक्तियों के दृष्टिकोण को सम्मान देने के लिए स्वेच्छा से उनके लिए कार्य करना है तथा जिनमें समझौता और समायोजन करने के लिए क्षमता हो। अनेक बातें जो संविधान में नहीं लिखी जा सकती हैं, कन्वेंशन द्वारा की गई हैं। हमें यह आशा करनी चाहिए कि हम वह क्षमता दर्शित करेंगे तथा उन परिपाटियों (कन्वेंशन) को विकसित करेंगे।"

---

[1] [1982] 4 उम० नि० प० 1=[1982] 2 एस० सी० आर० 365.

527. यह समय की मांग को प्रतिबिम्बित करता है। ऐसे विचार की धारणा — क्षमता और उसके प्रयोग से ही हम न्यायपालिका की स्वतंत्रता, जीवन की लोकतांत्रिक स्वरूप और संबंध की पारस्परिकता में संविधान के कार्यकारण को बनाए रखते हैं। यही विचारधारा विधि-शासन को संवर्धित करती है जिसकी व्यवहार्यता चेक और संतुलन के उपाधान पर निर्भर करती है। अपने स्वार्थसाधन की भावना हमारे संविधान के पूर्णतया विपरीत है। क्या प्रगति अपने पथ पर हर समय ऐसे व्यक्ति की तलाश नहीं करती जो माल प्रदाय कर सकता है। क्या इसके अन्त में भारत की जनता ने संविधान के माध्यम से पूर्वोक्त सांविधानिक कृत्यकारियों में से ऐसे व्यक्तियों की तलाश करने और उसका उपयोग करने का कर्तव्य उनमें सौंपने के लिए जो उच्चतर न्यायिक सोपानक (श्रेणीकरण) वाले व्यक्ति को माल प्रदाय कर सके, विश्वास नहीं किया है। इस विश्वास का निर्वहन दोनों के द्वारा इनमें से किसी के बाबत वरिष्ठता बोध के बिना पवित्र कर्तव्य के रूप में निर्वहन किया जाएगा। संसदीय व्यवस्था में जैसी हमारी संसदीय व्यवस्था है, निर्वाचित सरकार जिसका नेतृत्व प्रधानमंत्री द्वारा किया जाता है, जनता की सरकार है। न्यायपालिका की नियुक्ति भी सांविधानिक कृत्यकारियों के संयुक्त प्रयत्न के माध्यम से जनता द्वारा की जाती है यद्यपि अप्रत्यक्ष रूप से। इनमें जनता की प्रत्याशाएं वैवाहिक न्यायालय के दृश्य से समुचित रूप में निरूपित की जा सकतीं हैं जहां विरोधी पति-पत्नी के बालक से यह पूछा गया कि वह किसके साथ रहना पसंद करेगा तो उसने उन दोनों के साथ रहने की अपनी अटूट ईप्सा व्यक्त की। बालक के कल्याण के लिए माता-पिता दोनों की आवश्यकता होती है। इस प्रकार बहुमत एक साथ कार्य करने, विवाद विषयों को कम करने, अन्तर कम करने पारस्परिक प्रभाव के लिए समुचित समय चुनने, विवादग्रस्त प्रस्तावों को छोड़ देने में है तथा ऐसी अन्य नियुक्तियों को अवरुद्ध न होने देने में है जो परस्पर चर्चा द्वारा जनता की सेवा करने के लिए अग्रसर हो सकती है, इसका उद्देश्य यह है कि उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालय न्यायाधीशों से अभावग्रस्त न रहने पाएं।

528. इस प्रकार एस० पी० गुप्ता वाला मामला जैसा कि मैंने इसका अवलोकन किया है, जहां तक यह भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के अननुमोदन के स्पष्ट दृष्टिकोण या उसके द्वारा सिफारिश न किया जाना भद्दी चाल चलने के लिए कार्यपालिका को अनुज्ञात करता है, और उस निमित्त जब उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति की जाती हैं तब उच्च-न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति की राय अननुज्ञेय वंचन, संविधान की भावना के अतिक्रमण का ऐसा कार्य है जिसका अनुमोदन नहीं किया जा सकता है क्योंकि यह कार्यपालिका को ऐसी अनुचित और अनपेक्षित अतिरिक्त शक्ति देता है जिसकी कल्पना मूलतः नहीं की गई है। सांविधानिक उपबंध बहुमत और पारस्परिकता की कल्पना करता है, जैसी कि कल्पना की गई है, किंतु केवल सांविधानिक कृत्यकारियों के बीच न कि विधिसम्मत के स्थान पर संविधान बाह्येत्तर किस कृत्यकारी की। इन दोनों कृत्यकारियों का संबंध पालने के बालकों के साथ जोड़ा जा सकता है जो (बालकों) अपने एक ही माता (कामन मदर) संविधान से घनिष्टता से जुड़े हुए हैं। इस प्रकार सीधे फल की अपेक्षा उस वृक्ष के प्रति अधिक बाध्यता है जो फल देता है। एक मात्र फल की सिंचाई करना वृक्ष के जड़ की उद्देश्यहीन उपेक्षा करना है। यह दृष्टिकोण कि दोनों कृत्यकारियों को एक-दूसरे से दूर रहना चाहिए,

प्रति उत्पाद (प्रतिकूल) है । इन दोनों के बीच के संबंध को अधिक सोच-विचार के साथ बनाए रखने की आवश्यकता है ।

529. अब हमें भारत के मुख्य न्यायमूर्ति का उनके अवर न्यायाधीशों के साथ संबंध का अवलोकन करना चाहिए । संघ न्यायपालिका अर्थात् अनुच्छेद 124 के अधीन भारत के उच्चतम न्यायालय में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति और उसके निबंधनों में अन्य न्यायाधीश हैं । प्रयुक्त भाषा सरल तथा स्पष्ट है और जो न्यायालय के अन्य न्यायाधीशों से उसे प्रभेदित करती है । उच्चतम न्यायालय के अन्य न्यायाधीशों के मुकाबले भारत का मुख्य न्यायमूर्ति की बेजोड़ स्थिति है, रैंक और प्रास्थिति में वह प्रधान (प्रमुख) है । उसे न केवल उच्चतम न्यायालय के अन्य न्यायाधीशों की तुलना में अधिक संदत्त किया जाता है बल्कि उनसे भिन्न रोस्टर नियत करने, न्यायाधीशों का गठन कार्य इत्यादि के आबंटन का तथा अन्य प्रशासनिक कार्य इत्यादि करने का उत्तरदायित्व धारण करता है । अनुच्छेद 146 भी उसके प्रशासनिक कार्य का स्पष्ट संकेतक है । इस प्रकार अपने पद के कारण उसकी पृथक् प्रास्थिति है । अनुच्छेद 124 के संदर्भ में या उसके भाव में इस विषय में राय नहीं हो सकती । तुलनात्मक दृष्टि से उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति उसका सांविधानिक कृत्य है । अनुच्छेद 124(2) की सरल भाषा के आधार पर भारत के राष्ट्रपति द्वारा भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से सदैव नियुक्ति करने के पूर्व अकेले ही परामर्श किया जाना चाहिए जब कि इसके विपरीत उसके अवर न्यायाधीशों को परामर्श क्षेत्र मात्र में आने वाला निर्दिष्ट किया गया है और वह भी राष्ट्रपति की राय से । उनकी (अवर न्यायाधीशों की) राय अभिप्राप्त करना अनिवार्य नहीं है । वस्तुत: राष्ट्रपति पर आधारित राय शुद्धत: वैवेकिक है । राष्ट्रपति उच्चतम न्यायालय के सभी न्यायाधीशों की तथा उच्च न्यायालय के सभी न्यायाधीशों की उपेक्षा कर सकेगा तथा देश के दुरस्त क्षेत्र के रैंक में किसी उच्च न्यायालय के कनिष्ठतम न्यायाधीशों से परामर्श कर सकेगा । इस प्रयोजन के लिए एक मात्र नियत परिसीमा यह है कि राष्ट्रपति द्वारा परामर्श की ईप्सा इस प्रकार चिह्नित उच्चतर न्यायपालिका के सदस्यों में से ही की जा सकती है । तुलना में यह भी भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की एकल स्थिति को अभिदर्शित करता है । भारत का मुख्य न्यायमूर्ति न्यायिक अर्थ में उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों में से एक है । किंतु वह भारत के सम्पूर्ण राज्यक्षेत्र का भारत का मुख्य न्यायमूर्ति है जिसके विभिन्न उच्च न्यायालयों और पदानुक्रम में अन्य न्यायालय सम्मिलित हैं । उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में कार्यरत कोई भी न्यायाधीश और उसके बाद में नियुक्त किया जाने वाला कोई अन्य उसके अनुमोदन रूपी छड़ी के स्पर्श से नहीं बचा होगा या नहीं बच सकता है । उच्च न्यायालय की प्रत्येक नियुक्ति में उसे एक को प्रभावी भूमिका निभानी होती है । यह परामर्श देने योग्य बात है कि उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्तियां केवल स्थानीय क्रियाकलाप के रूप में यों ही नहीं छोड़ी जा सकती हैं । इस प्रकार संविधान में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को उसके अनुमोदन द्वारा न्यायिक कुटुम्ब के व्यक्तियों को न्यायिक कुटुम्ब में प्रवेश होने के अनुप्रमाणन करने की प्रमुख स्थिति में है जिसका कि वह कुलपिता है । तद्नुसार उस निमित्त उच्च न्यायालयों में न्यायाधीशों के कार्यों का निरीक्षण करना उसका कर्तव्य है क्योंकि अन्यथा अनुच्छेद 222 के अधीन एक उच्च न्यायालय से दूसरे उच्च न्यायालय में स्थानांतरण की बाबत उसकी शक्ति अर्थपूर्ण रूप से प्रयोग नहीं की

जा सकेगी। उस अर्थ में भारत का मुख्य न्यायमूर्ति प्रशासनिक तौर से देश में न्यायपालिका का गठन करता है किन्तु यह गठन मुख्य रूप से उसका है न कि उच्चतम न्यायालय का।

530. बहुमत की राय से जैसा कि मैं देखने में समर्थ हो सका हूं, इस प्रभेद/विशिष्टता को मिटा देने का निष्कर्ष निकलता है। यह ऐसे पथ का अनुसरण करता है जो ऐसी जगह को जाता है जो संविधान के लिए अपरिचित है। यह कहा जाता है कि विधि का नियम सम्पूर्ण सांविधानिक ढांचा में व्याप्त संविधान की मूल विशेषता है। मैं इससे सहमत हूं। न्यायपालिका की स्वतन्त्रता विधि के नियम का अनिवार्य गुण है और संविधान की मूल संरचना का भाग है। इससे भी मैं सहमत हूं। विधि का, इसकी जो भी लम्बाई या विस्तार हो, कतिपय अंत होता है, जहां से यदि मानव विवेकाधिकार का उस पर अधिकार होता है तो यह या तो न्याय की ओर या अन्याय की ओर, युक्तियुक्तता की ओर या मनमानेपन की ओर अग्रसर होगा। ससम्मान, अब मैं सभी स्थितियों में इस संदेहवाद का भागी नहीं हूं, कम-से-कम भारत के मुख्य न्यायमूर्ति में निहित विवेकाधिकार की दशा में। संविधान के माध्यम से भारत की जनता द्वारा उसमें रखे गए विश्वास के संबंध में उसकी बेजोड़ स्थिति है। इस संबंध में सन्देह ग्रहण करना अनाधारित होने के अतिरिक्त पूर्णतया अननुज्ञेय है। इसके पश्चात् यह स्थिति व्युत्पन्न होती है कि इसलिए मानवीय विवेकाधिकार (उसके विवेकाधिकार) की गुंजाइश कतिपय मार्गदर्शक सिद्धांत अधिकथित करके कम की जानी चाहिए या मिटा दी जानी चाहिए जिससे कि वे विधि के रूप में प्रवर्तनीय हो सके। परिणामतः विवेकाधिकार के अयुक्तियुक्त और मनमाना होने के सन्देह पर इसे (विवेकाधिकार को) किसी व्यष्टि में निहित नहीं करना चाहिए और काल्पनिक रूप से इस निकाय के रूप में उच्चतर पदानुक्रम की देश की न्यायपालिका के सुपुर्द नहीं बल्कि वस्तुतः "समष्टिवाचक विवेक" (प्रज्ञा) के अधीन अंतिम विनिश्चय के लिए बहुमत का नया तत्व पुरःस्थापित करते हुए व्यक्तियों के निकाय के सुपुर्द करना चाहिए। इस कदम के समर्थन में यह मत व्यक्त किया गया था कि क्योंकि सांविधानिक स्कीम व्यष्टि में आत्यंतिक शक्ति निहित किए जाने के विरुद्ध है इसलिए भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को संविधान के अनुच्छेद 124(2) के अधीन अपना खेल खेलने के लिए एक ही भूमिका नहीं दी जा सकती और उक्त अनुच्छेद में उसके प्रति निर्देश को उसके द्वारा सम्पूर्ण न्यायपालिका का प्रतिनिधित्व करने के प्रतीक के रूप में समझा जाना चाहिए। यह भी सुझाव दिया गया है कि वास्तविक प्रयोग में इसे मनुष्यों के निकाय में एक ही होना चाहिए अर्थात् वह ज्येष्ठता क्रम में अपने सहकर्मियों में से दो के साथ और उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति की सिफारिश करते हुए सामूहिक दृष्टि से अल्पतंत्र के रूप में और इसी प्रकार उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्तियों और अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति के विषय में उन दोनों से अधिक के निकाय में होना चाहिए। यह वस्तुविनिमय है जिसे भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को कार्यपालिका से अपनी खोई हुई प्रधानता को वापस पाने के लिए अवश्य स्वीकार करना चाहिए। उसे सदैव अपने एकल मत का समर्थन करना चाहिए। भारत के मुख्य न्यायमूर्ति का व्यष्टि मत (ध्वनि) उस निकाय का गठन करने वाले उपर्युक्त निर्दिष्ट व्यक्तियों के मत के ठीक बराबर होगा। समष्टिवाचक विवेक रूप में ज्ञात ऐसी सभी आवाजें (राय) उच्चतर न्यायपालिका में न्यायाधीशों की नियुक्ति की सिफारिश करते हुए केन्द्रीय सरकार को लिखित में भेजी जाएंगी। इस समष्टि द्वारा काल्पनिक रूप से सदैव एकमत से यह

1993(10) eILR(PAT) SC 1

धारण नहीं की जाती है कि इसके पास प्रतिध्वनित करने वाली सबसे ऊंची ध्वनि होती और ऐसी ध्वनि को ऐसे अन्य सांविधानिक कृत्यकारियों की तुलना में जिनका सम्यक् महत्व होगा, "अधिक महत्व" होता। इसके अतिरिक्त कार्यपालिका द्वारा समयबद्ध प्रतिक्रिया किया जाना अपेक्षित है और उसका प्रभावी रूप से ऐसा करने में असफल होने पर इसकी ओर से इस अल्पतन्त्र द्वारा प्रस्तावित कार्रवाई पर राष्ट्रपति को सलाह दिया जाना बाध्यकर होगा। अन्ततः यह सुझाव दिया गया है कि चूंकि इस पद्धति द्वारा की गई नियुक्तियां अनुमानतः वर्ग के रूप में न्यायपालिका के अनुमान से होंगी अतः तब किसी नियुक्ति के संबंध में न्यायिक पुनर्विलोकन के लिए कोई कारण या गुंजाइश नहीं होगी, सिवाय नियुक्त व्यक्ति की अर्हताओं में किसी कमी की सीमित सीमा तक। इस पद्धति के कारण यह कहा जाता है कि न्यायपालिका में सही व्यक्ति लिए जाएंगे। मेरे मतानुसार संविधान की भाषा और स्कीम की शब्दावली में उसके संतुलन को बिगड़ने से जिस पर यह टिका हुआ है तथा विशेष रूप से न्यायिक पुनर्विलोकन से इंकार करने में इसके मूलभूत ढांचे तथा मूल विशेषताओं पर जोरों का प्रहार करने से अधिक अतिक्रमणकारी कुछ भी नहीं होगा। और ऐसे निर्वचन पर इसके पश्चात् राष्ट्रपति संविधान के अनुच्छेद 124 (2) के अधीन देश में किसी न्यायाधीश से परामर्श की याचना नहीं कर सकता क्योंकि अब सभी न्यायाधीशों की आवाज/ध्वनि प्रतीकात्मक मुख्य न्यायमूर्ति में पायी जाएगी। इसलिए मैं, ससम्मान, बहुमत की राय से असहमति व्यक्त करता हूं। मैं पहले से ही इसके प्रवर्तन में विवाद की आंधी तैयार देखता हूं। यदि इस पद्धति द्वारा कार्यपालक तत्वों को रोकने का विचार किया जाता है, जिनका न्यायपालिकाद्वार में प्रवेश करने, अधिक्रमण या अतिचार करने की संभावना है तो स्वतः न्यायपालिका की क्वालिटी को शुद्ध नहीं करेगा। केवल कार्यपालक की मानसिकता वाले व्यक्तियों को न्यायाधीशों के रूप में आने से रोकने की आवश्यकता है। न्यायपालिका को प्रबल कार्यपालक मनोवृत्ति वाले व्यक्तियों से बचाने की आवश्यकता है—ऐसे व्यक्ति से जिसने विवाद तैयार किया है, ऐसे व्यक्ति जो विवाद पसंद करते हैं, ऐसे व्यक्ति जो अपने मुद्दे को जीतने के लिए सिद्धांतों से समझौता कर लेते हैं, ऐसे व्यक्ति जो विगत का इतिहासकार और भविष्य का भविष्यवक्ता नहीं है किन्तु थोड़े समय के अस्तित्व में विश्वास करते हैं। इंग्लैंड के लार्ड चांसलर की उक्ति को उद्धृत करना उपयोगी है—न्यायपालिका में सज्जनों की आवश्यकता है और विधि की कतिपय जानकारी लाभकारी है। आहाता के दोनों ओर सज्जन व्यक्ति पाए जाते हैं। कोई एक पक्ष यह दावा नहीं कर सकता कि सज्जन व्यक्ति उनके अनन्य कब्जे में है।

531. न्यायालय में आने वाले वादी की दुर्दशा का वर्णन करने के लिए दिया गया शताब्दी पुराना बाकी बेकन के दर्शन से संबंधित उनका उदाहरण मेरे मन में आता है। यह उल्लेख किया गया था कि भेड़ वर्षा और तूफान से स्वयं को बचाने के लिए झाड़ी में सुरक्षा के लिए भागी तो जब वह बाहर आ रही थी तो वह अपने ऊन से वंचित हो गई। भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की संस्था के लिए भी वैसा ही परिणाम है। यहां इसका परिणाम साधारणतः और शुद्धतः प्रभाव-क्षेत्र (रियायत) में परिवर्तन है। एस० पी० गुप्ता काल (वाले मामले) के पश्चात् विधि मन्त्री और प्रधान मन्त्री प्रभावशाली स्थिति में थे और उच्चतर न्यायपालिका में न्यायाधीश की नियुक्ति भी कर सकते थे भले ही भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा और इसी प्रकार राज्य के उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा उसका अनुमोदन या सिफारिश न

की गई हो। अपवाद केवल तब किया जा सकता है जब मुख्य न्यायमूर्ति अपने अननुमोदन में सुनिश्चित न हों अथवा उससे प्रतिबद्ध न हों। कतिपय परिस्थितियों में उसकी इस अवस्थिति (मुद्रा) को विवक्षित सम्मति के रूप में माना जा सकेगा। वस्तुतः ऐसा विरल मामलों में संभव है। अब पूर्वोक्त के स्थान पर दो कार्यपालक शीर्षस्थ प्रभावशाली स्थिति में आते हैं, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से असहमत होते हुए भी प्रथम और द्वितीय अवर न्यायाधीश। ऐसी ही स्थिति तब उत्पन्न होती है जब उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति या न्यायाधीश की नियुक्ति की जाती है। इस प्रकार मेरी सुविचारित राय में संविधान के अधीन मुख्य न्यायमूर्ति की संस्था की स्थिति एकल और बेजोड़ (अद्वितीय) होने के कारण विघ्न डालने के योग्य नहीं है। इससे **एस० पी० गुप्ता**[1] वाला मामला बच निकला यद्यपि विकृत रूप में और यह पूर्णतः अप्रचलित (विलुप्त) नहीं हो पाया है, जैसा कि अब किया जा रहा है। **एस० पी० गुप्ता**[1] वाले मामले के संबंध में भूल सुधार करने की आवश्यकता है, किन्तु विलोपन नहीं।

532. इस सुझाव के बारे में कि हमारी न्यायपालिका रूढ़िगत राजनैतिक है और उच्चतर न्यायपालिका के सदस्यों की नियुक्ति के संबंध में उसका व्यापक वर्चस्व होने के कारण गैर-राजनैतिक संयोजन सुनिश्चित करने की आवश्यकता है जिसमें संभवतः अधिक उल्लेख किया गया है। संविधान और न्यायिक पद्धति के कार्यकरण के अनुभव के लिए यह स्पष्ट हो जाता है कि जो कुछ परम्परागत गैर-राजनैतिक क्षेत्र था जब न्यायालय नागरिक "क" और नागरिक "ख" के बीच विवाद का विनिश्चय कर रहे थे, तब नागरिकों और राज्य के बीच विवादों में मूल अधिकारों के प्रवर्तन में, मानवीय अधिकारों के अतिक्रमण के प्रतितोष, लोक हित से संबंधित विवादों, नीति संबंधी विषयों के प्रवर्तन और इसी प्रकार के अन्य विषयों में वृद्धि हुई। अन्तर्निहित सीमाओं के अधीन रहते हुए आकाश के अधीन (नीचे) कोई भी विषय उच्चतर न्यायपालिका में न्यायिक पुनर्विलोकन के लिए खुला हुआ है। हम न्यायिक पुनर्विलोकन में न केवल कार्यपालक, प्रशासनिक या न्यायिकेत्तर कार्रवाई को विखंडित और जो कुछ आपत्तिजनक प्रतीत होता है, उसे विघटित कर सकते हैं बल्कि अब भी अनेक मामलों में हम मार्गदर्शक सिद्धांत अधिकथित करने के लिए आगे बढ़े हैं और हमने सकारात्मक कार्रवाई की है। ऐसा करते हुए, क्या हमने राजनैतिक क्षेत्रों को अधिकार में नहीं लिया है? क्या हमने अनेक अवसरों पर सरकार के किसी विशिष्ट खण्ड (वींग) के कार्यकरण में मार्ग-दर्शन नहीं किया तथा विशिष्ट रीति में कार्य और प्रगति करते रहने का निदेश नहीं दिया? क्या हम अनुच्छेद 14 के अधीन कार्यपालिका को यह नहीं बताते रहे हैं कि हमारे दृष्टिकोण से क्या सही है और क्या हमारे बताए अनुसार इसे किया गया था? इस मुद्दे को समाप्त करने के लिए अनेक उदाहरणों की कोई आवश्यकता नहीं होगी। यह कहने में लज्जा की कोई बात नहीं है कि राजनैतिक बने रहने की न्यायालय की पारम्परिक भूमिका विगत का विचार है। राजनैतिक विचारक संयुक्त राज्य अमरीका के उच्चतम न्यायालय को भी एक राजनैतिक संस्था के रूप में देखते हैं। यह विचार किया जाता है कि न्यायालय निर्वचन के माध्यम से नीति निर्माता है। सरकार की नीति बनाने में इसका दृष्टिकोण महत्वपूर्ण है। विभिन्न सरकारी क्षेत्रों (कार्यपालिका और विधान मंडल) में न्यायिक क्रियावाद नीतियों को पूरी तरह उलट सकता है। तदनुसार न्यायिक नियंत्रण द्वारा इसकी उपेक्षा के लिए इस

[1] [1982] 2 एस० सी० आर० **365**.

दृष्टिकोण के लिए पक्षपोषक पुनः एक नीति है। लारेंस बाउम कृत "दि सुप्रीम कोर्ट" चतुर्थ संस्करण पृष्ठ 2 में निम्नलिखित कहा गया है—

> "जनता प्रायः न्यायालयों के बारे में ऐसा कहती है मानो ये गैर-राजनीतिक है या कम से कम इसे गैर-राजनीतिक होने चाहिए। शाब्दिक अर्थ में यह असंभव ············है। यद्यपि न्यायालयों का यह दृष्टिकोण प्रचलित हो सकता है तथापि साधारणतया यह सही नहीं है। उच्चतम न्यायालय कई अर्थों में राजनीतिक है।"

533. जहां तक भारत के मुख्य न्यायमूर्ति का संबंध है, अनुच्छेद 124 और 217 को निर्दिष्ट करते हुए इसमें प्रयुक्त सरल भाषा यह सुझाव देती है कि नियुक्ति का प्रस्ताव भारत के राष्ट्रपति से प्रकट होना चाहिए। सुविधा की दृष्टि से यह बिल्कुल उल्टा है और ऐसा ठोस व्यवहारिक कारणों से है। अब प्रस्ताव, जहां तक उच्चतम न्यायालय में नियुक्तियों का संबंध है, भारत के मुख्य न्यायाधीश से प्रकट होता है और होते रहना चाहिए और जहां तक उच्च न्यायालय में नियुक्तियों का संबंध है उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति से प्रकट होता है और होते रहना चाहिए, जिसकी बाबत भारत का मुख्य न्यायाधीश एक बहुत ही महत्वपूर्ण परामर्शदाता है। ऐसी रूढ़ि विकसित करना शुद्ध और ठोस तर्कणा है। उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों में न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिए अर्हताएं संविधान में सुस्पष्ट निबंधनों में अधिकथित की गईं हैं अर्थात् किसी व्यक्ति को या तो, यथास्थिति, उच्च न्यायालय या जिला न्यायालय में कार्यरत न्यायाधीश होना चाहिए या दोनों न्यायालयों के लिए विशिष्ट प्रास्थिति का वकील और उच्चतम न्यायालय के लिए विधिवेत्ता होना चाहिए। प्रकटतः उन विषयों/क्षेत्रों की तलाश की जाएगी जिस विषयों/क्षेत्रों में न्यायाधीश और वकील कार्य करते हैं क्योंकि वे न्यायपीठ के अर्थ के संबंध में प्रभावशाली अभिदायी हैं। स्पष्टतः वह क्षेत्र न्यायालय है जहां मुख्य न्यायमूर्ति, चाहे वह उच्चतम न्यायालय का हो, अथवा उच्च न्यायालय का, कार्यकलाप का नियंत्रण या निरीक्षण करता है जहां न्यायाधीशों और वकीलों दोनों की योग्यता और प्रतिभा उनके लिए पूर्णतः प्रदर्शित और कार्यरत है—जैसा कि वे जनता में देखे जाते हैं—जहां कुछ सीमा तक पसंद/विकल्प को सुकर बनाया जाता है। इस प्रकार दृढ़ सामान्य बोध किसी नाम का प्रस्ताव करने का कार्य संबंधित न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति पर छोड़ देता है क्योंकि उसका सेवाकाल लम्बा रहा है और उसने मनुष्यों में सबसे अधिक अनुभव प्राप्त किया है। विचाराधीन व्यक्ति की विधिक विदग्धता (कुशाग्र बुद्धि) के बारे में जानने के अतिरिक्त मुख्य न्यायमूर्ति को विचाराधीन व्यक्ति के व्यवहार, न्यायालय-कौशल (कोर्ट-क्राफ्ट) और ऋजुता की अपेक्षा करने का अवसर प्राप्त है जिसके साथ वह न्यायालय, वादी और विरोधी काउन्सेल से व्यवहार करता है। मुख्य न्यायमूर्ति के पास विचाराधीन व्यक्ति की आम ख्याति के बारे में जानने के लिए अनेक स्रोत हैं। फिर भी तलाश, जैसा कि बताया जा चुका है, परम्परागत रूप से सज्जन ईमानदार और निष्ठावान व्यक्ति की खोज करना है जिसकी खोज के लिए हो सकता है मुख्य न्यायमूर्ति पूरी तरह सुसज्जित न हों। कुछ सीमा तक ये विशेषताएं न्यायालय की ऊपरी वातावरण में दिखाई देती हैं किन्तु उनमें से अधिकांश न्यायालय के बाहर है। यह प्रस्ताव मुख्य न्यायमूर्ति के पूछने मात्र से फलदायी नहीं बन सकता और नहीं बनना चाहिए क्योंकि उनकी सिफारिश प्रकृति से अपूर्ण और अपरिपक्व हैं जब तक कि

कार्यपालिका द्वारा चरित्र ईमानदारी सत्यनिष्ठा, सज्जनता और अन्य विशेषताओं के बारे में सूचनाएं नहीं दी जाती हैं। कार्यपालिका इस बाबत नियुक्ति के संभाव्य संघात (प्रभाव) प्रदाय करने की स्थिति में भी है कि यह सोसाइटी में जयजयकार और अनुमोदन प्राप्त करेगा या नहीं। इस प्रकार यह प्रकट है कि चूंकि मानव विच्छेदनीय नहीं है बल्कि सुस्पष्टतः और पूर्णतः निर्धारणीय है इसलिए दोनों कृत्यकारियों द्वारा एकत्र किए जाने योग्य क्वालिटी और विशेषताएं एकत्र की जानी चाहिए और उन्हें पूर्णतः मथना चाहिए जिससे कि दोनों अनुमोदन या अननुमोदन के लिए ऊपर आ सकें। ऐसे क्षेत्रों को जो सूचना के अन्तर्गत आते हैं, जलरोधी खंडों में या उच्चतर या लघुतर भूमिकाओं द्वारा अथवा कम या अधिक अंक आबन्टित करके, जैसा कि लोक सेवा आयोगों द्वारा किया जाता है, विभाजित नहीं किया जा सकता। कार्यपालिका के अन्तर्गत आने योग्य ऐसे अनेक अतिव्यापी स्रोत हैं जिसमें निर्धारण में मतांतर सामने आ सकते हैं। दोनों को, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति और कार्यपालिका को समुचित और स्वीकार्य नियुक्तियां प्रकट करने में सहायता करने के लिए एक दूसरे की बात मानना जरूरी है। इनके दृष्टिकोणों और निष्कर्षों का विश्लेषण करने के लिए सूचना के किसी स्रोत को बंद नहीं किया जा सकता है। वे सभी प्रामाणिक और अनुज्ञेय दिशाओं से रोशनी (दृष्टिकोण) प्राप्त करने या उसकी मांग करने के लिए हकदार हैं क्योंकि संविधान के अधीन उस निमित्त कोई वर्जन नहीं है। किसी विशिष्ट प्रस्ताव पर कितने न्यायाधीशों से परामर्श करना चाहिए पूर्णतया यथास्थिति उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति या उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति पर छोड़ दिया गया है। किसी से भी परामर्श न करना भी उसके अधिकार में है। यह उसकी सांविधानिक प्रधानता और परमाधिकार है। मुख्य न्यायमूर्ति के पक्ष में अन्य कृत्यकारियों की तुलना में प्रस्तावित नियुक्ति के संबंध में उन्हें अधिक जानकारी होना निर्धारित करके उनके (मुख्य न्यायमूर्ति के) पक्ष में प्रत्यक्षतः कोई बनावटी विभाजन नहीं किया जा सकता और उस आधार पर उनके पक्ष में प्रधानता, सम्यक् सम्मान के लिए अन्य (न्यायाधीशों) की राय को अलग रखते हुए, नहीं दी जा सकती। जैसा कि कहा गया है, विचाराधीन व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व की स्वीकार्यता का परीक्षण संयुक्त स्तर से किया जाना चाहिए। विधि की जानकारी मात्र झुकाव का तथ्य नहीं है।

534. मेरे बन्धु न्या० अहमदी द्वारा डूपोर्ट स्टील्स लिमिटेड बनाम सर्स और अन्य वाले मामले से लार्ड डीपलाक के कथन को उनकी राय में उद्धृत किया है। वह कथन जिस विषय पर हम बोल रहे हैं उसके मार्गदर्शन के लिए पूर्णतया उपयुक्त प्रतीत होता है। स्पष्टतः विचारण का ऐसा कोई सिद्धांत नहीं है जो यह सुझाव देने के लिए अनुच्छेद 124(2) के स्पष्ट और सरल शब्दों में कोई अतिरिक्त शब्द/अर्थ समझना न्यायोचित ठहराता हो कि भारत का मुख्य न्यायमूर्ति जैसा कि इसमें विहित किया गया है, केवल सांकेतिक अर्थ में न्यायपालिका का प्रतिनिधित्व करता है। यह नहीं कहा जा सकता कि मुख्य न्यायमूर्ति मठ-विषयक आदेश का नेतृत्व करता है। कोई भी व्यक्ति उसे उस भूमिका से वंचित नहीं कर सकता जिसके लिए वह सांविधानिकतः हकदार है। इसी प्रकार मेरे लिए इस उपबंध के उस अर्थान्वयन से सहमत होना कठिन है कि उसके द्वारा लाया गया प्रस्ताव या उच्च न्यायालय नियुक्ति से संबंधित प्रस्ताव जो उसके माध्यम से पारित होता है, जब कार्यपालिका द्वारा अनुमोदन कर दिया जाता है, उसकी प्रधानता की अभिपुष्टि के रूप में है। बजाए इसके मैं

1993(10) eILR(PAT) SC 1

धर्मग्रन्थ सम्मत विचार को स्वीकार करूंगा कि जब एक कहता है और दूसरा उससे सहमत होता है, तो दोनों बुद्धिमान माने जाते हैं।

535. उच्च न्यायालय की नियुक्तियां करने के लिए उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति की तुलना में उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति की भूमिका के संबंध में, मैं सम्मिलित होने के लिए उनके दृष्टिकोण का समर्थन करूंगा क्योंकि उस पर न्यायपालिका कुटुम्ब का अनुशासन निर्भर करता है। जैसा कि बताया गया है उच्च न्यायालय की नियुक्तियां स्थानीय कार्यकलाप या राज्य से संबंधित विषय नहीं हैं। किसी समय स्थानीय कार्यकलाप अव्यवस्थित और दुरुह प्रतीत हो सकता है, जो सही नियुक्तियों के प्रकट होने के संबंध में निश्चायक नहीं हो सकता। जैसा कि इसके पूर्व कहा गया है, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की न्यायपालिका की प्रतिष्ठा बनाए रखने और उसे अनुरक्षित रखने की व्यापक भूमिका है, क्योंकि उसे प्रत्येक उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति करने तथा एक उच्च न्यायालय से दूसरे उच्च न्यायालय में न्यायाधीशों के स्थानान्तरण करने के विषय में भी अधिकार है। इन स्थानान्तरणों के लिए आधार होना आवश्यक है। जब तक कि सांविधानिक स्कीम के अधीन वह उच्च न्यायालयों के कार्यकलापों का निरीक्षण करने के लिए बाध्य नहीं है तब तक स्थानांतरण के विषय में उसकी भूमिका प्रयोजन पूर्ण भागीदारी विषयक नहीं हो सकती है। उस श्रेणीबद्ध सीमित अर्थ में, मेरे मतानुसार प्रस्ताव के संबंध में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की आवाज को अवधारक तथ्य होना चाहिए क्या इसमें अन्तर भले ही अप्रत्याशित होना चाहिए। नियुक्ति के संबंध में उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति का दृष्टिकोण विशुद्ध और प्रधान है और वह प्रवर्तक होने के कारण साधारणतः अत्यधिक सुविधा के लिए हकदार होगा किन्तु क्या भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के दृष्टिकोण के संबंध में कभी भी कोई अन्तर होना चाहिए, पश्चात् कथित (भारत का मुख्य न्यायमूर्ति) के दृष्टिकोण को पथ-प्रदर्शक बनने दिया जाना चाहिए। इसके लिए सांविधानिक स्कीम में कभी भी यह नहीं कहा जा सकता है कि देश में उतनी न्यायपालिकाएं हैं जितने उच्चतम न्यायालय हैं, उच्चतम न्यायालय सर्वथा दूसरा है। राजनैतिक व्यवस्था के खण्ड के रूप में न्यायपालिका पूर्ण है, जिसका गठन इसके पूर्व और पूर्वगामी पैरा में और विनिर्दिष्ट भूमिका आबन्टित करके सुझाई गई रीति में संविधान के अधीन श्रेणियों में विभक्त करके किया गया है।

536. एक उच्च न्यायालय से दूसरे उच्च न्यायालय में न्यायाधीशों का स्थानांतरण न्यायपालिका का लगभग आंतरिक कार्यकलाप है। इस संबंध में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की भूमिका मुख्य है क्योंकि यह विषय न्यायिक कुटुम्ब के अधीन है इसलिए न्यायपालिका की इस विषय में समान उक्ति नहीं हो सकती है। यहां शब्द "परामर्श" सिकुड़ कर छोटा हो जाएगा। क्या कार्यपालिका की समान भूमिका हो सकती है और अनेक प्रस्तावों में भिन्नता होने के कारण न्यायपालिका में अननुशासन पैदा हो सकता है। उदाहरण के लिए उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा की गई सिफारिश का मामला ले लेने जिससे भारत के मुख्य न्यायमूर्ति सहमत नहीं हैं और कार्यपालिका उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति की राय को अधिमान देते हुए नियुक्ति करती है और भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा उस न्यायाधीश को अन्य उच्च न्यायालय में स्थानांतरित करने की सिफारिश की जाती है। प्रथम प्रक्रम पर उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति की राय को भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय पर अधिमान देते हुए, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की राय की प्रधानता जो सांविधानिकतः अवेक्षित

उसकी प्रास्थिति, रैंक और अग्रता पर आधारित है, समाप्त हो जाती है, और दूसरे प्रक्रम पर उस न्यायाधीश की दूसरे उच्च न्यायालय में स्थानांतरण की सिफारिश प्रस्ताव को संदेहयुक्त बनाती है। यह प्रकटतः अनुशासनहीनता की उत्पत्ति का आधार है। इसलिए उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति के विषय में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की भूमिका तथा उनका स्थानांतरण एक दूसरे से संबंधित विषय हैं जिन्हें उनके पृथक् घटना होने की संभावना के तथ्य मात्र पर पृथक् नहीं किया जा सकता है। इस युग्म (दोहरे) विषय में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की भूमिका को एक ही दृष्टिकोण से देखना होगा, अर्थात् भारत की जनता के हित में न्यायपालिका की स्वतंत्रता को बनाए रखने के लिए।

537. इस प्रकार प्रधानता के प्रश्न पर अंत में मैं यह निष्कर्ष निकालता हूं कि उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्तियों के विषय में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की भूमिका बेजोड़ एकल और प्रधान है किंतु मैत्री और पारस्परिकता के स्तर पर कार्यपालिका के मुकाबले भागीदारी विषयक है और न तो वह और न ही कार्यपालिका अन्य व्यक्तियों की इच्छा के अल्पीकरण में (अनादर करते हुए) नियुक्ति को पूरा कर सकती है। **एस० पी० गुप्ता**[1] वाले मामले को उस सीमा तक मुख्य न्यायमूर्ति की प्रधानता को प्रत्यावर्तित करते हुए इसके द्वारा स्पष्ट करने की आवश्यकता है और स्पष्ट किया जाता है। उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्तियों के विषय में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति और उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति की भूमिका इस सीमा तक सापेक्ष (प्रासंगिक) है कि क्या भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को इस प्रस्ताव से असहमत होना चाहिए, कार्यपालिका नियुक्त करने के लिए भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के दृष्टिकोण से अधिक उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति के दृष्टिकोण को अधिमान नहीं दे सकती। एक उच्च न्यायालय से दूसरे उच्च न्यायालय में न्यायाधीशों के स्थानांतरण के विषय में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की भूमिका प्रमुख है और कार्यपालिका की भूमिका अल्प है यदि इस विषय में नकारात्मक उत्तर नहीं दिया जाता है क्यों संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन परिकल्पित परामर्श का प्रयोग संकुचित रूप में और शिष्टाचार में अधिक किया जाता है क्योंकि यह विषय न्यायपालिका के कार्यकरण से संबंधित है।

538. मैं संकेतिक रूप में संविधान की संपूर्ण रूप रेखा में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की भूमिका समनुदेशित करने के लिए वस्तुतः संविधान के पुनः लेखबद्ध किए जाने में बहुसंख्यक के दृष्टिकोण के साथ तथा उसके सम्पूर्ण न्यायपालिका के संबंध में कल्पित दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करने वाले मात्र वक्ता के रूप में होने के संबंध में बहुमत के दृष्टिकोण से यद्यपि खेदपूर्वक किन्तु ससम्मान असहमति व्यक्त करता हूं। मैं इसी प्रकार निर्वचनात्मक प्रयोग द्वारा संविधान में शब्दों को जोड़कर सृजित सम्पूर्ण न्यायपालिका का प्रतिनिधित्व करने वाले अल्प तन्त्र के हाथों में धारित शक्तियों के सृजन और निहित किए जाने में भी, जिससे कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की एकल आवाज को हमेशा के लिए खामोश किया जा सके, विसम्मति व्यक्त करता हूं। मैं इस धारणा पर संबंधित विषय पर न्यायिक पुनर्विलोकन से इंकार किए जाने की बाबत भी विसम्मति प्रकट करता हूं कि यह न्यायपालिका का कार्य होगा, क्योंकि यह संविधान के मूल ढांचे के विरुद्ध है। ऊपर व्यक्त किए गए दृष्टिकोणों के

[1] **[1982] 2 एस० सी० आर० 365.**

1993(10) eILR(PAT) SC 1

अधीन रहते हुए मैं कुल मिलाकर अपने बंधु न्यायमूर्ति अहमदी की राय से ससम्मान सहमति व्यक्त करता हूं। अनिवार्यतः और प्रसंगवश मेरे द्वारा ऊपर व्यक्त किए गए दृष्टिकोण के सिवाय, मैं विद्वान बंधु न्या० पांडियन और कुलदीप सिंह के दृष्टिकोण से ससम्मान विसम्मति व्यक्त करता हूं क्योंकि उन्होंने बहुमत के दृष्टिकोण का समर्थन किया है सिवाय जहां उनके दृष्टिकोण मेरे और मेरे बंधु न्या० अहमदी के दृष्टिकोण के संगत है।

539. चूंकि न तो निर्देश करने वाले न्यायपीठ के समक्ष और न ही अभिवचन में उच्चतर न्यायपालिका में सेवा न्यायशास्त्र के प्रवर्तन और उसका लागू किए जाने के संबंध में अधिष्ठापन की बाबत कोई मुद्दा उठाया गया था और न ही युक्तियुक्त प्रत्याशा की संकल्पना की बाबत कोई मुद्दा उठाया गया था इसलिए मैं इन प्रश्नों पर विचार करना आवश्यक नहीं समझता। यह भी उल्लेखनीय है कि इन विषयों पर, जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है, हमारे समक्ष कोई भी बात नहीं उठाई गई थी। जैसा कि प्रारंभ में ही उल्लेख किया जा चुका है हमें परस्पर चर्चा का लाभ भी प्राप्त नहीं हुआ जिसकी इन पहलुओं पर विचार करने के लिए वांछनीयता आवश्यक थी। बहुमत ने हाजिर होने वाले काउन्सेल को और संबधित अन्य व्यक्तियों को चेतावनी दिए बिना, इस पर मत व्यक्त किया है। बहुमत के ऐसे दृष्टिकोण कें विरुद्ध बहुत कुछ कहा जा सकता है किन्तु वर्तमान में इस आलोचना को आरक्षित रखा जाता है। मैं इस विषय पर अपनी दृढ़ धारणा प्रकट नहीं करना चाहूंगा तथा इसे सलाह के रूप में बनाए रखना चाहूंगा। इसलिए मेरे मतानुसार इस पहलू पर यह मत इतर उक्ति हैं। इन मुद्दों पर विचारणा निर्देश के कठोर निबंधनों पर पूर्णतया अनावश्यक थी। ऐसे दृष्टिकोण के लिए मैं बहुमत के साथ ससम्मान, असहमत हूं।

540. न्यायाधीशों की संख्या के औचित्य के प्रश्न पर मुझे कुछ भी उपयोगी बातें नहीं कहनी हैं।

541. इस मत से पृथक् होते हुए मैं व्यक्तियों की विशिष्ट मंडली के प्रति अपनी कृतज्ञता अभिलिखित करने के लिए मैं अपने विद्वान बंधु न्यायमूर्तियों के साथ हूं, जिसने इस प्रक्रम पर न्यायालय में हमें संबोधित किया है। इसे श्रम स्नेह कहना उपयुक्त होगा तथा जिसने अपने व्यक्तिगत कौशल, विश्लेषण और प्रज्ञा से संबंधित विषय पर हमें जानकारी दी है।

542. मैं सन्देहवाद की टिप्पणी छोड़ते हुए कि क्या यह उपयुक्त था, इस निर्देश के निपटारे से सहमत हूं ?

प्र०/ऋ०/न०/जु०/मह०/अ०/ला०